श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला - ३४



श्रीमत्परमहंसश्रीनृसिंहाश्रमस्वामिकृतः

वेदान्ततत्त्वविवेकः

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ
श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरि जी
महाराज महामण्डलेश्वर की आज्ञा से
स्वयंप्रकाश गिरि द्वारा
अनूदित

प्रकाशक
श्री दक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन, वाराणसी

प्रकाशक
श्री दक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन
डी ४९/९, मिश्र पोखरा
वाराणसी-२२१ ०१०
फोन नं. : ३५०६५४

प्रथम संस्करण
शंकराब्द : १२०६
वैक्रमाब्द : २०५४
खैष्टाब्द १९९७

मूल्य : १२५.०० (रुपये एक सौ पच्चीस मात्र)

अक्षर संयोजन
जौहरी प्रोसेस
जंगमवाड़ी—वाराणसी
मुद्रक
मानस टाइपसैटर
४६४८/१, २१ दरियागंज,
नई दिल्ली-११०००२
फोन : ३२८८६१९

—: विषय सूची :—

श्रीदक्षिणामूर्तये नम:

भूमिका

अद्वैत वेदान्त के इतिहास में चौदहवीं से सोलहवीं सदी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रही है। वेदान्तकौमुदीकार रामाद्वय, विद्यारण्य, नृसिंहाश्रम, अप्पयदीक्षित प्रकाशानंद, मधुसूदन सरस्वती आदि इसी काल की उपज हैं। ऐसा लगता है कि तेरहवीं शताब्दी में प्रकाशात्मश्रीचरणों के आधार पर अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने जो प्रकटार्थविवरण व विमुक्तात्मपाद ने इष्टसिद्धि में वेदान्तप्रक्रिया को विस्तृत किया उसके गंभीर परिणाम अगली शताब्दियों में प्रस्फुटित हुये। श्रीहर्ष व चित्सुखाचार्य ने वादप्रस्थान को प्रफुल्लित किया जिससे इस विस्तार को समधिक मदद मिली। श्री स्वामी *नृसिंह आश्रम* का इस पन्द्रहवी-सोलहवी शताब्दी के योगदान में प्रधान हाथ रहा। ये स्वामी जगन्नाथ आश्रम के दीक्षित शिष्य थे। स्वामी गीर्वाणेन्द्र सरस्वती से भी इन्होंने अध्ययन किया था। इनके दीक्षाशिष्य स्वामी नारायण आश्रम थे जिन्होंने इनके भेदधिक्कार पर प्रौढ टीका लिखी है। अप्पय दीक्षित को भी इन्हींने ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य पर लिखने की प्रेरणा दी। संभवत: वे भामती प्रस्थान का भी संरक्षण चाहते थे, यद्यपि वे स्वयं विवरण के अनुयायी थे। परन्तु परिमल के परिशीलन करने वाले इस बात को समझ लेते हैं कि परिमलकार का झुकाव विवरण प्रस्थान की ओर ही है, जो कि नृसिंहाश्रम से प्रभावित लेखक के लिये स्वाभाविक है। परवर्त्ती काल में आभोग नाम की टीका के द्वारा कल्पतरु का पक्ष पुष्ट करने का प्रयास अवश्य हुआ है, परन्तु परिमलकार के सामने यह फीका ही रहता है।

श्री परमहंस स्वामी नृसिंहाश्रम ने अनेक ग्रंथों का निर्माण किया। अद्वैतदीपिका, अद्वैतपञ्चरत्न, अद्वैतबोधदीपिका, अद्वैतवाद, भेदधिक्कार, वाचारंभणम्, वेदान्ततत्त्व-विवेक, आदि उनके मौलिक ग्रंथ हैं। इन्होंने सर्वज्ञात्म महामुनि के संक्षेपशारीरक पर अतिविस्तृत व्याख्या उपस्थित की है जो ग्रंथ का न केवल रहस्योद्घाटन करती है वरन् अनेक विषयों पर नवीन प्रकाश भी डालती है। संस्कृतविश्वविद्यालय वाराणसी से यह पाँच खण्डों में प्रकाशित हुई है। पंचपादिका पर तत्त्वबोधिनी एवं पंचपादिकाविवरण पर प्रकाशिका भी इनके व्याख्या ग्रंथ हैं। इस प्रकार अपने समय के अत्यन्त प्रतिष्ठित वेदान्त सम्प्रदाय के रत्नों में ये अमूल्य हैं। इनकी ब्रह्मनिष्ठा इनके ग्रंथों में से झाँकती रहती है। इनके ग्रंथों में जीव व ईश्वर की एकता तथा जगत्प्रपंच के मिथ्यात्व पर ही अधिक जोर होता है। माया के स्वरूप व उपादानकारणता तथा उसका विस्तार इनका प्रयोजन नहीं है। वेदान्त की मूल अवधारणा में ये ही दो मुख्य गवेषणा के विषय हैं। बाकी तो दार्शनिकता का विकास अन्य वादियों द्वारा प्रक्रिया-निर्माण पर जोर देने की प्रतिक्रियारूप से हुआ है।

प्रस्तुत ग्रंथ पर स्वयं ग्रंथकारकृत दीपन एवं उस पर पूरणी आदि व्याख्या यें हैं। पूरणी व दीपन सहित यह महीशूर से प्रकाशित है। अनुवाद में दीपन का तो प्रायः संग्रह हो गया है, परन्तु दीपनव्याख्या से भी उपादेयांश अनुवादक ने उपस्थापित कर ही दिया है। अनेक स्थलों का स्पष्टीकरण अनुवादक ने अपनी ओर से करके अनुवाद को स्वयं में एक पूर्ण ग्रंथ बना दिया है। एक दीपनव्याख्या भट्टोजी द्वारा भी निर्मित है। अनुवाद का *तत्त्वसुधा* नामकरण योगरूढ ही विवक्षित है। जैसे पृ० ५ पर विवरण एवं आश्रमस्वामी के मत का समन्वय किया है कि दोनों पक्ष भिन्न साधकों के लिये वैकल्पिक हैं। पृ० १० पर शम व दम तथा समाधान का भी विशेष अर्थ द्रष्टव्य है। संशय व निश्चय पर भी वेदान्ततत्त्वविवेक में विस्तृत प्रकाश डाला है। संशय की निवृत्ति करने वाला ही उनके मत में निश्चय है। अतः अपरोक्षानुभव होने पर भी किसी भी कारण से संशय होने पर उसे निवृत्त नहीं किया जा सकता तो उसे निश्चय ज्ञान नहीं कह सकते एवं निश्चय ज्ञान ही अज्ञानध्वंस कर सकता है। महावाक्यों से उत्पन्न अपरोक्ष ज्ञान को निश्चय ज्ञान बनाने में वाक्यमीमांसा व युक्ति अपेक्षित है। इसी को असंभावना व विपरीतभावना की निवृत्ति भी कहा जाता है। इस विचार में पृ० १७ पर अनुवादक ने पूरणी टीका के हृदय को अवगत कर उसके विवेक के कटाक्ष का सुन्दर निराकरण किया है। अनिश्चय व संशय का भेद यहाँ स्पष्ट किया गया है।

साधक को परमहंस बनना अपेक्षित है। परमहंस-धर्मों का भाष्यकार ने जो शमदमादि के सहित श्रवण, मनन रूप ब्रह्मसंस्थतामात्र में संग्रह किया है उसे स्पष्ट रूप से यहाँ प्रतिपादित किया है, यहाँ भी अनुवादक ने पूरणी टीका का समन्वय किया है, द्रष्टव्य पृ० २४। प्रायः संन्यास को दृष्ट कारण माना जाता है, परन्तु आश्रमस्वामी तथा अनेक अन्य आचार्यों के मत में यह दृष्टादृष्ट कारण है। आतुरसंन्यास का विधान इनकी दृष्टि में ज्ञान का उपकारी है। अन्य साम्प्रदायिक आचार्यों ने आपत्संन्यास को ब्रह्मलोक की प्राप्ति का साधन माना है।

आश्रमस्वामी स्वयं ही प्रस्तुत ग्रंथ को विचाररूप मानते हैं। अर्थात् गुरुमुख से सिद्धान्तश्रवण के बाद ही इसकी उपादेयता है। सर्वप्रथम ख्यातिविचार को उपस्थापित किया गया है। तदनन्तर मिथ्या का विचार किया है। पृ० ४१ पर रत्नप्रभा, विवरण आदि से अनुवादक ने यहाँ सार ग्रहण कर उपस्थित किया है। अन्ततः आश्रम स्वामी ने स्वीकार है कि मिथ्यात्वेन स्वीकृत का अनधिकरण जिसका अनधिकरण हो ऐसा अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व मिथ्यात्व है। विषमसत्ता में भाव और अभाव की एकाधिकरणता का अविरोध सभी को स्वीकारना पड़ता है। ऐसे मिथ्यात्व में प्रत्यक्षादि सभी प्रमाण उपस्थित किये हैं। परोक्ष भ्रम में मिथ्यार्थ है या नहीं इस पर

पूरणीटीका का विचार व अद्वैतसिद्धिकार का विचार अनुवादक ने उपस्थापित किया है। अहङ्कार व आत्मा को अलग सिद्ध करने में नवीन युक्तियाँ आश्रम स्वामी ने दी हैं। अनुवादक ने भी यहाँ विशेष प्रकाश डाला है। पृ० ६१ प्रभृति में उल्लिखित विचार अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होंगे। पृ० ६७ पर वृत्तिज्ञान की आवश्यकता पर भी प्रकाश डाला गया है : अनुगत कारण रूप से इसकी आवश्यकता सिद्ध की गई है। आत्मविषयक व अनात्मविषयक दोनों अविद्या का निवर्त्तक वृत्ति ज्ञान है। श्रुति तो इसमें प्रमाण है ही। वृत्ति पर इतना विस्तृत विवेचन अन्यत्र दुर्लभ ही है। इस विवेचन के रहते सुरेन्द्रनाथ दासगुप्ता का आश्रम स्वामी पर किया हुआ यह आक्षेप सर्वथा अनुचित है कि अहंकार व आत्मा का भेद सिद्ध नहीं कर पाने से श्रुतिमात्र पर आधारित इसे स्वीकारा है। प्रत्यक्ष तो यहाँ संगत नहीं परन्तु अन्य प्रमाणों को तो पुष्कलरूप से निरूपित किया गया है। आधुनिक अनेक विद्वान् पूर्वाग्रहों से ग्रस्त होकर साम्प्रदायिक आचार्यों पर निरर्गल आक्षेप कर के सामान्य जनता में भ्रांति फैलाते हैं यह दुःख का विषय है।

आत्मा व अनुभव एक ही है क्योंकि इनका भेद प्रमाणसिद्ध नहीं है। 'मुझे ज्ञान है' में तो ज्ञान का अर्थ वृत्ति ज्ञान है। आत्मा ज्ञान का आश्रय नहीं इस पर भी विचार किया गया है जिसमें वैशेषिक पक्ष का उन्मूलन है। इस जगह (पृ० ९१) वेदान्त के तादात्म्य का भी स्पष्ट निरूपण है। पृ० ९६ में बताया गया है कि ''मैं दुःखी'' ऐसी अनुभूतिकाल में भी मैं की प्रेमास्पदता नहीं हटती। प्रेमास्पदता ही तो सुखविषयता है। अन्यथा दुःखनिवृत्ति का प्रयत्न ही नहीं किया जाता। अतः आत्मा स्वयं नित्य सुखरूप ही सिद्ध होता है। वृत्तिसुख व सुखरूपता का भेद भी वैसा ही है जैसा वृत्ति ज्ञान व ज्ञानरूपता का। एकजीववाद पर भी विचार किया गया है तथा अनेक जीववाद को भी उपपन्न किया है। इस प्रकार आश्रम स्वामी भी सामंजस्य वादी आचार्य ही हैं। पृ० १३१-१३५ में शास्त्रोक्त मुक्तों को श्रीकृष्ण की तरह मुक्ति लीलामात्र करने वाला बताया है। वस्तुतः वे ईश्वर ही होने से नित्यमुक्त हैं।

अनुवादक ने साक्षी वृत्ति के बिना जानता है या वृत्ति से — इस विषय में तत्त्वदीपन, सिद्धान्तबिन्दु, रत्नावली आदि से आश्रमस्वामी के मत को सुस्पष्ट किया है जबकि विवेक में केचित्तु कहकर संकेत मात्र दिया है। ऐसे स्थलों में मतभेदों की गवेषणा उपयोगी होती है यह थोड़े ही लोग समझ पाते हैं। इसी प्रकार आश्रय व विषय ब्रह्म ही अज्ञान का है इस बात पर आश्रम स्वामी का सर्वशः संक्षेपशारीरक का अनुगम भी प्रतिपद अनुवादक ने दिखाया है (पृ० १५२ प्रभृति)। इस प्रकार इस सानुवाद ग्रंथ के अनुसन्धान से अनेकशः प्रकीर्ण ग्रंथान्तरों का भी अनुसन्धान पाठकों को हो जायगा यह निःसन्दिग्ध है।

द्वितीय परिच्छेद में तत्त्वमसि का विचार ही प्रधान है। प्रथम परिच्छेद जैसे प्रधानत: मिथ्यात्वविचार है, वैसे ही यहाँ सत्य का विचार प्रधान है। प्रायश: वेदान्तग्रन्थ ब्रह्मसूत्र का अनुसरण करके चार अध्यायों में विभक्त किये जाते हैं। परन्तु आश्रमस्वामी ने नवीन ढंग अपना कर बन्धन व मोक्ष दो प्रक्रियाओं को आधार मानकर दो परिच्छेद ही बनाये हैं। प्रथम तो तत् पदार्थ का विचार उपस्थापित किया है क्योंकि साधना व फल अन्त में बताना है जो त्वं-पदार्थ के निरूपण में संगत होगा। *तत्त्वमसि* में तत् शब्दत: भी प्रथम उपस्थित होता है। सर्वप्रथम बृहत्ता का विचार किया है। इसमें प्रमाण श्रुति है अथ च आत्मभिन्न होने पर स्वप्रकाश भी नहीं होगा ऐसा अनुवादक ने स्पष्ट किया है (पृ० १६५)। जीव जिज्ञास्य नहीं है, ब्रह्म ही जिज्ञास्य है इसका विस्तृत निरूपण किया है। अत: अनेक आधुनिक विचारकों का जीवकेन्द्रित वेदान्त इससे परास्त होता है। ब्रह्म से अतिरिक्त कोई भी कारण संसार का नहीं सिद्ध हो सकता। पृ० १९० पर अनुवादक ने परोक्षस्थल में वृत्ति के विषय में सूक्ष्म विचार किया है जो मननीय है। इसी प्रकार पृ० १९४ में उपलक्षण के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुये अनुवाद में वेदान्त के अनेक साम्प्रदायिक आचार्यों को एक ही स्थल में एकत्र कर दिया है।

शब्द से ही अपरोक्ष ग्रंथकार को स्वीकृत है। भेदभ्रम को निवृत्त शब्द ही करता है। स्वरूप तो नित्य संवित् है ही। यह अविद्यानिवृत्ति आत्मरूप होने से मोक्ष में अज्ञाननिवृत्ति व ब्रह्म इस प्रकार भाव व आभावरूप से भी द्वैत नहीं है। आत्मा नित्य होने पर भी अज्ञाननिवृत्ति के लिये साधना सार्थक है।

इस प्रकार यह ग्रंथ संक्षेप में मुख्य विषयों का विवेचन करने में समर्थ होने से प्रकरण ग्रंथरूप में मान्य है। साधन के विषय में तथा सगुण के विषय में यह अत्यन्त संक्षिप्त होने पर भी मिथ्यात्वनिरूपण में विलक्षण है। हमें पूर्ण आशा है कि परमहंस स्वयम्प्रकाशगिरि का यह अनुवाद संस्कृतज्ञों को भी उपकृत करेगा। भगवान् विश्वनाथ उन्हें स्वस्थ दीर्घ जीवन देकर वेदान्त की निष्ठा पूर्वक सेवा करवावें, जो वर्तमान में परमहंससम्प्रदाय में दुर्लभ होती जा रही है।

दिल्ली — भगवत्पादीय

मेषसंक्रमण २०५५ विक्रमाब्द — *महेशानंद गिरि*

ॐ

श्रीदक्षिणामूर्तये नमः

वेदान्ततत्त्वविवेकः

प्रथमः परिच्छेदः

मङ्गलाचरणम्

विश्वस्य योनिं विश्वेशं विज्ञानानन्दविग्रहम्।
नरकेसरिणं वन्दे प्रत्यञ्चं पुरुषोत्तमम्॥ १॥

साक्षात्कृतब्रह्मभासा प्रहसन्मुखपङ्कजम्।
महीयांसमहं वन्दे गरीयांसं जगत्पतिम्॥ २॥

गुरुणा करुणापूर्वमुपदिष्टाऽद्वयात्मनः।
कुर्वे *तत्त्वविवेकं* तं वीक्षतां नरकेसरी॥ ३॥

हिन्दी अर्थ

उमाधवं समाश्रित्याऽनुसृत्य भगवत्पदम्।
श्रीगुरोश्चरणद्वन्द्वं प्रणम्य द्वन्द्वहानये॥

श्रीमत्तत्त्वविवेकस्याऽक्षरार्थैकप्रयोजनः।
नारसिंहकृपापात्रः कुर्वे *तत्त्वसुधां* शुभाम्॥

जो समस्त जगत् के उपादान कारण और सारे प्रपंच के कर्त्ता हैं, जिनका स्वरूप विज्ञान व आनन्द है, जो सभी पुरुषों से उत्तम परमात्मा हैं और अहङ्कार के भी साक्षी होने से निकटतम हैं उन श्रीनृसिंह की मैं वन्दना करता हूँ॥१॥

जिसे अप्रतिबद्ध तत्त्वज्ञान से अनावृत किया उस आनन्दरूप ब्रह्म की रसरूप आभा से जिनका मुख कमल मुस्कराता व देदीप्यमान रहता है, श्री जगन्नाथ आश्रम नामक उन महान् गुरुदेव की मैं वन्दना करता हूँ॥ २॥

केवल करुणा के कारण जिस अद्वितीय आत्मा का श्रीगुरु ने उपदेश दिया उस पर मननरूप यह तत्त्वविवेक नामक प्रकरण रच रहा हूँ। भगवान् नृसिंह इस पर कृपादृष्टि रखें॥३॥

कर्म चित्तशोधकम्

इह खलु कश्चित् कुतश्चिद् भाग्योदयाद् निर्व्यलीकं नित्यादिभिराराधिताराध्यपादभगवदनुग्रहवशाद् अतिविमलमानसः स्वयमेवेत्थं जगत्तत्त्वमालोचयति।

कर्मणां चित्तशोधकत्वे शङ्का

ननु कर्मणां स्वतन्त्रफलसाधनानां कथं मनोवैमल्यहेतुत्वम्, तथा च संस्कारकर्मतापत्तिरिति चेत् ?

समाधानम्

न तावदर्थविरोधः, नित्यादीनां पापनिवर्तकस्वभावत्वात्। ब्रह्मज्ञानोपकारकत्वेऽपि गुणकर्मताऽनङ्गीकारेण 'कर्मणा पितृलोकः' (बृ. १. ५. १६) इति श्रुत्यवगतस्वतन्त्रफलसाधनत्वाऽविरोधाच्च।

जिसने इस दुर्लभ मानव योनि में आकर सौभाग्यवश किसी सत्प्रेरणादि हेतु से नित्यादि विहित कर्मों द्वारा उन परमेश्वर की आराधना की है जिनके पदारविन्द हमेशा पूजनीय हैं, उस पर जब भगवान् की कृपा होती है तब वह प्रसन्नतापूर्वक और निश्छल भाव से इस तरह संसार के स्वरूप पर विचार करता है। [विचार का प्रकार 'ननु जगत्तत्त्वम्' पृ. ७ आदि से स्वयं बतायेंगे।]

ईश्वराराधनबुद्धि का सहारा लिये बिना ही कर्म खुद जब विविध फलों के उपाय हैं तब वे मनकी निर्मलता में कारण क्योंकर बनेंगे? (स्वर्गादिफल के प्रति जो कारण हैं उन कर्मों से चित्तशुद्धिरूप विलक्षण कार्य नहीं हो सकता।) यदि नित्यादि कर्म मन:शुद्धि करने वाले हों तो उन्हे गुणकर्म मानना पड़ेगा जिससे वे फलान्तर के जनक नहीं हो पायेंगे; अत: उन्हे चित्तशुद्धि का हेतु कैसे कहा?

नित्य कर्मों को शुद्धिहेतु मानने पर उनकी सफलता स्वीकारना न्यायविरुद्ध नहीं है ('अर्थविरोध' में अर्थ का मतलब फल है) क्योंकि पाप निवृत्त करना नित्यादि कर्मों का स्वभाव है। (पितृलोकलाभ के लिये भी पापनिवृत्ति अनुकूल ही है अत: उन फलों में विनियुक्त होने पर भी

उक्तार्थे मानम्

नापि प्रमाणाऽभावः ; 'धर्मेण पापमपनुदति' (तै. ४. ५०) 'योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये' (गी. ५. ११) इत्यादिश्रुतिस्मृत्योः सत्त्वात्।

कर्मणां शोधकत्वे व्यवस्थान्तरम्

अथवा 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृ. ४. ४. २२) इति वाक्येन, 'खादिरं वीर्यकामस्य' (षड्विंश० ४. ४) इति नित्यमिव खादिरत्वं वीर्याय, अग्निहोत्रादयो ज्ञानाय विधीयन्ते।

पापनिवृत्तिरूप स्वाभाविक फल मानना संगत है।) द्वितीय प्रश्न का उत्तर है कि चित्तशुद्धिद्वारा ब्रह्मज्ञान में उपकारक मानने पर भी नित्यादि को गुणकर्म नहीं माना जाता अत: 'कर्म से पितृलोक मिलता है' इस श्रुति से जो पता चलता है कि नित्यादि कर्म बिना किसी सहारे के फलविशेष के उपाय हैं, उससे भी विरोध नहीं आता। (यदि प्रोक्षणादि की तरह नित्यादि को इसलिये गुणकर्म मानते कि वे ब्रह्मज्ञान में कारक बनने वाले मनमें समवेत किसी अतिशय के हेतु हैं तभी यह विरोध आ सकता था कि उनका स्वतंत्र फल असंगत होता।)

नित्यादि की चेतोविशोधकता अप्रामाणिक भी नहीं है क्योंकि इस बात को सिद्ध करने वाले श्रुति-स्मृति के वचन स्पष्ट हैं– 'धर्म से पाप हटा देता है' यह वेदवाक्य है तथा 'फलेच्छा छोड़कर योगी लोग कर्म करते हैं ताकि चित्त शुद्ध हो' यह व्यासोक्ति है।

(पूर्व व्यवस्थामें नित्यादि स्वभावत: शोधक हैं, उस शुद्धि को चाहे अलौकिक भोगों के लिये काम में लें चाहे ज्ञानप्राप्ति के लिये, यह कहा।) या यह भी समझना संगत है कि जैसे खैरकाष्ठ का यूप होना क्रतुसांगता के प्रयोजन वाला होने पर भी 'वीर्य-कामना वाले के लिये खैर का यूप स्थापित करना चाहिये' इस वाक्य के बल पर वही वीर्य प्रयोजन वाला भी स्वीकारा जाता है, उसी तरह 'वेदाध्ययन, यज्ञ दान और हित-मित-मेध्य भोजन करना रूप तप से ब्राह्मण पूर्वोक्त एवं प्रकृत आत्मा को जानना चाहते हैं' इस वाक्य से

प्रकरणान्तरन्यायविरोधशङ्का समाधिश्च

न च– व्यवहिताग्निहोत्रादयः प्रकरणान्तरन्यायेन (जै० २. ३. ११) यज्ञश्रुत्या परामष्टुं न शक्यन्ते– इति वाच्यम् ; आख्याताऽसमानाधिकरणस्य स्वातन्त्र्येण सुबन्तस्य व्यवहितपरामर्शित्वसम्भवात्। अन्यथा 'एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानाम्' ( ) इत्यत्रापि तन्न स्यात्।

वेदानुवचनादीनां समुच्चित्य साधनत्वम्

अत्र च – एकवाक्यगतत्वेन वेदानुवचनादिकम्।
समुच्चितं तथापीह फलैक्यान्नैककर्मकृत्।।

अग्निहोत्रादि नित्य कर्म ज्ञान के लिये भी विहित हैं। ('नित्यमिव' में नित्य का अर्थ है आवश्यक। तात्पर्य है कि विभिन्न विनियोजक प्रमाणों से विभिन्न फलों के प्रति उपायता मानना न्यायोचित है।)

'यज्ञेन' आदि श्रुति से अत्यन्त दूर प्रसंगान्तर में विहित अग्निहोत्रादि कर्मों का यज्ञ-शब्द से उल्लेख मानकर उनका फलान्तर में विनियोग संभव नहीं क्योंकि जैमिनि ने न्याय स्थापित किया है कि अप्रकृत-अभिधान होने पर कर्म अन्य होता है (अतः 'मासमग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य से प्रसिद्ध अग्निहोत्र की अपेक्षा कर्मान्तर का विधान है)। किन्तु यह बात कहना उचित नहीं (क्योंकि यहाँ उक्त न्याय का प्रसंग नहीं)। आख्यातशब्दों से (तिङन्त; साध्यावस्थकर्म के बोधक शब्दों से) जिनका अभेदान्वय सम्भव नहीं ऐसे सुबन्तशब्द (सिद्धार्थबोधक संज्ञादि शब्द) क्योंकि स्वतंत्र होते हैं इस लिये दूरस्थ प्रक्रान्त को उपस्थापित कर सकते हैं। ('विविदिषन्ति' से जो विधेयांश विविदिषा है उसका नाम यज्ञादि होते तो उससे परतन्त्र होकर प्रकरणान्तरीय यज्ञादि का परामर्श न कराते किंतु यज्ञादि शब्दों में ऐसा प्रवृत्तिनिमित्त है नहीं कि वे विविदिषा के नाम बनकर अन्वित हों अतः स्वतन्त्र हैं।) यदि ऐसा न हो तो 'यह (अग्निष्टोम) यज्ञों में पहला यज्ञ है' इस वाक्यमें 'यज्ञों में' शब्द से अग्निष्टोमातिरिक्त यज्ञों का परामर्श संभव नहीं होगा क्योंकि प्रकृत तो अग्निष्टोम ही है।

क्योंकि वेदानुवचन आदि एक वाक्य में स्थित हैं इसलिये ज्ञानादि प्रयोजन की सिद्धि में इनका समुच्चय है, फिर भी क्योंकि इनका (प्रत्येक का) फल एक ही है इसलिये समुच्चयवश ऐसा नहीं होता कि वे सब मिलकर एक ही कर्म हों। जैसे दर्शादिका फल एक होने पर भी दर्शादि प्रत्येक यागसमूह विभिन्न होते हैं क्योंकि उनके अनुष्ठान का अलगाव श्रुतिसिद्ध है, ऐसे ही ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य आदि विभिन्न कालों में अनुष्ठित वेदानुवचनादि का ज्ञानके लिये विधान है। [यहाँ समुच्चय का तात्पर्य है कि जन्म-जन्मान्तर में इन सभी का अनुष्ठान निष्काम होकर करने पर ही ज्ञान होता है। स्मर्तव्य है कि विवरणकार आदि ने वेदानुवचनादि का विकल्प स्वीकारा है कि इनमें से एक या अधिक का विविदिषार्थ अनुष्ठान ज्ञानोपयोगी है। दोनों मतों का समन्वय यह है कि यथाधिकार और यथासंभव दोनों का अवकाश है अर्थात् प्रत्येक के अनुष्ठान से भी इष्ट शुद्धि आदि द्वारा ज्ञान हो सकता है पर जिसे ऐसा न हो वह जितना हो सके उतने साधनान्तर भी अनुष्ठित कर ले।]

दर्शादिवत् फलैक्येऽपि प्रयोगस्य भिदा श्रुतेः।
भिन्नकालप्रयोगस्थमेवाऽत्राप्युपतिष्ठते।।

कर्मणां विविदिषायामेवोपयोगः

अपरे तु विविदिषा कर्मसाध्येत्याहुः। तदुक्तम्–
'यज्ञेनेत्यादिवाक्यं शतपथविहितं कर्मबृन्दं गृहीत्वा
स्वोत्पत्त्याप्रानसिद्धं पुरुषविविदिषामात्रसाध्ये युनक्ति ।।' (सं. शा. १. ६४) इति।

(पूर्व मत में यज्ञादि ज्ञानार्थ हैं।) अन्य आचार्य कहते हैं कि विविदिषा ही कर्मों से साध्य है। उनका मत समझाया गया है- शतपथब्राह्मण में आया 'यज्ञेन' आदि वाक्य कर्मसमूह को उद्देश्य कर उनका विधान सिर्फ ब्रह्मजिज्ञासारूप साध्य के लिये करता है, जिस जिज्ञासा का उल्लेख उसी वाक्य में है जिसमें कर्मों का विनियोग है। 'विविदिषन्ति'-इस आख्यातघटित शब्द द्वारा विविदिषा (जिज्ञासा) भी कही जा रही है अतः वह साध्य है यह समझ आता है। ('जानने की इच्छा करे' इस पद में अर्थतः जानना प्रधान होने पर भी शब्दतः इच्छा प्रधान होने से उसी के साधनरूप से यज्ञादि का अन्वय है। इच्छा की इच्छा भी भूख आदि स्थल में प्रसिद्ध ही है।)

तस्या अप्याख्यातान्तपदाभिधेयतया साध्यत्वावगमात्।

उक्तोपयोगे शङ्कासमाधाने

ननु मुक्तिसाधनस्य कथं विविदिषासम्बन्धः ? न कथञ्चित् ! कथं तर्हि कर्माणि विविदिषाहेतव इति ? शृणु– कर्मणां ब्रह्मात्मैक्येऽविद्या-निवृत्तौ वाऽसमर्थत्वेन चित्तशुद्धिद्वारा विविदिषायाम्, इष्यमाणज्ञाने वा श्रुत्यादिभिर्हेतुत्वावगमात्।

कर्माणि न मुक्तिहेतवः

प्रमाणाभावादपि न कर्मणां मुक्तिहेतुत्वम्, विविदिषावाक्यस्य उक्तविधया तत्राऽप्रमाणत्वात्। 'विद्यां चाऽविद्यां च' (ई. ११) इति वाक्यस्यापि शुद्धिमात्रहेतुत्वपरत्वात्। 'नान्यः पन्था' (श्वे. ३. ८) इत्यादिना प्रतिषेधाच्च।

(कर्म तो) मुक्ति के उपाय हैं, उनका जिज्ञासा से जनकतया सम्बंध कैसे? (मुक्ति का हेतु तो ज्ञान है, उसका जिज्ञासा से जनकतया सम्बंध) किसी भी तरह नहीं है! (ज्ञान जिज्ञासा का उत्पादक नहीं है।) तो यह कैसे कि कर्म जिज्ञासा के प्रति कारण बनते हैं? बताते हैं, सुनो – ब्रह्म व जीव की एकता कायम करने में या इस बारे में जो अज्ञान है उसे समाप्त करने में तो कर्म समर्थ हैं नहीं इसलिये श्रुति आदि से यही समझ आता है कि कर्म अन्तःकरण के निर्मली करण द्वारा जिज्ञासा के प्रति या अभिलषित ज्ञान के प्रति हेतु हैं अतः कर्म विविदिषाहेतु कहे जाते हैं।

कोई प्रमाण न होने से भी कर्म मोक्ष के प्रति साक्षात् कारण नहीं हैं। विविदिषा वाक्य का अर्थ पूर्वोक्त रीति से स्पष्ट हो जाने से वह यह नहीं बताता कि कर्म मोक्षसाधन हैं। 'जो विद्या और अविद्या को' आदि वाक्य का तात्पर्य भी अविद्यापदोक्त कर्मों को केवल शुद्धि का जनक बताने में है। 'मोक्ष के लिये और कोई रास्ता नहीं है' आदि वचनों से तत्त्वज्ञानातिरिक्त सभी का – अतः कर्म का भी–मोक्षहेतुत्व निषिद्ध होने से भी कर्म मुक्तिजनक नहीं हैं।

आरंभ में प्रतिज्ञा की थी कि साधक संसारस्वरूप पर विचार करता है; वह विचार क्या है ? बताते हैं – मनुष्यलोक से ब्रह्मलोक पर्यन्त होने वाले

साधकस्य जगत्तत्त्वालोचनम्

ननु 'जगत्तत्त्वमालोचयति' इत्युक्तम् ; किन्तत्? उच्यते – आ मनुष्याद् आ ब्रह्मलोकं पुण्यकार्यं 'कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः' (बृ. १.५.१६) इति श्रुतेः ; विद्या चात्र उपासना, सा च विहिततया कर्तृपरतन्त्रा क्रियैव, कर्तृकार्यं च सर्वमनित्यमेव, घटादिवत्, 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' (छां. ८.१.६) इति श्रुतेश्च।

आत्माऽऽनन्दः

आत्मा च नित्यो मोक्षवादिभिः सर्वैरभ्युपेयः। स च परमप्रेमास्पदत्वाद्, 'एषोऽस्य परम आनन्दः' (बृ. ४. ३. ३२) इति श्रुतेश्च आनन्दः।

उक्तार्थमाक्षिपति

नन्वेवं स्वयमेव कश्चिद् न्यायं श्रुत्यर्थं वा नानुसन्धत्ते, अन्यथा

सभी सुखभोग पुण्य के फल हैं क्योंकि वेद ने कहा है कि कर्म से पितृलोक और विद्या से देवलोक मिलता है। 'विद्या से' में विद्या का अर्थ उपासना है और वह विहित होने से स्वरूपलाभ में कर्ता के अधीन अतः क्रिया या पुण्य ही है (जिससे विद्याफल भी पुण्यकार्य ही है)। कर्ता से साधा जा सकने वाला सभी कुछ अस्थायी ही होता है जैसे घड़ा आदि। श्रुति भी दिव्यादि लोकों की क्षयिष्णुता बताती है 'जैसे यह प्रसिद्ध है कि क्रिया से संचित भोग क्षीण हो जाते हैं वैसे ही परलोक में पुण्य से अर्जित भोग समाप्त हो जाते हैं।'

और मोक्ष स्वीकारने वाले सभी को मानना पड़ता है कि आत्मा नित्य है, सनातन है। तथा आत्मा आनंद है क्योंकि निरवधि प्रेम का अकारण पात्र है और वेद ने भी कहा है 'अद्वैत आत्मा ही जीव के लिये निरपेक्ष आनन्द है'। (इस प्रकार नित्य–अनित्य वस्तुओं का विवेक सम्पन्न हुआ)

कोई व्यक्ति खुद ही इस प्रकार (प्रंपच की अनित्यता और आत्मा की परमार्थता के बारे में) युक्ति और वेदतात्पर्य का विचार नहीं किया करता; अगर यों विचार संभव हो तो ब्रह्म की अद्वितीयतादि के बारे में भी युक्ति व वेदार्थ

एवमितरोऽपि न्यायः श्रुत्यर्थश्च किमिति नानुसन्धीयेत? किञ्च 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' (आप. श्रौ. ८. १. १) इति चातुर्मास्यफलविशेषस्य अक्षय्यत्वश्रवणाच्च नैकान्ततः कर्मफलस्य अनित्यत्वमिति ?

समाधत्ते

मैवम्। पापशताकुलमानसस्य तव नैतत्प्रतिसन्धानमिति किं नीलगिरिशिखरशिरसि विद्योतमानतेजःपुञ्जस्य श्रीभगवतः श्रीनृसिंहस्य निःसीमकरुणाकटाक्षेक्षितस्य पुरुषधौरेयस्याऽपि तद् न सम्भवेत्! न वा येनैकं ज्ञायते तेनेतरदपि ज्ञातव्यम् इति नियमः। एवं सति धूमाग्निनियमविदा सर्वोऽपि नियमोऽवगत एवेति न तदर्थं वैशेषिकादिरारभ्येत।

कर्मफलानित्यतैव

कर्मफले चाऽक्षय्यत्वश्रुतिः विध्यनपेक्षितत्वात् पूर्णाहुत्या सर्वकामावाप्तिवचनवद् गुणार्थवाद एवेति न सा विशेषश्रुतिः। 'एवमेवाऽमुत्र

का विचार स्वयं ही क्यों न कर लेगा? (और स्वयं ही विचार संभव हो तो शारीरकीय मीमांसा का आरंभ असंगत होगा।) इतना ही नहीं, इस विचार में एक गलती भी है: 'चातुर्मास्य यज्ञ करने वाले का पुण्य ऐसा होता है जो क्षीण हो नहीं सकता' इत्यादि वचन से पता चलता है कि चातुर्मास्ययाग का जो खास फल है वह क्षयिष्णु नहीं है, जिससे यह सिद्ध होता है कि कर्मफल अनित्य ही हो ऐसा अनिवार्य नहीं।

उक्त आक्षेप अनुचित है। सैकड़ों पापों से जिसका चित्त चंचल बना रहता है ऐसे तुम वादी आदि को कथित विचार नहीं उठता तो क्या नीलाचल के मस्तक पर देदीप्यमान मूर्तिमज्ज्योतीरूप श्रीभगवान् श्रीनृसिंह ने असीम दयासे प्रेरित हो कटाक्षों से जिसे देख लिया है उस श्रेष्ठ साधक को भी वह विचार उठना संभव नहीं! और न यही नियम है कि जो एक बात समझता है उसे अन्य भी सब समझ लेना चाहिये (जिससे मीमांसा-आरंभ व्यर्थ हो)। यदि यह नियम हो तो धुएँ और आग की व्याप्ति जानने वाले को सभी व्याप्तियाँ पता चल जातीं और निर्दुष्ट व्याप्तिज्ञानादि के लिये वैशेषिकादि शास्त्र भी प्रारंभ न किया जाता।

पुण्ये' त्यादि तु श्रवणविध्यपेक्षितार्थतया स्वर्गार्थवादवद् भूतार्थवाद एवेति ततस्तत् सिद्ध्यति। यत्कृतकं तदनित्यमिति न्यायानुग्रहादपि इयं श्रुतिर्बलवती। ततःकर्मफलेभ्यो विरज्यते।

साधनारम्भे वैराग्योपपादनम्

ननु प्रथममेव वैराग्यसिद्धौ किं रंहतिपादारम्भेण? तस्य हि वैराग्यं फलं, 'तस्माज्जुगुप्सेत' (छा. ५. १०. ८) इति तत्सम्बन्धिश्रुतेः। इति चेद्? न हि तत्र अनित्यत्वकृतविवेककृतं वैराग्यं जुगुप्सावाक्यार्थः, किन्तु कर्मफलगत्यागतिविवेकफलम्। तच्चैतद्दार्ढ्यायेति न पुनरुक्तिः, वैयर्थ्यं वा। श्रुतिरपि प्रथमं वैराग्यं दर्शयति 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायाद्' (मुं. १. २. १२) इति।

कर्मफल को अक्षय बताने वाला वाक्य क्योंकि ऐसी बात कह रहा है जो (चातुर्मास्य की) विधि के लिये आवश्यक नहीं है इसीलिये उसी तरह गुणवाद (दीर्घकालिकतादि गुणसाम्य से प्रवृत्त कथन) है जैसे यह वाक्य कि पूर्णाहुति से सभी कामनायें पूरी हो जाती हैं (तै. ब्रा. ८. १०. १५), अतः अक्षय्यताकथन विशेषश्रुति नहीं है कि 'पुण्यचितो लोकः क्षीयते' इस सामान्यश्रुति का संकोच करे। 'वैसे ही परलोक में पुण्य से अर्जित भोग समाप्त हो जाते हैं' यह श्रुति ऐसा अर्थ बता रही है जो श्रवणविधि के लिये आवश्यक है (क्योंकि इसी के सहारे विवेक-वैराग्यादिसम्पन्न अधिकारी मिलेगा जो श्रवणविधि को अवश्य चाहिये) अतः यह श्रुति यथावस्थित अर्थ का कथन कर रही है जिससे कर्मफल की अनित्यता को यह वाक्य स्थापित कर देता है। 'जो क्रियाजन्य होता है वह अस्थायी होता है' इस लोकदृष्ट नियम से संवाद वाली होने के कारण भी कर्मफलानित्यताश्रुति बलीयसी है।

विषयों में अनित्यतारूप दोष समझ लेने से योग्य साधक कर्मलभ्य फलों के प्रति विरक्त हो जाता है।

यदि मीमांसा करने से पूर्व ही पूर्वोक्त विचार से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है तो शास्त्र में रंहतिपाद के (३. १) प्रारंभ का क्या प्रयोजन ? माना यह जाता है कि उस पाद का फल है वैराग्य क्योंकि उस पाद से सम्बंध रखने वाले

साधनान्तरप्रदर्शनम्

ततः शरीरेन्द्रियचेष्टाया मनोरथादिवृत्तेश्च निमित्ताऽभावात् चित्तेन्द्रिययोर्व्यापारोपरमरूपौ शमदमौ भवतः। ततस्तितिक्षादि। ततोऽविक्षिप्तचित्तो निरस्ताऽनर्थव्राताऽनतिशयाऽऽनन्दगलिताऽखिलभेदमात्मानं वेदान्तवाक्येभ्योऽवगत्य मुमुक्षुः 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै. २. १. १) 'तरति शोकमात्मवित्' (छां. ७. १. ३) इत्यादिश्रुत्यवष्टम्भेन जिज्ञासते।

वेदवाक्य में कहा है 'इसलिये घृणा करे'। अतः मीमांसा से पूर्व वैराग्य कैसे संगत है?

(उक्त आशंका असंगत है।) रंहतिपाद में यह नहीं निर्णय किया है कि 'घृणा करे' वाक्य का प्रयोजन वह वैराग्य है जो अनित्यता को दृष्टि में रखकर किये विवेक से प्राप्त होता है। तो क्या निर्णय किया है? कर्म के फलस्वरूप जो आवागमन है उसे दृष्टि में रख किये विवेक का फलभूत वैराग्य 'घृणा करे' वाक्य के प्रयोजन रूप से निर्णीत है। वह वैराग्य इस प्रारंभिक वैराग्य की दृढता ही करता है अतः ऐसा नहीं कि शास्त्रारंभ में अधिकारिविशेषण की जो सूचना दी है उसे ही रंहतिपाद में कहा हो ताकि पिष्टपेषण हो और न उस पाद की व्यर्थता ही है (क्योंकि कारणीभूत विवेक के विषयभेद से वैराग्य में भी विशेषता है और पूर्वसिद्ध वैराग्य की पुष्टतारूप प्रयोजन भी है)। वेद भी पहले ही – गुरु के पास जाने के पहले ही – वैराग्य का अवस्थान दिखाता है 'ब्राह्मण को चाहिये कि कर्म से संपाद्य विषयभोगों की परीक्षाकर वैराग्यसंपन्न बने (तब अकृतक की जानकारी के लिये श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण जाये)।'

वैराग्य के कारण शरीर-इन्द्रियों के प्रयत्नों का तथा मनोरथ आदि विषयलिप्सु वृत्तियों का निमित्त कामना न रह जाने से मानस चेष्टाओं की उपशान्ति रूप शम और इन्द्रिय प्रवृत्तियों का विरामरूप दम साधक में अभिव्यक्त होते हैं। [कुछ विद्वान् कहते हैं – वैराग्य के कारण जो मन पर विजय पायी जाती है वह शम है। जीते हुए मन में जो आत्मवस्तु को सही-सही समझने की योग्यता है वह दम है। उनके अनुसार इन्द्रियों की अचंचलता समाधान के अन्तर्गत समझी जा सकती है।] शम-दम के कारण द्वन्द्व-सहिष्णुतारूप

जिज्ञासायामाक्षेपः

ननु – किं जिज्ञासया? वेदान्तवाक्यादेवावगतत्वात्। न च साऽवगतिरापातरूपैव, न निश्चय इति वाच्यम्; निस्सामान्यविशेषब्रह्मबोधे सामान्यविषयतालक्षणाऽऽपाततायाअसम्भवात्। वेदवाक्यात् संशयाऽसम्भवात्। अपरोक्षे ब्रह्मणि परोक्षज्ञानासम्भवाच्च। तस्मात् प्रथमं ज्ञानं वेदान्तादुत्पन्नं चेद्, अपरोक्षनिर्णय एव; न चेद्, न मुमुक्षा जिज्ञासा वा, धर्मिज्ञानाभावाद् – इति चेत्?

तितिक्षा एवं गुरु-वेदांतवाक्यों पर अटूट विश्वास रूप श्रद्धा का लाभ होता है। 'शान्तः' इत्यादि वाक्य में (बृ० ४. ४. २३) कहे साधनों से (एवं च उपरति व समाधान से भी) सम्पन्न और मोक्षका अभिलाषी साधक निष्पक्ष व एकाग्र चित्त से वेदान्तवाक्यों द्वारा उस आत्मा को समझता है जिसमें अनर्थ (दुःख) के सभी समूह हमेशा अनुपस्थित हैं, जो ऐसा आनंद है जिससे अधिक कोई आनंद संभव नहीं और जिसमें स्वगत, सजातीय व विजातीय भेद असंभव है। यों आत्मा के बारे में जानकारी पाकर और 'ब्रह्मवेत्ता परम को पाता है', 'आत्मज्ञानी शोक सागर तर जाता है' इत्यादि श्रुति से यह निश्चय कर कि मोक्षका हेतु ज्ञान ही है, वह मोक्षार्थी जिज्ञासा करता है।

शंका होती है कि जब वेदान्तवाक्य पढ़ने से ही आत्मज्ञान हो जाता है तब जिज्ञासा अर्थात् श्रुतिसमन्वय एवं युक्ति-अविरोध के विचार की क्या ज़रूरत? यदि कहो 'पढ़ने से हुआ ज्ञान आपातबोध ही होता है, निश्चयात्मक नहीं,' तो वह कहना अनुचित है। [आपात से क्या यह विवक्षित है कि वह बोध १) ब्रह्म के सिर्फ सामान्यांश के बारे में है? या २) यह कि वह संशयरूप है? अथवा ३) यह कि वह परोक्ष है?] १) जिसमें सामान्यविशेषभाव नहीं ऐसे ब्रह्म के बोध को सामान्यविषयक होने से आपात कहना असंभव है। २) निश्चयजनक सामग्री रूप वेदवाक्य से संशयज्ञान होना भी संभव नहीं। ३) ब्रह्म के अपरोक्ष रहते उसके बारे में वेदजन्य अतः प्रमारूप ज्ञान परोक्ष हो यह भी असंभव है। इस तरह आपातता अनुपपन्न होने से वेदान्त पढ़कर मीमांसासे पूर्व ही ज्ञान यदि उत्पन्न होगा तो अपरोक्ष और अवधारणात्मक ही होगा; मीमांसा से पूर्व वेदांतों से अगर ज्ञान नहीं होगा तो न मोक्ष की इच्छा बनेगी और न

समाधानम्

सत्यम्; यद्यपि प्रथमं निर्विशेषब्रह्मसाक्षात्कारः शब्दाद् निष्पन्नः तथापि सोऽनवधारण एव, अग्रे संशयदर्शनात्।

निश्चयपदार्थे विकल्पाः

ननु एककोटिज्ञानमात्रं निश्चय एवेति न संशयः स्यादिति चेत्?

i) न तावद् निश्चयत्वं जातिः, चाक्षुषत्वादिना साङ्कर्यात्। त्वन्मते धर्मिज्ञाने तदभावप्रसङ्गाच्च।

ii) अत एव न संशयाऽन्यज्ञानत्वम्।

iii) नाऽपि संशयत्वाऽनधिकरणज्ञानत्वम्, धर्मिज्ञानस्य संशयाऽभिन्नत्वेन तदभावात्।

जिज्ञासा (मीमांसा) संभव होगी क्योंकि जिज्ञास्य की (विषय की) जानकारी के बिना जिज्ञासा नहीं हो सकती। हर हालत में वेदान्ताध्ययन से पृथक् मीमांसा (विचार) क्या प्रयोजन सिद्ध करेगी?

यह बात ठीक है कि वेदान्तवाक्यों से आत्मा की जानकारी मिल जाती है और हालाँकि मीमांसासे पूर्व वेदांतवाक्यों से हुआ बोध निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार (अपरोक्ष ज्ञान) होता है फिर भी अगले ही क्षण 'मैं ब्रह्म हूँ या नहीं' ऐसा संशय अनुभवमें आने से पता चलता है कि अमीमांसित ज्ञान अनिश्चयरूप ही है।

अमीमांसित ज्ञान अनिश्चय अर्थात् संशयरूप नहीं हो सकता क्योंकि वेदान्त सुनकर हुआ ज्ञान एक कोटि वाला ही होता है। एवं च उसे निश्चय ही कहना चाहिये। – यह शंका है।

(इस पर विचारणीय है कि निश्चय किसे कहते हो?)

i) निश्चयता कोई जाति तो है नहीं अन्यथा चाक्षुषत्व आदि जातियों से साङ्कर्य होगा (और चाक्षुषत्वादि को जाति मानते ही हो)। साथ ही, तुम तार्किक के अनुसार जाति व्याप्यवृत्ति होती है जबकि निश्चयता अव्याप्यवृत्ति है; निश्चयता जाति हो तो जो धर्मविषयक संशयात्मक ज्ञान होगा उसमें रहेगी नहीं जिससे वही ज्ञान धर्मी के विषय में भी निश्चय नहीं हो पायेगा। (सामने कुछ है इतना निश्चय और उसमें स्थाणुत्व-तदभाव का संशय,यह एक

iv) अत एव न संशयत्वाभाववत्त्वम्। धर्मिज्ञानांशे तदुभयमस्तीति चेद्? न, ज्ञानेंऽशाऽभावात्। न च धर्मिविषयतावच्छेदेन तदस्तिता, ज्ञानस्वरूपविषयत्वस्य ज्ञानमात्रतया विरुद्धधर्मद्वयाऽसंभवात्। अन्यथा संशयेऽपि एककोट्यंशे विरुद्धोभयप्रकारत्वलक्षण-संशयत्वाभावेन निश्चयत्वापत्तेः।

ज्ञान होता है। या पर्वतविषयक निश्चय और वह्निविषयक संशय – यह एक ज्ञान है।)

ii) पूर्वोक्त कारणवश ही संशयभिन्न ज्ञानता निश्चयता है यह नहीं कह सकते (क्योंकि उदाहृत ज्ञान संशय ही हैं और धर्मिविषयक निश्चय भी)।

iii) संशयत्व की अधिकरणता के अभाव वाले ज्ञान की ज्ञानता भी निश्चयता नहीं क्योंकि धर्मिज्ञान संशय से अभिन्न है अतः उसमें संशयत्व की अधिकरणता ही है, अनधिकरणता नहीं, फिर भी धर्मिविषयक निश्चय है। (अत्यन्ताभाव अव्याप्यवृत्ति होता है यह मानकर अधिकरणताऽभाव-घटित लक्षण संभावित किया है।)

iv) संशयता के अभाव वाला-पन भी निश्चयता नहीं क्योंकि धर्मिज्ञान संशय से अभिन्न होता है और संशयता एवं संशयताऽभाव युगपत् एक ज्ञान में रहें यह असंगत है। यदि कहो कि संशय ज्ञान का एक अंश है धर्मिज्ञान जिसमें संशयत्वाभाववत्त्व रह जायेगा, अंशान्तर में संशयत्व रहेगा, एवं च समूचे संशय में दोनों का रहना संभव है (जैसे डाल पर बंदर और मूल पर बंदर का अभाव यों दोनों पेड़ पर रहते हैं); तो ऐसा कहना ठीक नहीं, कारण कि ज्ञान तुम्हारे मत में गुण होने से निरंश होता है। ऐसे ही – धर्मिविषयता के अवच्छेद से संशयत्वाभाव रह जाये (और स्थाणुत्वादिविषयता के अवच्छेद से संशयत्व भी रह जाये) – यह भी स्वीकारयोग्य नहीं। (यह तब संभव था अगर ज्ञानस्वरूप से अतिरिक्त विषयता होती, पर ऐसा तुम मानते नहीं।) ज्ञानस्वरूप जो विषयता वह ज्ञानमात्र है अतः अभिन्न ज्ञान में विषयता भी अभिन्न होगी जिससे यह संभव नहीं कि संशयत्व-तदभाव आदि परस्पर विरुद्ध दो धर्म ज्ञान में रह सकें। अन्यथा – यदि ज्ञान में अंश मानते हो तो – संशय की किसी एक कोटिरूप अंश में संशयता, जिसका

संशयत्वनिरुक्तिः

न च – स्वप्रकारीभवद्धर्मविरुद्धप्रकारकज्ञानाऽभिन्नत्वं संशयत्वं, तच्च तत्राप्यस्तीति – वाच्यम्; संशयाऽभिन्नधर्म्यंशज्ञानस्याऽपि तत्सत्त्वात्। न च – 'तद्विरुद्धप्रकारकज्ञानत्वे सति' इति विशेषणाद् नाऽतिप्रसङ्गः – इति वाच्यम्; लाघवेन स्वाकारविरुद्धाकारसमबलज्ञानाऽविरोधित्वस्यैव संशयशब्दार्थत्वात्।

लक्षण है विरुद्ध दो प्रकारता (वाला ज्ञान), न रहने से वह अंश निश्चय मानना पड़ेगा! (जो तुम्हे अस्वीकृत है।)

(संशयता निर्णीत हो तब तदन्य ज्ञान को निश्चय कहना बने अत: उसका भी विचार कर लेते हैं। किंच विरुद्ध अनेक कोटियों वाला ज्ञान संशय होता है यह मानकर पूर्वोक्त दोष था कि एककोटिरूप अंश में संशयता नहीं रहेगी; उस दोष के निवारणार्थ संशयका स्वरूप ही अन्य तरह निर्धारित किया जा रहा है:) जिसे संशय माना जाता है उस ज्ञान में प्रकार होता हुआ जो स्थाणुत्वादि धर्म, उससे विरुद्ध जो पुरुषत्वादि धर्म, वह है प्रकार जिसका ऐसे ज्ञान से अभिन्न ज्ञान होना संशय का स्वरूप है और यह लक्षण एककोटिरूप अंश में भी मिलेगा – यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि संशय से अभिन्न है धर्मि-अंशका ज्ञान, उसमें भी यह लक्षण रहेगा जबकि धर्मी का निश्चय है। धर्म्यंशज्ञान की व्यावृत्ति के लिये ऐसा विशेषण दिया जा सकता है: 'संशयतया अभिमत ज्ञान में प्रकार बने धर्म से विरुद्ध प्रकार का ज्ञान होते हुए' (एवं च पूरा रूप होगा- स्वप्रकारीभवद्धर्मविरुद्धप्रकारकज्ञानत्वे सति स्वप्रकारीभवद्धर्मविरुद्धप्रकार-कज्ञानाऽभिन्नत्वम्) जिससे धर्म्यंशज्ञान में संशयलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं क्योंकि वह उक्त विरुद्धप्रकारक ज्ञान नहीं, कारण कि धर्मिज्ञान का संशयकोटिभूत धर्मों से विरोध नहीं होता। किन्तु यह सविशेषण लक्षण गौरवग्रस्त है जबकि यह लघुशरीर लक्षण ही पर्याप्त है: संशयतया अभिमत ज्ञान के आकार से विरुद्ध आकार वाले ऐसे ज्ञान का अविरोधी होना जो स्व के (संशयतयाऽभिमत के) समान बल वाला हो – यह संशय होना है। (स्थाणुआकार वाला ज्ञान और पुरुष आकार वाला ज्ञान तुल्य बल वाले हैं और परस्पर विरुद्ध हैं; एवं च 'स्थाणु है कि पुरुष' इस ज्ञान में लक्षण बैठता है क्योंकि

निश्चयपदार्थे विकल्पान्तरम्

v) यत्तु – स्वसमानप्रकारकसंशयत्वं धर्म्यंशे नास्तीति स निश्चयः – इति; तन्न। परमत इदन्त्वस्य केवलान्वयितया तत्प्रकारकसंशया-ऽप्रसिद्धेः।

इसमें उक्त दोनों आकारों वाले ज्ञान का अविरोध है। समूहालम्बननिश्चय में अतिव्याप्ति का वारण करते हुए टीकाकार ने यह निष्कर्ष दिया है: 'एक-विशेष्यकत्वावच्छेदेन विरुद्धोभयवैशिष्ट्यावगाहित्वम्'। मूलकार ने स्वकीय लक्षण को यों स्पष्ट किया है – स्व के (अर्थात् संशयतया अभिमत के) विषय में (अर्थात् विशेष्य में) जो स्वाकार और तद्विरुद्धाकार ये दो हैं इनके वैशिष्ट्य के ग्राहक ज्ञान से अविरुद्ध होना संशय होना है। – स्वविशेष्ये स्वाकार: तद्विरुद्धाकारश्चेति यद् द्वयं तद्वैशिष्ट्यावगाहिज्ञानाऽविरुद्धत्वं संशयत्वम् – यह सार है। यद्यपि धर्मी-अंश ज्ञान की यहाँ व्यावृत्ति संभव नहीं तथापि सिद्धान्त में धर्म्यंशज्ञान मनोवृत्ति रूप होता है जबकि संशय अविद्यावृत्ति होता है जिससे संशय को धर्म्यंशज्ञान से अभिन्न कह ही नहीं सकते कि अतिव्याप्ति हो! इस प्रकार पूर्वपक्षी के मत में संशय का सही लक्षण न बनने से तद्भिन्न को निश्चय नहीं कह सकते। सिद्धान्ताभिमत लक्षण एक कोटिक ज्ञान में भी रह सकता है। अमीमांसित 'मैं ब्रह्म' ज्ञान का विशेष्य जो मैं रूप से प्रतीयमान आत्मा है उसमें परिच्छिन्नता और व्यापकता इन दोनों का वैशिष्ट्य आपात ज्ञान में भासने से उसे अनिश्चय या संशय कहना संगत हो जाता है। मैं रूप से उल्लेख होने के कारण परिच्छेद भासता है तथा ब्रह्मता (व्यापकता) शब्दप्रमाणवश भासती है। शास्त्र में श्रद्धा होने से परिच्छेदानुभव और ब्रह्मतानुभव समान बल वाले हैं। परिच्छिन्नतानुभूति में यदि श्रद्धा अधिक हुई तब तो वेदान्त सुनने पर संशय भी नहीं होगा, संभावना भले ही हो जाये।)

v) कुछ विचारक निश्चयलक्षण करते हैं – स्वसमानप्रकारकसंश-यत्वाऽनधिकरणज्ञानत्वं निश्चयत्वम्, अर्थात् पूर्वोक्त तृतीय लक्षण में 'स्वसमानप्रकारक' यह संशयविशेषण जोड़ते हैं। धर्मी-अंश का ज्ञान संशय से अभिन्न होने पर भी स्वसमानप्रकारक संशय से अभिन्न नहीं है क्योंकि धर्मिविषयक संशय नहीं है। इस तरह वे निश्चय का निर्वचन करने की

vi)नापि एकविशेष्यकैकप्रकारकज्ञानत्वम्; 'अयं पटो द्रव्यम्' इत्यादि-ज्ञाने तदभावात्। स्थाणुत्वस्याप्येकत्वात्। एकमात्रप्रकारत्वं तु धर्मि-ज्ञानेऽपि नास्त्येव।

निश्चयनिर्वचनम्

तस्माद् यज्ज्ञानं यत्संशयनिवृत्त्यनुकूलस्वरूपविशेषवत् तत् तन्निश्चयः, इतरत् तु न तथा ; इति एककोटिकमपि किञ्चित् पुरुषदोषादनवधारणम्, किञ्चित्तु तर्कादिकारणमहिम्ना तदनतिरिक्त-विषयमपि निश्चय इत्यनवद्यम्।

कोशिश करते हैं। किंतु वह प्रयास भी व्यर्थ है। उन्ही विचारकों के मतमें इदन्ता को केवलान्वयी माना जाता है जिससे इदन्त्वप्रकारक संशय संभव नहीं (क्योंकि इदन्त्वाभावकोटि संभव नहीं), अत: उक्त विशिष्ट लक्षण इदन्त्वप्रकारक निश्चय में अनुपस्थित रहेगा।

vi) ऐसा ज्ञान जिसका एक ही विशेष्य हो और एक ही प्रकार हो उसे निश्चय कहते हैं – ऐसा भी लक्षण ठीक नहीं क्योंकि 'यह कपड़ा द्रव्य है' इस ज्ञान में वह लक्षण न होने से अव्याप्ति है (कारण कि इसमें पटत्व और द्रव्यत्व दो प्रकार हैं, एक ही प्रकार नहीं है)। किंच 'स्थाणुर्वा' इस एककोटि में एक स्थाणुत्व ही प्रकार है जिससे उक्त लक्षण अतिव्याप्त भी है (क्योंकि वह कोटि संशय होने से निश्चय नहीं)। यदि कहो कि सिर्फ एक प्रकारता होने पर निश्चय होगा (अत: 'स्थाणुर्वा' इसी ज्ञान में 'पुरुषोवा' यों पुरुषत्व भी प्रकार होने से सिर्फ एक प्रकारता न होने से अतिव्याप्ति नहीं), तब तो धर्मिज्ञान में अव्याप्ति होगी क्योंकि उसमें भी स्थाणुत्वादि प्रकार होते ही हैं, सिर्फ एक प्रकारता हो ऐसा नहीं।

(क्योंकि सिद्धांती संशय का स्वरूप कह चुका है) इसलिये जो ज्ञान जिस विषय के संशय की निवृत्ति के अनुकूल स्वरूपविशेष वाला होता है वह उस विषय का निश्चय होता है – यह निश्चय का निर्वचन है। (यहाँ 'अनुकूल' का मतलब है योग्य। 'स्वरूपविशेष' का मतलब है 'तत्सामग्रीजन्यत्व' अत: सामग्रीभेद से स्वरूपविशेष का भेद हो जायेगा।) जो उक्त स्वरूपविशेष वाला नहीं है वह निश्चय भी नहीं है। इस प्रकार एककोटि वाला ज्ञान भी अनवधारण

निर्विशेषधियः संशयोच्छेदकत्वे शङ्का

नन्वेवमपि न निर्विशेषब्रह्मजिज्ञासा भवितुमर्हति। संशयविरोधि ज्ञानं हीष्यते, तच्च संशयसमानप्रकारकम्; निर्विकल्पकाद् इदमिति ज्ञानाच्च संशयाऽनिवृत्तेः। निर्विशेषे च ब्रह्मणि तदभावात्। न च – कल्पितः प्रकारोऽस्ति – इति वाच्यम्; तत्त्वावेदकश्रुतिजन्यज्ञानस्य तदविषयत्वाद् इति।

अर्थात् अनिश्चय हो जाता है और इसमें हेतु है पुरुषापराध। (जिस अद्वैतबोध की सामग्री में पदार्थविषयक भ्रम से युक्त मन गृहीत है वह बोध अनवधारण रूप होगा।) जो एककोटिक ज्ञान अनवधारण ज्ञान के विषय से अन्य कुछ विषय नहीं भी करता वह तर्कादि स्वजनक की विशेषतावश निश्चय होता है। ('तर्क' से मीमांसा समझ सकते हैं या विवरणोक्त वह चित्तदपर्ण समझ सकते हैं जो सही ज्ञान के योग्य हो चुका है। 'अन्य कुछ विषय नहीं भी करता' इसलिये कहना पड़ा कि निर्विशेष ज्ञान भी अनिश्चयज्ञान का निवर्तक बनता है; सामान्यत: अनिश्चयज्ञान की अपेक्षा उसके निवर्तक निश्चयज्ञान के विषय में कुछ विशेषता होती है, कुछ अधिकता होती है। किंतु आत्मप्रमामें यह संभव नहीं अत: सामग्रीवैलक्षण्य को ही ज्ञानवैलक्षण्य में निमित्त मानना उचित है। अद्वैत ब्रह्म रूप विषय और वेदान्तवाक्य रूप प्रमाण तो आपातज्ञान और निश्चित प्रमिति दोनों के प्रति हेतु हैं अत: सामग्री का हिस्सा जो 'तर्क' है उसके होने न होने से अन्तर है।

इस प्रकार वेदांत सुनकर पहले पहल जो ज्ञान होगा वह अपरोक्ष निर्णय रूप न होने से जिज्ञासा में प्रेरित करने वाला होगा यह सार है। 'पूरणी'-टीकाकार ने 'वस्तुतस्तु' से विचार प्रवृत्त कर समझाया है कि एककोटिक ज्ञान को संशय कहना अनुचित है किंतु यह ध्यान देने योग्य है कि मूलकार का अभिप्राय इतना ही है कि अविचारित एककोटिक ज्ञान निश्चयात्मक न होकर अनवधारण या अनिश्चय रूप होता है। उसकी संशयता तो संशयजनक होने से है। अत: मूलकार की व्यवस्था ही लाघवादि से पुष्ट है।)

पूर्व विचार से यह सिद्ध हो गया कि आपात ज्ञान से जिज्ञासा प्रवृत्त हो सकती है लेकिन फिर भी निर्विशेष ब्रह्म की जिज्ञासा हो यह संभव नहीं। संशय

समाधानम्

मैवम्। ज्ञानं हि समानविषयतयाऽवधारणात्मकं संशयं निवर्तयति, न तु समानप्रकारतया, अन्यविषयात्तददर्शनात्। समानविषयत्वमप्यपेक्षितमिति चेत्? संशयादपि प्रसङ्गः! निश्चयत्वमप्यपेक्षितमिति चेत्? तर्हि समानविषयो निश्चयो निवर्तकः, लाघवात्।

पराभिमतनिर्विकल्पकपरीक्षा

निर्विकल्पकं तु नास्त्येव। अनवधारणत्वादपि न तद् निवर्तकम्। इदमिति ज्ञानं तु घटत्वादिवैशिष्ट्याविषयत्वाद् न तत्संशयं निवर्तयति।

के विरोधी ज्ञान की प्राप्ति के लिये ही मीमांसा होगी और संशयविरोध वही ज्ञान कर सकता है जो संशय के समान प्रकार वाला हो। ('घड़ा है या नहीं' संशय का विरोध 'कपड़ा है' ज्ञान नहीं कर सकता, 'घड़ा है' या 'घड़ा नहीं है' इनमें से कोई ज्ञान ही उक्त संशय का विरोधी होगा; 'कपड़ा है' से भी जब समझा जायेगा कि यद्विषयक संशय है तद्विषक कपड़ा-ज्ञान है जिसकी अन्यथानुपपत्ति से वह विषय 'घड़ा नहीं है' सिद्ध होता है, तभी अर्थात् अर्थापत्ति से 'घड़ा नहीं है' जानकर ही उक्त संशय निवृत्त होगा।) निर्विकल्पक अर्थात् निष्प्रकारक 'यह' इस ज्ञान से संशय की निवृत्ति होती भी नहीं। निर्विशेष ब्रह्म में प्रकार है ही नहीं जो उसका संशयसमानप्रकारक ज्ञान प्रमारूप हो व संशयोच्छेद करे, अतः निर्विशेष ज्ञान प्रकृत में व्यर्थ है। यदि कहो कि कल्पित प्रकार है, तो भी अबाधित अर्थ की बोधिका श्रुति से जन्य ज्ञान का वह विषय होगा नहीं (क्योंकि कल्पित को अबाधित नहीं कह सकते)। अतः निर्विशेष ब्रह्म की मीमांसा अयोग्य है। यह शंका है।

उक्त ढंग से निर्विशेष ज्ञान को व्यर्थ कहना ग़लत है। संशय के समान विषय वाला निश्चयरूप ज्ञान संशयको हटाता है न कि संशय के समान प्रकार वाला क्योंकि यदि निश्चय का प्रकार संशय के समान ही हो पर विषय अन्य हो तो वह संशय हटाता नहीं। यदि कहो समानविषयक समानप्रकारक ज्ञान संशयघातक है तब तो संशय से ही संशयनिवृत्ति होने लगेगी! अगर कहो समानविषयक समानप्रकारक निश्चय से संशयहानि होती है तब तो लाघवानुरोध से सिर्फ़ समानविषयक निश्चय को संशयनिवर्तक मानना चाहिये, समानप्रकारक

संशयनिवर्तकत्वे समानप्रकारकत्वानपेक्षा

अन्यथा घट इति ज्ञानात्तद्गोचरे घटत्वे 'इदं घटत्वं न वा' इति संशयो न निवर्तेत, तस्मिन् घटत्वातिरिक्तप्रकारकत्वाऽभावात्। अनभ्यासदशायां जले जलत्ववैशिष्ट्याविषयप्रामाण्यसंशयो न स्यात्, जलज्ञानस्य निकटस्थजलज्ञानवत् तत्सत्तानिश्चयरूपत्वात्। किञ्चैवम्, प्रमेयवानिति ज्ञानादपि त्वदभिमतनिश्चयाद् घटत्वादिप्रकारकात् संशयनिवृत्त्यापत्तिः। तत्र सामान्यधर्मप्रकारकत्वं चेद्, इदमिति ज्ञानेऽपि तथा भविष्यति, इति समानप्रकारकत्वं व्यर्थम्।

कहना व्यर्थ है।

तार्किकादि जो निर्विकल्पक ज्ञान मानते हैं वह तो हुआ ही नहीं करता! (वे वैशिष्ट्य के अनवगाही ज्ञान को निर्विकल्पक कहते हैं। किन्तु इसका अस्तित्व वे अनुमान से सिद्ध करते हैं - विशिष्टज्ञानं जन्यविशेषणज्ञानपूर्वकं जन्यविशिष्टज्ञानत्वाद् दण्डी पुरुष इति विशिष्टज्ञानवत्। किन्तु विशिष्टज्ञान जब विशेषणसंनिकर्षादिसे ही संभव है तो उक्त अनुमान विशेषण के निर्विकल्पक को सिद्ध नहीं कर पायेगा। अतः निर्विकल्पक मानना असंगत है।) यदि मान लें तो भी वह संशय इसीसे नहीं हटाता कि वह निश्चयरूप नहीं होता क्योंकि तुम उसे वैशिष्ट्यका अग्राहक मानते हो जबकी निश्चय को सप्रकारक (या वैशिष्ट्यावगाही) स्वीकारते हो। 'यह' - ऐसा जो ज्ञान होता है वह घटत्वादिवैशिष्ट्यको विषय न करने से संशय के समान विषय वाला ही नहीं है कि संशय हटा पाये।

यदि संशयनिवर्तक को समानप्रकारक होना ही चाहिये ऐसा मानो तो 'घड़ा' इस ज्ञान से उसके विषयभूत घटत्व के बारे में 'यह घटत्व है या नहीं' यह संशय हट नहीं सकेगा क्योंकि उक्त ज्ञानमें घटत्व से अन्य प्रकार है नहीं (जबकि संशय का प्रकार घटत्व से अन्य ही है क्योंकि घटत्व तो विशेष्य है)।

किंच, दूरसे अस्पष्ट दीखने वाले जल के ज्ञान के बारे में यह संशय अनुभूत है कि जलत्वप्रकारक यह ज्ञान क्या जलत्ववान् में उसके वैशिष्ट्य का अवगाही है या जलत्वाभाववान् में; यों उस ज्ञानके प्रामाण्य में संशय हुआ करता है। यदि संशयत्व के अनधिकरण ज्ञानत्वको निश्चय कहोगे तो दूरस्थ अस्पष्ट जल का

निर्विशेषजिज्ञासोपपन्ना

अशाब्दनिष्प्रकारकज्ञानस्याऽप्रमाणत्वात्। तस्माच्छाब्दनिष्प्रकारकज्ञानात् संशयनिवृत्तिरुपपन्नेति न निर्विशेषब्रह्मजिज्ञासाऽनुपपत्तिः।

मुमुक्षाऽधिकारिविशेषणम्

अत्र चाधिकारिविशेषणं मुमुक्षैव, कामाधिकारे कामनाया एव पुष्कलाधिकारनिमित्तत्वात्। विवेकवैराग्यादिकं तु तद्धेतुतयाऽपेक्ष्यते। न च सर्वेषां श्रुतौ सङ्कीर्तनादधिकारिनिमित्तत्वम्, मुमुक्षानुमाने सङ्कीर्तन-

ज्ञान भी वैसे ही निश्चय होगा जैसे निकटस्थजल का ज्ञान! अत: दूरस्थ जल में भी जलत्ववैशिष्ट्य की सत्ता का निश्चय रहते उक्त अनुभूत संशय असंगत हो जायेगा।

किंच यदि समानप्रकारत्व ही संशयविरोधी हो तो 'प्रमेयवान्' इस ज्ञान से भी घटादिसंशय हट सकना चाहिये क्योंकि यह ज्ञान प्रमेयप्रकारक है और घटत्वादि भी प्रमेय हैं ही अत: यह ज्ञान घटत्वादि प्रकारक है और निश्चय तुम इसे मानते ही हो। किंतु इससे संशय हटता है नहीं। यदि कहो कि इसमें सामान्य धर्म प्रकार बना है अत: संशयघातकता नहीं तब जो तुमने पूर्वमें आक्षेप किया था 'इदमिति ज्ञानाच्च संशयाऽनिवृत्तेः' वह ग़लत है क्योंकि 'इदं' यह ज्ञान भी सामान्यधर्मप्रकारक ही है। सर्वथाऽपि समानप्रकारकता का निवेश किसी प्रयोजन का नहीं।

शब्दप्रमाणसे न होने वाला निष्प्रकारक ज्ञान अप्रामाणिक है (शब्द-प्रमाणसे तो निष्प्रकारक ज्ञान स्वीकार ही है।) इसलिये शब्दप्रमाणसे जन्य निष्प्रकारक ज्ञानसे संशय की निवृत्ति संगत होने से निर्विशेष ब्रह्म की जिज्ञासा में कोई अयुक्तता नहीं है। ('तस्मात्' अर्थात् निवर्तकज्ञान में संशयसमानप्रकार की अनपेक्षा होने से। यहाँ भी 'वस्तुतस्तु' से पूरणीटीका में (पृ० ४८) मूलकार की स्थापना अस्वीकार्य ठहराने की कोशिश की है किंतु उसके लिये उन्हे निर्विशेष ब्रह्म के ज्ञान को 'निष्प्रपंचत्वप्रकारक' मानना पड़ा है जो सकलवृद्धानभिमत है अत: टीकामत ही चिन्त्य समझना चाहिये।)

अधिकारीका विशेषण अर्थात् ऐसा पुरुषविशेषण जो श्रवणादि की

स्यार्थवत्त्वात्। दृष्टद्वारा हेतुत्वे सम्भवति अदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वात्। अन्यथा सर्वविशेषणानामेकवाक्यस्थत्वासम्भवेन प्रसज्यप्रतिषेधप्रसङ्गात्।

कर्तव्यता समझने में निमित्त पड़े, विवेकादि साधनों में से मुमुक्षा ही है क्योंकि काम्य प्रवृत्ति में अधिकार का पुष्कल अर्थात् निरपेक्ष निमित्त कामना ही होती है। विवेक वैराग्यादि तो मुमुक्षा के हेतुरूप से आवश्यक हैं। सभी साधन वेद में कहे होने से अधिकारी बनने के निमित्त हों यह मानने की ज़रूरत नहीं क्योंकि बाकी साधनों का कथन मुमुक्षा का अनुमान कराने के लिये स्वीकारने से ही संगत हो जाता है। विवेकादि में पूर्व-पूर्व अपने से उत्तरोत्तर के प्रति हेतु बनते हैं इस दृष्ट उपकार द्वारा उनकी श्रवणके प्रति कारणता संभव रहते. अदृष्टकल्पना करना अर्थात् विवेकादि को साक्षात् (बिना उत्तरोत्तर के प्रति हेतु बने हुए) श्रवणादि विचार के प्रति कारण मानना, जो कि अन्वय-व्यतिरेकसे समझा नहीं जा सकता, युक्तियुक्त नहीं है। यदि मुमुक्षामात्र को विशेषण न मानकर सभी को मानेंगे तो तत्तत् वाक्य से उत्पन्न ज्ञान का निषेध स्वीकारना होगा क्योंकि सारे विशेषण एक वाक्य में स्थित होकर सुनाई दें यह संभव नहीं। (विवेकादि सभी किसी एक वाक्य में श्रुति में उपलब्ध नहीं, तत्र-तत्र व्यस्त रूप से ही मिलते हैं। एक वाक्य अपने अर्थ के समर्पण में अन्य वाक्य की अपेक्षा तो रखता नहीं अत: तत्तत् वाक्य से पता चलेगा कि तत्तद् विशेषण वाले के लिये श्रवण कर्तव्य है। फिर सर्ववेदान्तप्रत्ययन्याय से (३. ३. १) सभी विशेषणों को बटोर कर सबसे विशिष्ट के लिये वह कर्तव्य है यह पता चलेगा जिससे पूर्वोत्पन्न तत्तद्विशेषणविशिष्ट की अधिकारिता के ज्ञान बाधित हो जायेंगे। इस प्रकार विधि के व्यापार में गौरव होगा। यदि यह माना जाये कि विवेकादिपद लक्षणासे मुमुक्षा के समर्पक हैं तब सभी वाक्यों में मुमुक्षु के लिये ही श्रवण को कर्तव्य कहा है यह समझना संभव होगा तथा पूर्वोक्त दोष भी नहीं होगा। विवेकादि में साक्षाद् अधिकारिविशेषण होकर अन्वित होने की अयोग्यता रूप लक्षणाबीज है ही क्योंकि उनकी विचार के प्रति साक्षात् हेतुता अन्वयव्यतिरेक से सिद्ध नहीं। विचार की सफलता से फलकामना को अधिकारिविशेषण मानना अनिवार्य तथा लोकसिद्ध है।)

इस तरह जो विवेकादि चारों साधनों से युक्त जिज्ञासु होगा वह जब वेद

जिज्ञासोः संन्यासः

एवं साधनचतुष्टयसम्पन्नो जिज्ञासुः संन्यासस्य ज्ञानसाधनत्वमुपश्रुत्य नित्यादीनि कर्माणि संन्यस्यति। स च संन्यासः 'अथ परिव्राडेकशाटीपरिवृतो मुण्डोदरपात्र्यरण्यनित्यो भिक्षार्थं ग्रामं प्रविशेदासायं प्रदक्षिणेनाविचिकित्सन् सार्ववर्णिकं भैक्षचर्यमभि-

से समझेगा कि संन्यास ज्ञानका साधन है तब नित्यादि कर्मों का परित्याग कर देगा। (उपरति से काम्यादित्याग मानकर यह कथन है। अथवा गृहादि-त्यागपूर्वक संध्यादि अनिवार्यमात्र नित्य करना उपरति से कहकर शिखादि-त्यागरूप वैध संन्यास पृथक् कह रहे हैं।) मुमुक्षु जिज्ञासु द्वारा अनुष्ठेय संन्यास परमहंस-संन्यास ही है, न कि त्रिदण्डधारणादिरूप। मैत्रायणी (तथा अन्य) श्रुतिवचन परमहंस संन्यास का विधान करते हैं: 'प्रचुर वैराग्य होने के बाद परिव्राट् (सब छोड़कर जाने वाला) हो जाये (जाबा. ५)। वह एक कपड़े से शरीर ढके ('एकशाटीधरः' संन्यासोप.१)। सिर मुँड़ावे (जाबा. ५)। अपने पेट से अतिरिक्त बर्तन न रखे। ('पाणिपात्रमुदरपात्रं वा' आरुणेयी.५)। हमेशा ऐसे स्थान में रहे जो स्त्रियों और लौकिक जनों से युक्त न हो ('अरण्ये गत्वा' संन्यासोप.(द्वितीय)१) तथा वेद के आरण्यक भाग की आवृत्ति में निरत रहे ('आरण्यकमावर्तयेत्' आरुणे. २)। शाम से पहले ही भिक्षा लेने गाँव में घुसे और अपने दायें जो घर मिलें उनसे भिक्षा ले। अभिषस्त (शिष्टों ने जिसपर पाप का आरोप लगाया हो, विशेषकर चारित्रिक दोष वाला मान लिया हो) और पतित (जो अपने वर्णाश्रम के लिए अत्यंत निषिद्ध कर्मों में संलग्न हो जाने से बहिष्कृत हो) को छोड़कर बाकी सभी वर्ण वालों से देने वाले के वर्ण-धनादि का एवं मिलने वाले आहार स्वादादि का विचार न करते हुए देहधारणमात्र के लिये पर्याप्त भोजन ग्रहण करे ('यतयो भिक्षार्थं ग्रामं प्रविशन्ति' आरु.५; 'त्रिषु वर्णेषु भिक्षाचर्यं चरेत्' संन्या.१; 'अवधूतस्तु अनियमः पतिताभिशस्तवर्जन-पूर्वकं सर्ववर्णेषु अजगरवृत्याऽऽहारपरः' संन्या २.१३)। वह यज्ञोपवीत धारण न करे ('व्युत्थाय…अयज्ञोपवीताः' नृसिंहोत्तर.६)। आन्तर बाह्य पवित्रता रखे ('कामक्रोधलोभमोहदम्भदर्पासूयाममत्वाहङ्कारानृतादीनपि त्यजेत्' आरु.४ 'शौचमद्भिः पूताभिराचरेत्' संन्यास. (द्वितीय)४)। यदि आवश्यक लगे तो एक

शस्तपतितवर्जमयज्ञोपवीती शौचनिष्ठः काममेकं वैणवं दण्डमाददीत' इति मैत्रायणीश्रुत्या (   ) 'अत ऊर्ध्वं यज्ञोपवीतमासनं शिखां यष्टयः शिक्यं जलपवित्रं कमण्डलुं पात्रमित्येतानि वर्जयित्वा अथ दण्डमादत्ते सखा मे गोपाय' इति बौधायनस्मृत्या (   ) च विहितः परमहंस एव, न त्रिदण्डः। अकर्मफलमोक्षैषिणः सकर्मके तस्मिन्ननधिकारात्, तत्त्यागस्यापि विहितत्वाच्च। तदुक्तं सुरेश्वराचार्यैः-

'सर्वकर्मपरित्यागात् सन्त्यक्ताशेषसाधनः।
श्रुत्युक्तोऽत्र परिव्राट् स्यादैकात्म्यज्ञानजन्मने।।
मुण्डोऽपरिग्रहश्चेति प्रत्यक्षश्रुतिवाक्यतः।
तद्विरुद्धं स्मृतेर्वाक्यं नापेक्ष्यं दुर्बलत्वतः।।'(३.५.१५७-८) इति।

बाँस का दण्ड ग्रहण कर ले ('वैणवं दण्डं परिग्रहेत्' आरु. ४)। बौधायनादि स्मृतियाँ भी इस संन्यास का विधान करती हैं: 'इसके बाद (संन्यास ग्रहण करने के बाद) यज्ञोपवीत, आसन, शिखा, अनेक दण्डे, शिक्य (भिक्षापात्र लटकाये रखने का छींका - जैसा जो दर्भ मूंज आदि की रस्सी से बनता है), पानी छानने का कपड़ा, कमण्डलु, बर्तन - इन सब को छोड़कर 'दोस्त! मुझे बचाना' आदि मंत्र से दण्डग्रहण करे।'

जो कर्म का फल नहीं ऐसे मोक्ष का इच्छुक उस संन्यास में अधिकारी नहीं जिसमें संन्यासी के लिये शमादिपूर्वक श्रवणादि से अन्य कोई भी कर्म विधिपूर्वक करने पड़ें। (त्रिदंडीसंन्यासी के लिए कर्म विहित हैं अतः उसकी व्यावृत्ति है। आश्रमसंन्यास भी कर्मसहित होने से विविदिषासंन्यास से पृथक् ही है। एकदण्डधारी संन्यासी भी दण्डतर्पणादि कृत्य वैध स्वीकारते हैं और वे कृत्य व्यंजक नहीं अपितु कारक हैं अतः वह भी मोक्षोपयोगी परमहंस संन्यास नहीं है। श्रुतिसिद्ध संन्यास के अंगरूप से परमहंसकर्तृक दण्डतर्पणादि का विधान भी श्रुति-स्मृति में दुर्लभ है यह भी जान लेना चाहिये।) सकर्मक संन्यास में मुमुक्षु का अनधिकार हो इतना ही नहीं सभी कर्मों का त्याग उसके लिये विहित होने के कारण वह सकर्मक संन्यास ग्रहण करे यह असंभव है। इस विषय में श्रीसुरेश्वराचार्य के वचन हैं: जीव-ब्रह्म-अभेद के ज्ञान की उत्पत्ति के लिये जिस योग्य परिव्राजक को वेद ने यहाँ कहा है वह सभी कर्म पूरी तरह

विचारसमुच्चितसंन्यासो ज्ञानसाधनम्

संन्यासश्च ज्ञानप्रतिबन्धककल्मषनिवृत्तिद्वारा भवति ज्ञानसाधनम्। स च श्रवणेन समुच्चीयते, 'शान्तो दान्त' इति (बृ. ४. ४. २३) वाक्ये तयोः समुच्चयविधानात्। शान्त्यादिपदैरेव तद्वत्कर्तृकविचारस्योपस्थितत्वात्। 'वेदानिमं च लोकममुं च परित्यज्य आत्मानमन्विच्छेद्' (आप. ध. सू. २९. २१.१३) इति क्रमविधानात् , प्राग् विचारात् कर्तव्यः इति

छोड़ चुकने से समस्त साधनों का परित्याग कर चुका है। 'मुण्डोऽपरिग्रहः' (जाबाल.५) इस प्रत्यक्ष उपलब्ध वेदवचन से विरुद्ध जो (त्रिदण्डधारणादि संन्यासिकर्मविधायक) स्मृतिवाक्य है वह दुर्बल होने से अप्रमाण है।'

ज्ञान में रुकावट डालने वाले दोषों का निवर्तक बनकर संन्यास ज्ञानके प्रति साधन बनता है। (कर्म केवल दोषनिर्वतक हैं जबकि जो दोष ज्ञान के या श्रवण के प्रतिबन्धक हैं उन्हीं को हटाकर ज्ञानोपाय बनना संन्यास की विशेषता है। अभिप्राय है कि कर्म उन दोषों के निवर्तक नहीं जिनकी निवृत्ति संन्यास करता है।) तथा इस संन्यास का श्रवण से समुच्चय है क्योंकि 'शम-दमयुक्त' आदि वाक्य द्वारा उनके समुच्चय की विधि है। इस वाक्य में शान्ति आदि पदों से ही शान्ति आदि से युक्त व्यक्ति द्वारा किया जाने वाला विचार उपस्थित होता है (अतः इस वाक्य में 'शान्त' आदि से श्रवण कहा गया है। ग्रंथकार संन्यास को श्रवण का अंग न मानकर श्रवण के समान स्वीकार रहे हैं और श्रवण तथा संन्यास दोनों मिलकर ज्ञान होता है यों इनका समुच्चय कह रहे हैं। तात्पर्य है कि श्रवण पूर्ण होने के बाद भी अप्रतिबद्ध साक्षात्कार पर्यन्त संन्यास चाहिये ही; ऐसा नहीं कि अंगी श्रवण संपन्न हो चुकने पर तदंगभूत संन्यास की अपेक्षा न रहे। पूरणीटीका में (पृ. ६२) संन्यास की श्रवणांगता मानने को बेहतर माना है, वह भी सांप्रदायिक मत है। निदिध्यासन भी श्रवणका अंग होने से उस मत में श्रवण की पूर्णता होने पर अप्रतिबद्ध ही साक्षात्कार होगा अतः कोई दोष नहीं) और वह संन्यास विचार (मीमांसा, श्रवण) से पहले करना जरूरी है क्योंकि आपस्तम्ब महर्षि ने कहा है, 'वेदों को, इस लोक को और उस लोक को छोड़कर आत्मा का अन्वेषण करे' अतः 'छोड़कर' यों उन्होंने पहले छोड़े तब अन्वेषण करे – यह क्रम निर्धारित कर दिया। वार्तिक में जो यह कहा है

'त्यक्ताशेषक्रियस्यैव संसारं प्रजिहासतः।
जिज्ञासोरेव चैकात्म्यं त्रय्यन्तेष्वधिकारिता॥' (सम्बन्ध. १२)
इति वार्तिकं क्रमपरं न विरुध्यते।

जन्मान्तरीयसंन्यासोऽप्युपकारी

स च जन्मान्तरकृतोऽपि ज्ञान उपकरोति, तद्द्वारस्य ज्ञानप्रतिबन्धककल्मषनिवृत्तेस्ततोऽपि सम्भवात्। 'यद्यातुरः स्याद् मनसा वाचा वा

'जिसने सारी क्रियायें छोड़ दी, जो संसारमात्र को छोड़ देना चाहता है और जो जीवब्रह्मैक्य को समझना चाहता है सिर्फ उसे वेदान्त में अधिकार है', वह भी इस क्रम में तात्पर्य रखता है कि संन्यासपूर्वक श्रवण हो, अतः संन्यास को श्रवण की तरह प्रधान मानने पर इस वार्तिक का विरोध नहीं। (आपाततः वार्तिक संन्यास को अधिकारी का विशेषण बताकर उसे प्रधान नहीं कह रहा अतः ग्रंथकार ने वार्तिक को क्रमपरक माना।)

जिस जन्म में ज्ञानलाभ हो रहा है उससे पूर्वके जन्मों में भी किया हुआ वह परमहंस संन्यास ज्ञानोत्पत्ति में विनियुक्त हो जाता है क्योंकि ज्ञान में आने वाली रुकावटों के हेतुभूत पापों की निवृत्तिरूप जो द्वार या माधयम है जिससे संन्यास ज्ञान को उपलब्ध कराता है वह द्वार पूर्वजन्म में किये संन्यास से भी संपन्न होना संभव है। 'यदि आतुर (मरणासन्न अतः अशक्त) हो तो मन से या कथन से संन्यास करे' इति श्रुति से मृत्यु निकट होने पर या ऐसी कोई आपत्ति स्पष्टतः पुरतः होने पर जिससे अधिकारी को लगे कि वह संन्यास को कालान्तर में नहीं कर पायेगा, संन्यास के विधान की अन्यथा अनुपपत्ति से भी संन्यास का जन्मान्तर में भी विनियोग हो सकता है यह मान्य है। (आसन्नमृत्यु जब संन्यास ले रहा है तो उसी जन्म में श्रवण करने के लिये नहीं, यह स्पष्ट है अतः इस संन्यास से जन्मान्तर में लाभ होगा यह मानना पड़ता है।) आपत्संन्यास सिर्फ ब्रह्मलोकादि के लिये है, ज्ञानके लिये नहीं- ऐसा भी कहना ठीक नहीं क्योंकि प्रसिद्ध ज्ञानार्थ संन्यास का ही आपत्ति दशा में मन या वाणी से संन्यास करने से अतिरिक्त अंगों के बिना ही सम्पन्न होने के अभिप्राय से 'यद्यातुर' आदि विधान है जैसे गृहमेधीय नामक विकृति में प्रकृति से अतिदेशद्वारा प्राप्त आज्यभागों का ही विकृति में पुनर्विधान हो जाने पर समझा जाता है कि

संन्यसेद्' (जाबाल.५) इति श्रुत्याऽऽपत्संन्यासविधानाच्च। न चाऽयं संन्यासो ज्ञानार्थो न भवतीति वाच्यम्; प्रसिद्धस्यैव संन्यासस्य दशाविशेषे 'आज्यभागौ यजति' (तै. सं. ६. ६. ३. ३.) इतिवद् इतराङ्गव्यावृत्त्यभिप्रायेण विधानात्, 'एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्त' इत्युत्तरवाक्येन (जाबाल. ५) तस्याऽपि परामृष्टत्वाच्च।

गुरूपसत्तिः

एवं साधनचतुष्टयसम्पन्नो जिज्ञासुः कृतसंन्यासः 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासे' ति सूत्रेण 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः' (बृ.२.५.४.) इत्यादिवाक्यार्थम् अद्वैतात्मज्ञानसाधनवेदान्तश्रवणादिकर्तव्यत्वं

अंगान्तर की व्यावृत्ति अभिप्रेत है। (यह ध्यान रखना चाहिये कि जैमिनीयदर्शन में (१०.७. अधि. ९) निर्णय किया है कि गृहमेधीय विकृति नहीं है, कर्मान्तर है किन्तु वहाँ इस विषय पर सात अन्य संभावनायें उठायी हैं जिसमें यह भी है कि पुनर्वचन अंगांतरनिवृत्ति के लिये है; उस पूर्वपक्षन्याय को यहाँ दृष्टान्त बनाया है। तात्पर्य है कि आपद्ग्रस्त सांगोपांग संन्यास संस्कार नहीं कर सकता अतः तदंगभूत मानस या वाचिक संन्यास ही कर ले तो भी उसका संन्यास संपन्न हो जाता है यह मान्य है, न कि यह मानना चाहिये कि आपत्संन्यास ज्ञानार्थसंन्यास से विलक्षण ही कोई फलान्तरप्रद संस्कार है।) जाबालोपनिषत् में 'यद्यातुरः' से आपत्संन्यास के विधान के तुरन्त बाद अगले ही वाक्य में कहा है 'यह वेद द्वारा बोधित मोक्षोपाय है' अतः आपत्संन्यास मोक्षफलक मानना चाहिए जो तभी हो जब वह जन्मान्तर में उपकार करे। संन्यास को मोक्षमार्ग कहकर श्रुति ने उसे स्वतंत्र ही मोक्षोपाय घोषित किया है जिससे वह श्रवण का अंग नहीं रहता।

इस प्रकार चारों साधनों से शोभित आत्मविविदिषु संन्यास कर चुकता है। वह शारीरक मीमांसा के प्रथम सूत्र से निर्णय करता है कि 'आत्मा ही देखने लायक है, उसे सुनना-सोचना चाहिये' इत्यादि वेदवाक्यों का अर्थ है कि अद्वैत आत्मा के ज्ञान के उपायभूत वेदान्त का श्रवणादि करना जरूरी है। और 'आचार्य का शिष्य बना व्यक्ति आत्मा को जानता है,' 'उसे जानने के लिये साधक भेंट लेकर वेदज्ञ आत्माद्वैतनिश्चययुक्त गुरु के पास ही जाये' इत्यादि

निश्चित्य; तस्य 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' (छा. ६. १४. २) 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाऽभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' (मुं. १. २. १२) इत्यादिवाक्याद् आचार्याधीनत्वमवगत्य; करतलीकृतब्रह्मतत्त्वमाचार्यम् उपसर्पति।

ग्रन्थस्य मननात्मकता

ततः तत्प्रधानेऽद्वैतब्रह्मणि तत्त्वमस्यादिवेदान्ततात्पर्यं निश्चित्य तदर्थमित्थं मनुते। तदेव वादिप्रतिवादिविचाररूपेण प्रदर्श्यते।

जीवब्रह्माभेद उपपत्तिः

ननु त्वम्पदार्थस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वविशिष्टस्य तद्विपरीतब्रह्मणा कथम-

वाक्यों से जिज्ञासु पता लगा लेता है कि वह वेदान्तश्रवण गुरु से ही हो सकता है। तब वह किसी ऐसे आचार्य की शरण लेता है जिन्हें ब्रह्मतत्त्व हाथ में रखे आँवले सा विस्पष्ट है।

'तत्त्वमसि' आदि वेदान्तों का तात्पर्य वेदान्त के मुख्य प्रतिपाद्य अद्वैत ब्रह्म में है - यह निश्चय गुरु द्वारा कराये श्रवण से हो जाता है। तदनन्तर साधक वेदान्तों के अर्थ का इस प्रकार विचार करता है। वह विचार ही यहाँ वादी प्रतिवादी के संवादरूप से दिखाया जा रहा है। (अर्थात् ग्रंथकरण मनन ही है। अखण्डानन्द स्वामीका भी यह मत है।)

त्वम्पद का अर्थ जीव कर्तृत्व और भोक्तृत्व से विशिष्ट है जबकि इसके विपरीत ब्रह्म में कर्तृत्वादि हैं नहीं। बाधित, मतलब जिसका होना कभी संभव नहीं ऐसा, अर्थ वेद भी नहीं प्रतिपादित करता। अतः जीव-ब्रह्मका अभेद कैसे? यह प्रश्न गलत है। प्रमातृत्वादि (प्रमाता होना, कर्ता होना आदि) जिसके धर्म हैं वह अहंकार प्रतिबिम्बस्थानीय आत्मा पर अध्यस्त है जबकि उसके अधिष्ठान आत्मा का ही श्रुति द्वारा ब्रह्म से अभेद प्रतिपादित है। जिसमें कर्तृतादि हैं उसका अभेद शास्त्र नहीं कहता। जिसका अभेद कहता है उसमें कर्तृतादि हैं नहीं। अतः अभेदोक्ति संगत है।

(अहंकार दृश्य होने से शुक्तिरजत की तरह अध्यस्त है; जैसे कि यह बात सिद्ध हो सके) उस तरह दृष्टान्त समझाया जा रहा है:

भेदः, न हि बाधितमर्थमागमोऽपि बोधयेदिति चेद्? न; प्रमातृत्वादि-धर्मिणोऽहङ्कारस्य आत्मनि कल्पितत्वात् तदधिष्ठानस्यात्मन एव श्रुत्याऽभेदप्रतिपादनात्।

भ्रान्तावख्यातिमतदूषणम्

तथा हि – अस्ति तावच्छुक्तौ 'इदं रजतम्' इति ज्ञानम्। तन्न तावज्ज्ञानद्वयं, ततो रजतार्थिप्रवृत्त्यनुपपत्तेः। न चेदमिति ज्ञानात् प्रवृत्तिः, अतिप्रसङ्गात्। रजतज्ञानं च शुक्तिविषयत्वं विना न तत्र प्रवर्तकम्, अन्यविषयादन्यत्र प्रवृत्त्ययोगात्। न च उपस्थितेष्टभेदाऽग्रहात् प्रवृत्तिः, लाघवेन उपस्थितेरेव प्रवर्तकत्वात्। रजतज्ञानं च शुक्तिविषयं तद्गोचरप्रवृत्तिहेतुत्वात्, शुक्तिज्ञानवद्। इति सिद्धं तावच्छुक्तिरजतविशिष्टं ज्ञानम्।

सींप के बारे में 'यह चाँदी है' ऐसा अनुभव हो जाया करता है। इसे अनुभव और स्मृति इन दो ज्ञानों का युग्म नहीं कह सकते क्योंकि यदि ज्ञान दो होते तो 'यह चाँदी है' इससे रजतेच्छुक पुरोवर्ती की ओर प्रवृत्त नहीं हो सकता था। 'यह' इतना ही ज्ञान यहाँ प्रवृत्तिहेतु नहीं हो सकता अन्यथा पुरोवर्ती से इतरत्र भी प्रवृत्ति होनी चाहिये जो होती नहीं। 'चाँदी है' यह ज्ञान भी सींप को विषय न करे तो उसकी ओर प्रवृत्त नहीं कर सकेगा कारण कि एकविषयक ज्ञान दूसरे विषय की ओर प्रवृत्त नहीं करता। स्मृति से उपस्थित अभिलषित चाँदी का पुरोवर्ती से जो भेद है उसका ग्रहण न होने से प्रवृति हो जाती है – यह मानना गौरवग्रस्त है जब यही लघुभूत है कि (पुरोवर्तितादात्म्येन हुई चाँदी की) उपस्थिति ही प्रवृत्त करती है। अतः यह अनुमान है – उक्त स्थल पर चाँदीज्ञान सींप को विषय करता है क्योंकि सींपविषयक प्रवृत्ति का हेतु बनता है, जैसे सींप का ज्ञान। इसलिये सींप व चाँदी से विशिष्ट एक अनुभव है, न कि स्मृति – अनुभव रूप दो ज्ञान, यह सिद्ध हुआ।

यह नहीं कह सकते कि वास्तव में चाँदी वहाँ है क्योंकि 'सींप में (तादात्म्येन) चाँदी नहीं है' इस प्रकार चाँदी का वहाँ हमेशा ही न होना अनुभव में आता है। यदि कहो – पुरतः न सही, दृश्यमान चाँदी अन्यत्र वास्तविक है और दोष के कारण सींप अन्य देश में स्थित चाँदी रूप से दीख रही है अतः

सत्ख्यातिनिराकरणम्

न च तत् तत्रास्ति, शुक्तौ रजतं नास्तीति त्रैकालिकतदभावस्य अनुभवसिद्धत्वात्। तर्ह्यन्यत्राऽस्तु, दोषवशाच्छुक्तिकाया देशान्तरीयरजतात्मना ग्रहोपपत्तेरित्यन्यथाख्यातिरिति चेत्? तत्र न तावदिदं ज्ञानं परोक्षं, पुरो देशे रजतं साक्षात्करोमीत्यनुभवात्। नापीन्द्रियजन्यं तत्; रजतज्ञानं नेन्द्रियजन्यं तत्सन्निकर्षाऽजन्यत्वाद्, अनुमितिवत्। न चाऽप्रयोजकत्वम्, क्लृप्तसहकारिणं विना इन्द्रियस्य कार्याऽजनकत्वात्। विशेष्यसंनिकर्षविशेषणज्ञानादिविशिष्टधीसामग्र्यां सत्यामपि विशेषण-संनिकर्षाभावे विशिष्टधियोऽदर्शनात्। किञ्चैवं पर्वते वह्निविशिष्टप्रत्यक्षमेव स्यान्न त्वनुमितिः, विशेषणसंनिकर्षातिरिक्तविशिष्टप्रत्यक्षसामग्रीसत्त्वात्। प्रत्यक्षसामग्र्याश्च संशयानन्तरमेव अनुमितिसामग्रीतो बलवत्त्वात्। न च

अन्यथाख्याति माननी चाहिये; तो यह भी ठीक नहीं। पहली बात तो यह चाँदीज्ञान परोक्ष नहीं है, 'सामने चाँदी देख रहा हूँ' यही अनुभव होता है। न यह चाँदीज्ञान इन्द्रिय से उत्पन्न है क्योंकि चाँदी से संनिकर्षके (संयोग के) बिना उत्पन्न हुआ है जैसे अनुमिति साध्यसंनिकर्ष के बिना उत्पन्न होती है तो इंद्रियजन्य नहीं होती। संनिकर्ष की जरूरत इन्द्रियजन्यता के लिये अनावश्यक भी नहीं क्योंकि स्वीकृत सहकारिकारणों के बिना इंद्रिय अपना कार्य उत्पन्न करती नहीं है। विशेष्य से संनिकर्ष, विशेषण का ज्ञान आदि जो विशिष्टज्ञान की सामग्री है, उसके रहते भी विशेषण से संनिकर्ष न होने पर विशिष्ट की प्रमा अनुभव में नहीं आती। किं च यदि विशेषण से संनिकर्ष विशिष्ट ज्ञान में हेतु न हो तो पर्वतविषयक वह्निविशिष्ट प्रत्यक्ष ही हो जायेगा, अनुमिति नहीं! क्योंकि विशेषण से (वह्नि से) संनिकर्ष को छोड़कर बाकी सारी सामग्री है ही जो विशिष्ट-प्रत्यक्ष के लिये चाहिये। संशय के बाद ही प्रत्यक्षसामग्री अनुमिति सामग्री से प्रबल होती है अतः प्रत्यक्ष ही होना चाहिये अनुमिति नहीं। प्रमा के लिये ही विशेषणसंनिकर्ष कारण होता है – यह भी कहना बनता नहीं क्योंकि लाघवानुरोध से सभी विशिष्ट प्रत्यक्षों के प्रति उसे कारण मानना संगत है।

ज्ञान या संस्कार को प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) नहीं कह सकते। विवरण–

प्रमायामेव विशेषणसंनिकर्षः कारणं, लाघवेन विशिष्टप्रत्यक्षमात्रे तस्य हेतुत्वात्।

ज्ञानप्रत्यासत्तिखण्डनम्

न च ज्ञानं संस्कारो वा प्रत्यासत्तिरिति वाच्यम्, ज्ञानस्य प्रत्यासत्तेरन्यत्र निरस्तत्वात्। शुक्तौ रजतस्य पूर्वम् अननुभूतत्वेन तत्र ज्ञानस्य प्रत्यासत्तित्वाऽयोगाच्च। नाऽपि दोष एव प्रत्यासत्तिः, तस्य यथार्थविशेषणांशज्ञानाऽजनकत्वात्। किं च ज्ञानस्य स्वविषय एव प्रवर्तकत्वाद् अन्यत्रैवास्मिन् मतेऽपि प्रवर्तेत, रजतज्ञानविषयरजतस्य अन्यत्रैव सत्त्वात्।

टिप्पणी आदि ग्रंथों में ज्ञानलक्षणा प्रत्यासात्ति का निरास कर दिया है। ऐसे ही संस्कार की प्रत्यासत्तिरूपता का निरास अन्यत्र है। (यदि ज्ञान प्रत्यासत्ति होता तो निर्दण्ड को 'यह दण्डी था' ऐसा जानने पर दण्ड का प्रत्यक्ष हो जाता! होता नहीं है। प्रत्यभिज्ञादि में भी तत्तादि अंश में ज्ञान स्मृति ही है। पर्वतादि पर वह्नि आदि की भी अनुमिति ज्ञानप्रत्यासत्ति मानने पर दुर्लभ होगी।) किं च जहाँ जिसका अनुभव हुआ हो वहीं ज्ञान को प्रत्यासत्ति मानते हो, न कि ज्ञानमात्र को। सीप में चाँदी भ्रमसे पूर्व अनुभव में आयी है नहीं कि वहाँ ज्ञान प्रत्यासत्ति हो भी सके। यह भी नहीं कि दोष ही प्रत्यासत्ति हो क्योंकि विशेषणांश के यथार्थज्ञान का वह उत्पादक नहीं है। (वादिमत में विशेषणांश अर्थात् रजतांश में भी ज्ञान की यथार्थता ही है क्योंकि ज्ञान वास्तविक चाँदी का ही है; अतः विशेषणांशज्ञान दोषप्रभव नहीं और विशेष्यांश तो वह यथार्थ मानता ही है जिससे वह भी दोषहेतुक नहीं। फलतः दोषको कारणकोटि में नहीं रख सकते।) इतना ही नहीं, यद्विषयक ज्ञान होता है वह तद्विषयक प्रवृत्ति का हेतु होता है; जिस मत में दूकान की चाँदी शुक्ति में दीखती है उस मतानुसार 'यह चाँदी है' देखकर दूकान की चाँदी उठाने की प्रवृत्ति होनी चाहिये!

यह नहीं कह सकते कि भ्रम का विषय रजत न होकर सींप ही है क्योंकि ज्ञानका जो आकार होता है वही उसका विषय हो सकता है अन्यथा सविषय-ज्ञान का अस्तित्व ही न रहेगा (कारण कि विषय ही ज्ञान में आकार होता है 'अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम्' यह न्यायाचार्य मानते ही हैं।)

भ्रमज्ञान सींप में रजतत्व के वैशिष्ट्य को विषय करता है अतः

अन्यथाख्यातेः सदोषता

ननु न रजतं विषयः, शुक्तिरेवेति चेद्? (न,) अन्याकारज्ञानस्याऽन्यालम्बनत्वे संविद्विरोधात्। ननु रजतत्ववैशिष्ट्यं शुक्तौ विषयी करोति ज्ञानमिति नानुभवविरोधो; न वा प्रवृत्त्यनुपपत्तिः, यत्र इष्टतावच्छेदकवैशिष्ट्यं विषयीक्रियते तत्र ज्ञानस्य प्रवर्तकत्वादिति चेत्? न; इदं

अनुभवविरोध नहीं और क्योंकि ज्ञान जिस विषय में इष्टतावच्छेदक के वैशिष्ट्य को विषय करता है उस विषय में प्रवृत्ति का हेतु बनता है इसलिये भ्रम से शुक्तिविषयक प्रवृत्ति भी संगत है। – यह शंका है। (तार्किक का मानना है कि 'रजतत्व वाला' इस ढंग से शुक्ति का ग्रहण होना भ्रम कहलाता है अतः भ्रम का विषय रजत है ही नहीं, एवं च संविद्विरोध का प्रसंग नहीं क्योंकि ज्ञान में प्रकार रजतत्व और विशेष्य शुक्ति (या पुरोवर्ती) है जिससे उसे रजताकार कहना नहीं बनता और रजताकार होने के बल पर रजतविषयक मानना व्यर्थ हो जाता है। रजतविषयक न होने पर प्रवर्तक कैसे? इसका उत्तर है कि इष्टज्ञान को प्रवर्तक नहीं माना जा सकता अन्यथा भ्रमसे प्रवृत्ति न हो अतः इच्छाविषयता से समनियत जो धर्म उसका वैशिष्ट्य (अर्थात् उस धर्म वाला होना) जहाँ दीखता है वहीं प्रवृत्ति हो जाती है यह अनुगत नियम मान लेना चाहिये। इसके निरासार्थ यह शंका यहाँ उपस्थित की है।)

समाधान है कि ऐसी व्यवस्था असंगत है। 'यह चाँदी है' यह जो ज्ञान है (चाहे भ्रम ही है) वह पुरोवर्ती से उसके अभेद को विषय करता है जो रजतत्व वाला है, न कि पुरोवर्ती में रजतत्व के सम्बन्ध को, क्योंकि रजत की स्मृति में गौणरूपसे आये रजतत्व का आरोप असंभव है। आरोप में कारण होती है आरोप्य की स्वतन्त्र उपस्थिति (न कि गौण हुई उपस्थिति)। अन्यथा संसर्गाभाव के ज्ञान का नियामक जो प्रतियोगीका आरोप वह होते समय प्रतियोगिता का अवच्छेदकरूप तादात्म्य भी प्रतियोगिविशेषण रूप से उपस्थित हो जायेगा जिससे अन्योन्याभाव का ही ज्ञान होगा, संसर्गाभाव का ज्ञान होगा ही नहीं। स्वतंत्ररूप से उपस्थित हुए रजत के अध्यारोप की सामग्री रहते हुए गौण रूप से उपस्थित हुए का ही आरोप होता है यह नियमन करने में कोई हेतु नहीं हैं। (रजत-रजतत्व) दोनों का आरोप होता है इसमें भी कोई

रजतमिति ज्ञानं हि पुरोवर्तिनि रजतत्वविशिष्टाऽभेदं विषयीकरोति, न तु पुरोवर्तिनि रजतत्वसंसर्गं, रजतस्मृतावुपसर्जनस्य तस्यारोपाऽसम्भवात्। आरोपे चारोप्यस्य स्वतन्त्रोपस्थितिर्हेतुः, अन्यथा संसर्गाभावधीनियामकप्रतियोग्यारोपसमये तादात्म्यारोपप्रसङ्गात्। स्वतन्त्रोपस्थितरजतारोपसामग्र्यां सत्याम् उपसर्जनस्यैवारोप इति नियन्तुमशक्यत्वात्। न चोभयारोपे प्रमाणमस्ति। न च रजतत्वमिति स्मरणं भ्रमपूर्वं नियमेन कल्पयितुं शक्यम्। तस्माद् रजतत्ववैशिष्ट्यं रजत एव विषयीक्रियत इति तत्रैव प्रवृत्तिः। रजतज्ञानं शुक्तिमपि विषयी करोतीति चेद्? अन्याकारं

प्रमाण नहीं। यह कल्पना नहीं कर सकते कि भ्रम से पहले नियमतः 'रजतत्व' ऐसी स्मृति होती है (ताकि उसका आरोप हो सके)। इसलिये यही स्वीकारना पड़ेगा कि रजतत्व का वैशिष्ट्य रजत में दीखता है जिससे प्रवृत्ति भी रजतविषयक ही होनी चाहिये, पुरोवर्ती-विषयक नहीं।

यह भी कहना ठीक नहीं कि भ्रमरूप रजतज्ञान शुक्तिको भी विषय करता है क्योंकि ज्ञानका आकार कोई तथा उसका विषय कोई और ही हो यह मानना अनुभवविरुद्ध है।

इसी प्रकार असत् के वैशिष्ट्य का अनुभव भी असंगत है। ('यह रजत है' भ्रम में इदन्त्व का (यहपने का) रजत से तादात्म्य भासता है जबकि वह तादात्म्य अत्यंत असत् है अतः उसका वैशिष्ट्य प्रतीत हो, इदन्त्वतादात्म्य वाला रजत है-ऐसी प्रतीति हो, यह संभव नहीं क्योंकि सद्रूप संवित् से असत् विषय का सम्बन्ध हो नहीं सकता, हो जाये तो वह असत् नहीं हो सकता।)

अपरोक्ष ज्ञान यहाँ जिसे विषय कर रहा है वह किसी अन्य देश में है इस बात में प्रमाण भी कोई नहीं मिल सकता अतः अन्यथाख्याति संभव नहीं।

जब भ्रमविषय देशांतर में है यह प्रमाणिक नहीं, बाध होने से यहाँ है यह संभव नहीं तो उसे अत्यंत असत् ही मानना चाहिये। 'असत् ही- न होने वाला ही- रजत दीखा था' ऐसा अनुसन्धान भी होता ही है। अतः भ्रम में असत्ख्याति माननी चाहिये। - यह शंका है।

समाधान है कि असत् ज्ञानका विषय बने यही असंगत है। असत् का

ज्ञानमन्यालम्बनमिति संविद्विरोधः। एवम् असतो वैशिष्ट्यस्य प्रतीत्यनुपपत्तिः। अत्राऽपरोक्षज्ञानविषयस्य देशान्तरसत्त्वे प्रमाणाऽभावाच्च।

असत्ख्यातिनिराकरणम्

अस्तु तर्हि भ्रमविषयोऽत्यन्तमसदेव; देशान्तरसत्त्वे प्रमाणाभावाद् अत्राऽपि बाधविरोधेन सत्त्वाऽयोगात्। अत एव 'असदेव रजतमभाद्' इत्यनुभव इति चेद्? असतो ज्ञानविषयत्वाऽनुपपत्तेः। न ह्यसतः केनचिद् इन्द्रियेण सम्बन्धोऽस्ति। न वा संविदभिन्नत्वं; तस्य रजतत्वादिविशेषाऽभावाच्च। एवमसतो बाधाऽयोगाच्च; न ह्यसतोऽत्यन्तमभावोऽस्ति। न वाऽसन्नाम किञ्चिदस्ति इत्युक्तमन्यत्र।

अध्यस्तत्वे पूर्वपक्षः - i) दोषजन्यत्वलक्षणनिरासः

किन्तर्हि 'इदं रजतम्' इति? अध्यस्तमिति ब्रूमः। ननु किमिदमध्यस्तत्वं रजतादेः?

i) न तावद् दोषजन्यत्वम्, भवन्मतेऽविद्यादावसंभवात्।

किसी इंद्रिय से सम्बन्ध नहीं हो सकता। ऐसा भी नहीं कि वह ज्ञान से तादात्म्यापन्न हो ताकि उसका अपरोक्ष हो सके। यह भी संभव और मान्य नहीं कि उसमें रजतत्व, रूप आदि विशेष होते हैं क्योंकि उसे निःस्वरूप माना जाता है। किं च असत् का बाध भी अयुक्त है क्योंकि बाध्य के अत्यन्ताभाव को विषय करना बाध है जबकि असत् का अत्यन्ताभाव संभव नहीं कारण कि वह प्रतियोगी होता नहीं। वस्तुतस्तु असत् नामक 'कुछ' है भी नहीं जो भ्रम से भी दीखे यह ग्रंथान्तरों में प्रतिपादित है। ('वन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वाऽपि दृश्यते' (३.२८) आदि गौडपादकारिका में भी कहा है। सूत्रभाष्य की टीका में (२. २. ३२) भी असत् की असंभवता पर प्रकाश डाला है।)

जब सत् नहीं व असत् नहीं तो यह भ्रमविषयीभूत रजत क्या है? सिद्धान्तीका तो यही कहना है कि यह अध्यस्त है। रजतादि के अध्यस्त होने का क्या अभिप्राय है?

एक मतलब हो सकता है कि दोष से जन्य होना अध्यस्त होना है। पर यह ठीक नहीं क्योंकि वेदान्ती अविद्यादि अजन्य वस्तुओं को भी अध्यस्त मानता है

दोषोऽपि– (क) न तावदुपादानम्, प्रमातृकरणदोषयोर्बाह्यार्थं प्रति तदनुपपत्तेः। (ख) नापि सादृश्यमुपादानम्, गुणाद्यात्मनस्तस्य द्रव्योपादानत्वाऽयोगात्। इतरव्यावृत्तजन्यविशेषज्ञानमन्तरेण तदुपादानत्वग्रहाऽसम्भवाच्च। दोषस्यावश्यकज्ञानं प्रत्येव हेतुत्वेनाऽर्थं प्रत्यहेतुत्वाच्च। (ग) अत एव न दोषस्य तत्र निमित्तत्वम्।

ii) संस्कारजन्यतालक्षणे दोषः

नाऽपि संस्कारजन्यत्वम्; स्मृतावतिव्याप्तेः, भावनासंस्कारस्य अर्थाऽहेतुत्वाच्च।

iii) सम्प्रयोगजन्यत्वमित्यलक्षणम्

नाऽपि सम्प्रयोगजन्यत्वम्; अनुभवेऽतिव्याप्तेः। स्वस्य परस्य वा

अतः लक्षण अव्याप्त रहेगा। किं च दोष भी (क) रजतादि के प्रति उपादान नहीं बनेगा क्योंकि प्रमाता या प्रमाण में रहने वाला दोष बाहर होने वाले पदार्थ के प्रति उपादान नहीं हो सकता (उपादान–उपादेय एकत्र हुआ करते हैं)। (ख) विषयगत दोष सादृश्य है वह भी रजतादि का उपादान संभव नहीं। सादृश्य गुणरूप या क्रियारूप होगा, अतः वह द्रव्य के प्रति उपादान नहीं बन सकता। किं च, अन्वय व्यतिरेक से ही दोषजन्यता पता चलेगी। व्यतिरेक का ग्रहण तभी होगा जब जन्य में जो विशेष अर्थात् अवच्छेदक है उसका ज्ञान हो। किंतु ऐसा कोई धर्म रजतादि में पता चलता नहीं। जब तक सामान्यों से अलगकर जन्यनिष्ठ विशेष का (जन्यतावच्छेदक का) ज्ञान न हो तब तक उससे निरूपित उपादान का ज्ञान असंभव भी है। किं च दोष अवश्य ही भ्रमज्ञान के प्रति हेतु है अतः उसे विषय के प्रति हेतु मानना ठीक नहीं। (ग) अन्वयव्यतिरेक से जब दोष ज्ञान के प्रति ही हेतु हो रहा है तब उसे विषय के प्रति निमित्त भी मानने में कोई युक्ति नहीं।

संस्कारजन्य होना भी अध्यस्त होना नहीं कहा जा सकता क्योंकि स्मृति भी संस्कारजन्य है जबकि अध्यस्त नहीं है। भावनात्मक संस्कार आत्मा में (या कम से कम प्रमाता में) रहने से बहिर्भव विषय के प्रति कारण बने यह संभव भी नहीं।

सम्प्रयोग से (अधिष्ठान व इंद्रिय के सम्बंध से) जन्य होना भी अध्यस्त होना नहीं है क्योंकि यह लक्षण स्पष्ट ही अनुभव में अतिव्याप्त है, वह

इन्द्रियसम्प्रयोगेण अर्थस्य अजन्यत्वाच्च। स्वप्नाद्यध्यासाऽव्याप्तेश्च। मनसोऽनिन्द्रियत्वाद् अन्तःकरणाऽध्यासात्पूर्वं मनसः सम्प्रयोगाऽभावाच्च।

iv) उक्तसमुदितजन्यत्वमग्राह्यम्

अत एव सम्प्रयोगसंस्कारदोषजन्यत्वमध्यासलक्षणमिति प्रत्युक्तम्।

v) भ्रमविषयत्वमित्यत्र दूषणम्– क) भ्रमो न दोषजन्यधीः

नाऽपि भ्रमविषयत्वम्; तत्र भ्रान्तिर्यदि दोषजन्यज्ञानत्वम्, अविद्याभ्रान्त्यादावव्याप्तेः, रजतादिभ्रमस्यापि इन्द्रियाद्यजन्यस्य तद्दोषजन्यत्वानुपपत्तेश्च।

सम्प्रयोगजन्य अथ च अनध्यस्त है। किं च, इंद्रिय का किससे सम्बन्ध अर्थोत्पादक मानोगे? अध्यस्त वस्तु से तो सम्प्रयोग होता नहीं कि उससे मान सको। अधिष्ठान से हुआ संप्रयोग प्रमास्थलों में जब अध्यस्तोत्पादक नहीं तो भ्रम में उसे वैसा कैसे माना जाये? अध्यस्तसंप्रयोग ज्ञान उत्पन्न कर ही कृतकार्य हो जाता है तो अर्थोत्पादन क्यों करेगा? संप्रयोगजन्यता स्वप्नादि अध्यास में है भी नहीं अतः अव्याप्ति है। स्वप्नावस्था में चक्षुरादि का संबंध होता नहीं। मन का आत्मा से संबंध होने पर भी वेदान्ती मन को इंद्रिय मानता नहीं कि उसे संप्रयोग स्वीकार ले। यदि मनको इंद्रिय मान ले तो भी अंतःकरण के अध्यास से पहले मनःसंप्रयोग होगा नहीं तो अविद्या, आकाशादि कैसे अध्यस्त होंगे?

इसीलिये संप्रयोग, संस्कार और दोष तीनों से जन्य होना अध्यास का लक्षण है यह पक्ष भी निरस्त हो गया। (प्रत्येक से जन्यता संभव नहीं तो सबसे भी वह नहीं हो सकती। किं च संप्रयोगादि में जनकता भी दुर्निरूप रहती है क्योंकि पूर्व में कह चुके कि जन्यतावच्छेदक दुलर्भ है। अजन्य अध्यासों में अव्याप्ति तो स्फुट ही है।)

भ्रम का विषय होना भी अध्यास का सही लक्षण नहीं। भ्रम किसे कहते हो? दोषजन्य ज्ञान को भ्रम कहो तो अविद्या आदि अजन्य भ्रमों में लक्षण अव्याप्त रहेगा। रजतादिभ्रम भी इन्द्रियादि से तो जन्य है नहीं कि इन्द्रियगत दोष से जन्य हो सके अतः यह लक्षण असम्भव भी है। (प्रतिभासमात्रशरीर रजतादि

v ख) संस्कारजन्यत्वमतिव्याप्तम्

नाऽपि संस्कारजन्यानुभवत्वम्, प्रत्यभिज्ञायामतिव्याप्तेः। अभिज्ञायां तु न क्वापि संस्कारो हेतुः।

v ग) असद्विषयको न भ्रमः

नाऽप्यसद्विषयकज्ञानत्वं भ्रमत्वम्, असत्ख्यात्यनभ्युपगमात्; अतीतादिज्ञाने प्रत्यभिज्ञातत्तांशज्ञाने चातिव्याप्तेः।

इन्द्रियसंप्रयोग से जन्य नहीं हो सकता अर्थात् वहाँ कोई रजत हो जिससे संप्रयोग होकर भ्रमज्ञान होता हो ऐसा नहीं और अधिष्ठानसंप्रयोग को अध्यस्तज्ञान में कारण कह नहीं सकते क्योंकि एक से संप्रयोग अन्य का ज्ञान नहीं कराता। अतः न रजत और न उसका ज्ञान इंद्रियसंप्रयोगजन्य हैं। तब इंद्रियादि में स्थित दोष से भ्रम कैसे जन्य होगा?)

संस्कार से जन्य अनुभव भ्रम हो तो प्रत्यभिज्ञा भी भ्रम होने लगेगी जो संमत नहीं, अर्थात् संस्कारजन्य अनुभवरूपता लक्षण अतिव्याप्तिग्रस्त है। किसी भी अभिज्ञा में संस्कार हेतु नहीं होता तो (रजताभिज्ञा में भी नहीं होना चाहिये)। (अभिज्ञा कहते हैं उस अनुभव को जिसका विषय सिर्फ एक देश और एक काल से अवच्छिन्न हो।)

असत् को विषय करने वाला ज्ञान भ्रम नहीं क्योंकि वेदांती असत् की ख्याति या ज्ञान मानता ही नहीं। किं च अतीतता, अनागतता आदि असत् हैं, प्रत्यभिज्ञा में एक हिस्सा जो तत्ता (अतीतदेशादिवैशिष्ट्य) वह भी असत् है, लेकिन इनका ज्ञान प्रमा भी होता है अतः अतिव्याप्ति भी है। (असत् से अलीक अभिप्रेत होने पर अनभ्युपगम दोष कहा और अविद्यमान अभिप्रेत होने पर अतिव्याप्ति। वस्तुतस्तु अतीतत्वादि को ग्रंथकार असत् या अलीक ही मानते हैं: वर्तमानध्वंसप्रतियोगिता ही अतीतता है। यह घटादिका धर्म नहीं क्योंकि जब अतीतता है तब घटादि हैं ही नहीं। अतीततादि हैं कादाचित्क धर्म अतः ये आश्रय के बिना हो नहीं सकते और आश्रय कोई उपलब्ध नहीं। अतः ये असत् रहते ही प्रतीत होते हैं।)

ज्ञान के विशेष्य में न रहने वाला धर्म यदि ज्ञान में प्रकार हो तो ज्ञान व्यधिकरण प्रकारक कहा जाता है क्योंकि विषय रूप से व्यधिकरण जो धर्म

v घ) व्यधिकरणप्रकारकज्ञानताया भ्रमत्वनिरासः

नाऽपि व्यधिकरणप्रकारकज्ञानत्वम्, अन्यथाख्यात्यनभ्युपगमात्, घटे रूपमिति ज्ञाने घटप्रकारकेऽतिव्याप्तेश्च। न च तत्र घटरूपत्वमेव प्रकारो, न घट इति वाच्यम्, रूपे घटवैशिष्ट्यस्य प्रकाशमानत्वाद् घटस्य पूर्वमुपस्थितत्वाच्च। घटरूपत्वस्याऽपि घटघटितत्वात्। स्वरूपसम्बन्धवादिनो रजतादेरवैयधिकरण्याच्च। बाधस्य समवायविषयतयाप्युपपत्तेः। एवं च सर्वप्रत्यययाथार्थ्यं सिद्ध्यति।

v ङ) अतद्वति तत्प्रकारकधियोऽभ्रमता

अत एव न तदभाववति तत्प्रकारकज्ञानत्वम्।

वह ज्ञान में प्रकार बन रहा है। ज्ञान का व्यधिकरणप्रकारक होना भ्रम नहीं कह सकते क्योंकि वेदांती यह नहीं मानता कि भ्रमज्ञान ऐसा है। यह तो अन्यथा-ख्याति में स्वीकार्य है जबकि वह ख्याति सिद्धांती को इष्ट नहीं। किं च यह लक्षण अतिव्याप्त भी है: 'घट में रूप है' इस ज्ञान में घट प्रकार है (रूप विशेष्य है और रूप में घट नहीं रहता) अतः यह व्यधिकरणप्रकारक है किंतु प्रमा है। इसमें घटरूपता ही प्रकार है जो रूप में है ही – यह नहीं कह सकते क्योंकि रूप में घटका वैशिष्ट्य भासता है और भासमान वैशिष्ट्य के प्रतियोगी रूप से घट भी प्रकार ही है। यदि मानते हो कि जनकज्ञान में जो प्रकाशमान हो वही जन्यज्ञान में प्रकार हो सकता है तब भी घट प्रकार हो जायेगा, घट ही रूप की अपेक्षा पहले उपस्थित हो रहा है। किं च घटरूप का घटक घट है ही अतः आंशिक व्यधिकरणप्रकारता हो ही जायेगी। जो वादी घट को स्वरूपसंबंध से रूप में मानेगा वह रजतत्वादिको भी शुक्ति आदि मे मान लेगा और जैसे 'रूप में घड़ा नहीं है' इस बाध को 'रूप में समवाय से घड़ा नहीं है' यों समझायेगा वैसे ही शुक्तिस्थल में भी समझा लेगा। इस तरह सिद्ध होता है कि सभी ज्ञान यथार्थ होते हैं।

इसीलिये जिसमें जिस धर्म का अभाव है उसके विषय में उसी धर्म को प्रकार रखने वाला ज्ञान भ्रम है – यह प्रसिद्ध लक्षण भी घटता नहीं। (क्योंकि यह व्यधिकरणप्रकारकज्ञान को ही कहने का एक ढंग है।)

vi) मिथ्यात्वमध्यस्तत्वमित्यत्र मिथ्यात्वपरीक्षा

क) अत्यन्ताभावप्रतियोगिताऽलक्षणम्

नन्वर्थस्य मिथ्यात्वमध्यस्तत्वमिति चेत्? किमिदं मिथ्यात्वम्?

न तावदत्यन्ताभावस्य, स्वसंसृज्यमानाधिकरणवृत्त्यत्यन्ताऽभावस्य वा प्रतियोगित्वम्; संयोगादावतिव्याप्तेः।

vi ख) तत्रैव निवेशेऽपि दोषः

नाऽपि एकावच्छेदेन स्वसंसृज्यमानाधिकरणनिष्ठात्यन्ताऽभाव-प्रतियोगित्वम्, विरोधेनाऽसम्भवात्।

vi ग) ज्ञाननिवर्त्यतालक्षणं दुष्टम्

नाऽपि ज्ञाननिवर्त्यत्वम्, घटादावतिव्याप्तेः।

यदि कहो कि पदार्थ का मिथ्या होना ही उसका अध्यस्त होना है तो विचारणीय है कि मिथ्या क्या होता है?

अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होना मिथ्यात्व नहीं क्योंकि यह लक्षण घटादि में अतिव्याप्त है। यदि कहो खुद से सम्बद्ध होते अधिकरण में वर्तमान अत्यंताभावका प्रतियोगी होना मिथ्या होना है; तो संयोगादि (अव्याप्यवृत्ति पदार्थों) में अतिव्याप्ति है क्योंकि संयोगाधिकरण में ही संयोगाभाव रह सकता है।

संयोगादि की व्यावृत्ति के लिये यदि कहो कि एक ही अवच्छेद से जब प्रतियोगी और उसका अत्यन्ताभाव एक अधिकरण में वर्तमान हो तब प्रतियोगी मिथ्या कहा जायेगा; तब तो असंभव लक्षण है क्योंकि भाव और अभाव इस तरह एकत्र दीखते नहीं।

ज्ञान से निवृत्त होने वाला मिथ्या होता है-यह कहो तो घटादि में अतिव्याप्ति है। (घट देखकर उसपर दण्डा मारते हैं अतः घटप्रत्यक्ष भी घटध्वंस में कारण है ही। ईश्वरज्ञान तो सभी में कारण पड़ने से घटनाशादि में भी कारण है ही।)

vi घ) जाड्यं न मिथ्यात्वम्

नाऽपि जडत्वम्, सत्यत्वाऽविरोधिमिथ्यात्वस्याऽनिवार्यत्वात्।

vi ङ) अनिर्वचनीयत्वं मिथ्यात्वमिति मतनिरासः

नाऽपि अनिर्वचनीयत्वम्। तच्च सदसद्विलक्षणत्वमिति वाच्यम्। यदि प्रत्येकं विलक्षणत्वम्, असति ब्रह्मणि च अतिव्याप्तिः। यदि समुदितविलक्षणत्वं, तदा प्रतियोग्यप्रसिद्धेरसंभवः। विरुद्धोभय-वैलक्षण्यस्याऽपि विरुद्धत्वात्। अत एव न सत्त्वानधिकरणत्वे सत्यसत्त्वानधिकरणत्वम्। निर्धर्मके ब्रह्मणि अतिव्याप्तेश्च।

जडता ही मिथ्या होना कहो तो अर्थान्तर होगा क्योंकि सत्यता से अविरुद्ध किसी मिथ्यात्व के निरास से अभी कोई अभिप्राय नहीं है।

अनिर्वचनीयता मिथ्यात्व हो यह भी संभव नहीं। सत् और असत् से विलक्षणता अनिर्वचनीयता मानते हो किंतु इसका मतलब यदि है कि सत् से विलक्षण भी मिथ्या है और असत् से विलक्षण भी, तब तो असत् और ब्रह्म दोनों में लक्षण घटने से अतिव्याप्ति है। यदि मतलब है कि जो सदसद्रूप है उससे विलक्षण को मिथ्या कहते हो तो असंभव है क्योंकि वैलक्षण्यप्रतियोगी कुछ ऐसा मिलेगा ही नहीं जो सदसद्रूप हो। यदि तात्पर्य है कि जो सद्विलक्षण भी है और असद्विलक्षण भी वह मिथ्या है तो यह भी अनुचित है: सत् व असत् परस्पर विरुद्ध हैं अतः इन दोनों से विलक्षण होना भी विरुद्ध ही है। (सत्त्व और असत्त्व परस्पर एक-दूसरे के अभावरूप हैं अतः संभव ही नहीं कि दोनों का कहीं अभाव हो। एक का अभाव होते ही दूसरे का सद्भाव हो जायेगा।) इस विरोध के कारण ही जो सत्त्व का अधिकरण न होते हुए असत्त्वका भी अधिकरण न हो वह मिथ्या है - यह भी लक्षण संभव नहीं। किं च सत्त्वादि का अधिकरण न होना तो ब्रह्म में भी सुलभ है क्योंकि उसे निर्धर्मक मानते हो, अतः लक्षण में अतिव्याप्ति भी विद्यमान है।

अध्यस्तता, मिथ्यात्व आदि में कोई प्रमाण हो यह भी लगता नहीं। अध्यस्तता आँख आदि से दिखने वाला अर्थात् प्रत्यक्ष होने वाला पदार्थ तो है नहीं अतः प्रत्यक्ष उसमें प्रमाण नहीं। दृश्यता अदि को हेतु बनाकर अध्यस्तता का अनुमान भी संभव नहीं क्योंकि (सर्वसंमत) कोई दृष्टांत नहीं मिलेगा।

अध्यस्तत्वलक्षणं निरस्य मानं निरस्यति

नाऽप्यध्यस्तत्वादौ प्रमाणं पश्यामः। प्रत्यक्षेण अननुभवात्। न च दृश्यत्वादिना तदनुमानम्, दृष्टान्ताऽभावात्।

न च – असच्चेद् न प्रतीयेत सच्चेद् न बाध्येत, इदं च प्रतीयते बाध्यते चेति तदुभयविलक्षणम् – इति वाच्यम्; असतः प्रतीतिबाध-योरभावे 'इदमसद् न भवति' इति प्रतीतिबाधयोरभावप्रसङ्गात्। असतोऽप-रोक्षज्ञानं नेति चेद्? यदसत्तन्नापरोक्षमिति व्याप्तिज्ञानस्यैवाऽपरोक्षत्वात्। इति चेद्?

अध्यासे सिद्धान्तपक्षः– i क) भाष्यकृतां लक्षणं युक्तम्

मैवम्। न तावदध्यासलक्षणाऽनिरूपणम्। स्मृतिरूपत्वे सति पूर्वदृष्टजातीयत्वस्य तल्लक्षणत्वात्। स्मृतिः स्मर्यमाणम्, तद्रूपत्वं च

असत् होता तो प्रतीत न होता, सत् होता तो बाधित न होता, यह (शुक्तिरजतादि एवं प्रपंच) प्रतीत भी होता है और बाधित भी होता है इसलिये सत् व असत् दोनों से विलक्षण है – यह अर्थापत्ति (प्रतीति व बाध रूप उपपाद्य से सदसद्विलक्षणत्व रूप उपपादक समझना) भी प्रमाणतया उपस्थित की नहीं जा सकती। यदि असत् की प्रतीति और बाध न हों तो ' यह असत् नहीं है' ये प्रतीति और बाध ही नहीं हो पायेंगे! यह कहो कि असत् का अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता तो भी ठीक नहीं, ' जो असत् है वह अपरोक्ष नहीं है' यह व्याप्तिज्ञान ही असत् का अपरोक्ष है (क्योंकि यह हेतु आदि के प्रतिसंधान के बिना ही उत्पन्न है और असत् के बारे में है)!

इस तरह अध्यस्त का न लक्षण है न उसमें काई प्रमाण है। (यहाँ तक विस्तृत पूर्वपक्ष है)।

पूर्वोक्त सभी आक्षेप असंगत हैं। अध्यास का (अध्यस्तका) लक्षण कहना मुश्किल नहीं है। भगवान् भाष्यकार द्वारा ही यह सुस्पष्ट किया गया है: 'स्मृतिरूप ' होते हुए जो पूर्व में दृष्ट की जाति वाला होता है वह अध्यस्त होता है। 'स्मृतिरूप' में स्मृति का मतलब है जिसका स्मरण किया जाये, स्मृतिविषय, और रूप का मतलब है सदृश, सदृशता यहाँ है प्रमाण से न पैदा हुए ज्ञान का

तत्सदृशत्वं, तच्च प्रमाणाऽजन्यज्ञानविषयत्वम्। इदं च प्रातिभासि-काध्यासलक्षणमिति न घटादावव्याप्तिर्दोषः।

i ख) अध्यासस्य सामान्यं लक्षणम्

अध्यासमात्रलक्षणं तु – परत्रावभासत्वम्। अवभास्यत इत्यवभासः, स्वाधिकरणताऽयोग्याधिकरणत्वमिति यावत्। तदत्यन्ता-भावत्वेन तद्वत्त्वेन वा तदाश्रयस्य तदधिकरणताऽयोग्यत्वम्। न च विरोधादसम्भव इति वक्ष्यते। एतदभिप्रेत्य भगवता भाष्यकारेणोक्तं 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः' इति।

विषय होना। क्योंकि यह प्रातिभासिक अध्यस्तों का लक्षण है इसलिये व्यावहारिक घटादि में न जाये तो कोई दोष नहीं। (घटादि प्रत्यक्षादि के विषय हो जाते हैं। दृष्टांतप्रसिद्धि केलिये पहले प्रातिभासिक का ही लक्षण चाहिये।)

अध्यास का अनुगत लक्षण है– 'अन्यत्र अवभास होना'। अनुभव का विषय यहाँ अवभास समझना चाहिये (क्योंकि अध्यस्त का अर्थात् अर्थाध्यास का प्रसंग है)। 'अन्यत्र' का अभिप्राय है अपनी अधिकरणता के अयोग्य अधिकरण में अर्थात् जो जहाँ हो नहीं सकता उसका वहाँ अवभास होना अध्यस्त होना है। अध्यस्यमान का अत्यन्ताभावरूप हो या उसके अत्यन्ताभाव वाला हो ऐसा जो अध्यस्यमान का अश्रय वह उसकी अधिकरणता के अयोग्य समझना चाहिये। (आरोपित का अत्यन्ताभाव अधिष्ठानरूप होता है यह एक मत है और अधिष्ठान में आरोपितका अत्यन्ताभाव रहता है यह दूसरा मत है अतः दोनों तरह कह दिया।) अपने अयोग्य अधिकरण में रहना युक्तिविरुद्ध नहीं यह आगे समझायेंगे। इस लक्षण के तात्पर्य से श्रीभगवान् भाष्यकार ने कहा कि 'पूर्वदृष्टका अन्यत्र स्मृतिरूप अवभास अध्यास है'। (भाष्यीय लक्षण अर्थाध्यास व ज्ञानाध्यास दोनों में घटाया गया है। अर्थाध्यास के अभिप्राय में अवभास पद कर्मव्युत्पत्ति से है और ज्ञानाध्यास के अभिप्राय में भावव्युत्पत्ति से। ऐसे ही 'स्मृतिरूपः' में अर्थपक्ष के अभिप्राय से स्मृति के विषय को स्मृति कहा और ज्ञानपक्षमें स्मरण को। 'दृष्ट' को भी ज्ञात विषय अर्थ में समझकर तत्सजातीय के अभिप्राय से प्रयुक्त समझना चाहिये। अथवा रत्नप्रभानुसार दृष्ट का मतलब

i ग) भाष्यीयस्य कार्याध्यासलक्षणत्वम्

अत्र केचित् स्मृतिरूपपदेन पूर्वोक्तसम्प्रयोगादिकारणत्रितय-जन्यत्वस्य विवक्षितत्वात् कार्याध्यासस्य लक्षणमित्याहुः। तत्र लक्षण-शब्दः स्वरूपपरः, सम्प्रयोगादिविशेषणत्रयस्य उपयोगाऽभावात्।

ii) लक्षणान्तरम्

दोषजन्यत्वे सति संस्कारजन्यत्वं वा लक्षणम्। दोषत्वेन कारणत्वं न विवक्षितमिति न व्यर्थविशेष्यत्वम्। अनुमितौ न लिङ्गं कारणमिति दोषलिङ्गकानुमितौ सिद्धान्ते नातिव्याप्तिः।

दर्शन कर लेना चाहिये और पूर्व हुआ दर्शन संस्कार के द्वारा जिसका अवभास करे वह अध्यास है यह समझना चाहिये। अर्थ और ज्ञान दोनों में योजना प्रकाशात्मश्रीचरण ने कही है 'यदा ज्ञानविशिष्टोऽर्थोऽध्यासः तदा – स्मर्यमाणसदृशः अन्यात्मनाऽवभासमानोऽन्योऽर्थोऽध्यासः, ... यदा पुनरर्थविशिष्टं ज्ञानमेवाध्यासः तदा स्मृतिसमानोऽन्यस्यान्यात्मनाऽवभासोऽ-ध्यास इति' (विव. पृ. ७७)।)

कुछ आचार्य– जैसे तत्त्वदीपनकार – इस लक्षण में 'स्मृतिरूप' पद से पूर्वोक्त सम्प्रयोगादि तीनों कारणों से जन्य होना अभिप्रेत मानते हैं अतः इसे कार्याध्यास का लक्षण कहते हैं। ('सम्प्रयोगदोषजन्यत्वसिद्ध्यर्थं स्मृतिरूप-विशेषणम्' इस तत्त्वदीपन वाक्य से (पृ. १२६) स्पष्ट है कि यह कार्याध्यास का प्रतिपादक है अन्यथा 'जन्य' शब्द न होता। अतएव रत्नप्रभा में भी 'दोषत्रितयजन्यत्वं कार्याध्यासलक्षणमित्याहुः' ऐसा बताया है। संप्रयोग, दोष और संस्कार– ये तीन भ्रमके प्रति कारण होते हैं। यह बात पंचपादिका में (पृ.९४-९५) ही व्यक्त कर दी है।) जब इसे कार्याध्यास में ही घटाना हो तब 'स्मृतिरूप' इत्यादि वाक्य से अध्यास का स्वरूप समझाया जा रहा है ऐसा मानना चाहिये, असाधारणधर्म रूप प्रसिद्ध लक्षण विवक्षित नहीं समझना चाहिये क्योंकि सम्प्रयोगादि तीनों विशेषणों का पदकृत्य नहीं है, स्पष्टार्थता के लिये प्रयोग है जो लक्षण में अनिष्ट होता है। (पंचपादिका में (पृ. १२६) यह भी विचारित है।)

अथवा कार्याध्यास का यह लक्षण है– दोषजन्य होते हुए संस्कारजन्य

iii) सम्प्रयोगघटितं लक्षणम्

सम्प्रयोगशब्देन च तज्जन्यमधिष्ठानसामान्यज्ञानं विवक्षितं तत्तश्च – अधिष्ठानसामान्यज्ञानजन्यत्वे सति दोषजन्यत्वं – लक्षणान्तरम्। दोषादेरनन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकाभ्यां विनिगमकाभावेन चोभयत्रापि हेतुत्वमिति नाऽसम्भवः।

iv) वाचस्पत्यं लक्षणम्

मिश्रास्तु स्मृतिरूपपदेन असन्निहितत्वं विवक्षित्वा – असन्निहितत्वे सति परत्रावभासोऽध्यास इत्याहुः। असन्निहितत्वमपि – वस्तुतोऽधिष्ठानेऽसत्त्वम्, इति नान्यथाख्यातिरिति तद्व्याख्यातारः। एतच्च परत्रेति पदसामर्थ्यादुक्तमिति न तद्वैयर्थ्यम्।

होना। यहाँ 'दोष' से सभी कारण नहीं समझ सकते क्योंकि तब संस्कार भी कारण होने से दोषान्तर्गत आ जाता जिससे 'संस्कारजन्यत्वम्' न कहना पड़ता। अतः दोषतया जनकता से निरूपित जन्यता विवक्षित है। (विपर्यय का हेतु दोष कहा जाता है – यह विवरण में (पृ. ९५) बताया है।) अनुमिति में लिंग को कारण नहीं माना जाता (किंतु लिंगज्ञानको) अतः दोष को लिंग बनाकर हुई अनुमिति में दोषजन्यत्व न होने से अतिव्याप्ति नहीं है।

सम्प्रयोग का अर्थ है सम्प्रयोगसे जन्य अधिष्ठान का सामान्य ज्ञान। अतः यह भी एक संभव लक्षण है– अधिष्ठान के सामान्य ज्ञान से जन्य होते हुये दोषजन्य होना अध्यस्त होना है। (इस प्रकार स्वप्न व अहंकाराध्यास में अव्याप्ति नहीं। यहाँ अधिष्ठान का सामान्य ज्ञान ही विवक्षित है न कि सम्प्रयोगजन्य वैसा ज्ञान।) दोषादि का अन्वय-व्यतिरेक जब अन्यथासिद्ध नहीं है तब उन्हें ज्ञान के प्रति ही कारण मानने का कोई नियामक न होने से अर्थ के प्रति भी कारण मानना उचित है, एवं च लक्षण असंभवग्रस्त नहीं कहा जा सकता।

भामतीकार 'स्मृतिरूप' पद से 'सन्निहित न होना' अभिप्राय मानते हैं और लक्षण करते हैं–जो असन्निहित होते हुए अन्यत्र अवभास हो वह अध्यास (अध्यस्त) है। असन्निहित होने का मतलब दूर कहीं मौजूदगी नहीं है कि अन्यथाख्याति होती बल्कि इतना ही है कि अधिष्ठान में सचमुच न होना। यह

मिथ्यात्वे सिद्धान्तः i) विवरणोक्तलक्षणम्

नाऽपि मिथ्यात्वस्याऽनिरुक्तिः। प्रतिपन्नोपाधावभावप्रतियोगित्वस्य तल्लक्षणत्वात्। तच्च एकावच्छेदेन स्वसंसृज्यमानाधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् इति केचित्। अस्ति हि शुक्तौ रजतप्रत्यक्षम्। तच्च

बात भामतीव्याख्याकार श्रीमदमलानन्दजी ने समझाई है। ('असंनिहितस्य परत्र प्रतीतिरध्यास इति लक्षणमुक्तम्। असंनिधानं च आरोप्यस्य अधिष्ठाने परमार्थतोऽसत्त्वम् इति नाऽपराद्धान्तः। कल्प. पृ. १९) इस लक्षण में परत्रपद का क्या प्रयोजन? यदि परत्र न कहते तो 'असंनिकृष्ट का अवभास' यही लक्षण बनता जबकि अभिप्राय है 'वस्तुतः असंनिकृष्ट रहते हुए ही वहाँ विद्यमान होकर अवभास'। यही स्पष्ट करना परत्रपदका प्रयोजन है।

अध्यस्तता पर शंका करते हुये षष्ठ लक्षण में दोष दिया था कि मिथ्यात्व का निरूपण नहीं हो सकता, किन्तु वह दोष गलत है। मिथ्यात्व का प्राचीन आचार्यों को संमत यह प्रसिद्ध लक्षण है – प्रतिपन्नोपाधि में होने वाले अभाव का प्रतियोगी होना मिथ्या होना है। (प्रतिपन्न अर्थात् ज्ञात जो रजतादि, उसका उपाधि अर्थात् अधिष्ठान, उसमें विद्यमान अभाव है रजतका, जिसका प्रतियोगी रजत है अतः लक्षणसमन्वय है। लघुकौमुदी में स्पष्ट किया कि प्रतिपन्नोपाधि का मतलब है – स्वप्रकारकधीविशेष्य जो अधिकरण वह। स्व से मिथ्यात्वेन अभिमत रजतादि लेने चाहिये।) संयोगादि अव्याप्यवृत्ति पदार्थों में अतिव्याप्ति मिटाने के लिये अवच्छेदकभेद की व्यावृत्ति कर देनी चाहिये और अभाव भी अत्यंताभाव विवक्षित है यह स्पष्ट कर देना चाहिये। जिस अवच्छेद से 'स्व' जिस अधिकरण से सम्बद्ध है उसी अवच्छेद से उसी अधिकरण में विद्यमान अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होना – यह निर्दुष्ट लक्षण उन आदरणीय आचार्य को अभिप्रेत है। सींप आदि में चाँदी आदिका प्रत्यक्ष होता ही है जो न सत् को और न अन्य देश में स्थित को विषय करता है यह कह ही चुके हैं। अतः उसका विषय वहीं – जहाँ चाँदी दीख रही है वहीं – मानना पड़ेगा। किंतु वहाँ रजत को अबाध्य सद्रूप कह नहीं सकते क्योंकि बाद में अनुभव होता है 'यह वस्तु कभी भी रजत नहीं हुआ करती'। जैसे रजतज्ञान का बाध होता है वैसे इस रजतनिषेध का बाध नहीं होता अतः रजत का अभाव वास्तविक है।

नाऽसद्विषयं, दृचेशान्तरीयरजतविषयं वेति उक्तम्। ततश्च तत्रैव रजतमभ्युपगन्तव्यम्। न ह्यत्र सत्; 'कालत्रयेऽपि इदं रजतं न भवती' ति प्रतीतेः। सा च प्रतीतिः रजतप्रतीतिरिव न बाध्यत इत्यभावः परमार्थः।

भावाभावसामानाधिकरण्योपपत्तिः

ततो न विरोधादसम्भवः। समानसत्ताकयोरेव भावाभावयोर्विरोधात्। अयं चाऽभावोऽधिष्ठान एव वर्तते। अन्यत्र वर्तमानस्तु प्रतियोगिसमानसत्ताकोऽन्य एव, परैरपि स्वोपादानेऽन्यत्र वर्तमानाभावयोर्भेदाभ्युपगमात्। न च कल्पिताऽभावस्य कथं परमार्थत्वमिति

अनुभूयमान व बाध्य होने से यह नहीं कह सकते कि भाव–अभाव विरुद्ध होने से एकत्र रहेंगे नहीं जिससे उक्त लक्षण असंभवग्रस्त है। जिन भाव–अभाव की समान सत्ता होती है उन्हीं का विरोध मान सकते हैं। प्रातिभासिक रजतका वास्तविक रजताभाव से विरोध नहीं। किन्तु यह अभाव अधिष्ठान में ही रहता है। प्रतियोगी के समान सत्ता वाला जो अभाव अन्यत्र (अधिष्ठान से अन्यत्र) रहता है वह इस अभाव से पृथक् ही है (जिससे अन्यत्र उनके विरोध का अनुभव संगत है)। अन्य वादी भी अपने उपादान में रहने वाले अभाव को अन्यत्र रहने वाले अभाव से पृथक् मानते ही हैं। कल्पित प्रतियोगी वाला अभाव वास्तविक कैसे? इस उपपत्तिसे है – प्रतियोगी यदि कल्पित न होता तो उसके अधिकरण में उसका अभाव वास्तविक न होता; वह कल्पित है अतः अभाव वास्तविक है। अतीत आदि असत् प्रतियोगियों वाले अभाव की तरह रजतात्यन्ताभाव का भी बाध होता नहीं अतः इसे भी वास्तविक मानना पड़ेगा। (प्रातीतिक रजत का व्यावहारिक अभाव अधिष्ठान से अन्यत्र रहता है यह मानकर उस अभाव को अधिष्ठानस्थ अभाव से पृथक् मानना पड़ा है क्योंकि अन्यत्र विद्यमान अभावका तो प्रातीतिक रजत से विरोध है ही कारण कि वहाँ वह रजत विद्यमान नहीं है। पूरणी टीका में यह भी संभावना स्वीकार ली है कि प्रातीतिक रजत का घटादिमें अभाव प्रतीतिसिद्ध नहीं अतः प्रातीतिकों से व्यावहारिकों को स्वतः ही व्यावृत्त समझ लेना चाहिये। किन्तु ग्रंथकारसंमत पक्ष ही समुचित है क्योंकि स्वतोव्यावृत्ति मानना संगत नहीं।)

वाच्यम्; प्रतियोगिनः कल्पितत्वाभावे तदधिकरणे तदभावस्य वस्तुत्वाऽयोगात्। अतीताद्यसत्प्रतियोगिकस्येव अस्यापि बाधाभावाच्च।

ii) मिथ्यात्वस्य लक्षणान्तरम्

अथ वा – सत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वाऽत्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वं मिथ्यात्वम्। सत्त्वं च – अधिष्ठानस्वरूपमेव अवच्छेदकं, न तद्गतम्, इति न तत्प्रतियोगिना सामानाधिकरण्यानुपपत्तिः।

iii) सिद्धान्तरहस्यभूतलक्षणम्

अन्ये तु कल्पितप्रतियोगिकविरहैकस्वभावाऽभावस्य न परमार्थत्वं वक्तुं शक्यं; तद्विरहत्वस्य वास्तवत्वाऽयोगात्, तदभावे च तस्य तद्विरहात्मत्वं कल्पितमेवेति न विरहरूपाऽभावसिद्धिः। न हि निष्प्रतियोगिकोऽपि विरहरूपोऽभावोऽस्ति। ब्रह्मातिरिक्तवस्त्वभ्युपगमेऽद्वैतश्रुतिविरोधाच्च।

अथ वा यह लक्षण संभव है – सत्त्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाला जो 'स्व' का अत्यंताऽभाव उससे सामानाधिकरण्य रखना मिथ्या होना है। यहाँ 'सत्त्व' जो अवच्छेदक कहा है वह अधिष्ठानस्वरूप (चैतन्य) ही है न कि रजतादिगत कोई धर्म। अतः यह अभाव प्रतियोगी के समानाधिकरण हो जाता है (अवच्छेद्य से सम्बद्ध होने मात्र से अवच्छेदकता संभव है, अवच्छेद्य में वृत्ति होना आवश्यक नहीं। चैतन्य भी रजत का अधिष्ठान होने से रजतसम्बन्धी है अतः अवच्छेदक समझा जा सकता है। इस प्रकार रजताभाव अवच्छेदक से समान सत्ता वाला अर्थात् वास्तविक है अतः मिथ्या रजत से उसे विरोध नहीं यह तात्पर्य है। यहाँ प्रतियोगिता सत्त्व से अवच्छिन्न होने पर भी प्रतियोगी स्वाभावसमानाधिकरण होने से सत्य नहीं है यह चमत्कार है।)

अन्य आचार्यों का विचार है: कल्पित प्रतियोगी वाला और सिर्फ अभावरूप अभाव पारमार्थिक (वास्तव सत्य) हो यह कहना नहीं बनता। ('सिर्फ अभावरूप' अर्थात् जो अभाव अधिष्ठानरूप नहीं होता, भावत्व का अनधिकरण ही होता है।) जब रजतादि प्रतियोगी मिथ्या है तब उससे निरूपित अभावता वास्तविक नहीं हो सकती। वास्तविक न होने पर अभाव की जो प्रतियोगिविरहरूपता है उसे कल्पित ही होना पड़ेगा अतः विरहरूप अभाव (भावत्वानधिकरण अभाव) ही सिद्ध नहीं होता। बिना प्रतियोगी के भी

तस्माद् भूतलाद् घटाद्यभाववद् अधिष्ठाने आरोपिताभावो न ततोऽतिरिच्यते, किन्तु सर्वाधिष्ठाननिराश्रयचैतन्यमेव। अधिकरणभिन्नसत्ताकप्रतियोगिकाऽभावस्यैवाधिकरणाद् भेदात्। न च लाघवात् प्रतियोगिभेदमात्रमभावस्याधिकरणभेदे प्रयोजकमिति वाच्यम्; रजताधिकरणे तत्कालीनतया प्रमीयमाणाभावस्य अधिष्ठानाद् भेदानुपपत्त्या गुरुशरीरस्यापि भिन्नसत्ताकत्वस्यैव प्रयोजकत्वात्। अत एव घटादौ शुक्तिरजताद्यभावोऽन्य एव।

तथा च– स्वाऽनधिकरणाऽनधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्। स्वस्यानधिकरणं घटादि, तदनधिकरणं यस्य,

विरहरूप अभाव हो यह संभव नहीं (क्योंकि तब निरपेक्ष होकर प्रतीत होना चाहिये)। किं च ब्रह्म से अतिरिक्त अभाव को भी वास्तविक मान लेनेपर 'एकमेवाद्वितीयम्' आदि श्रुतियों का विरोध होगा। इसलिये जैसे भूतलादि से घटादि का अभाव अलग होता है ऐसे आरोपित का अभाव अधिष्ठान से अलग नहीं होता है किंतु सबका अधिष्ठान एवं स्वयं कहीं आश्रित न होने वाला चैतन्य ही (कल्पित का अभाव है)। जिस अभाव का प्रतियोगी अधिकरण से भिन्न (स्वतंत्र) सत्ता वाला होता है वही अभाव अधिकरण से भिन्न होता है। (घटसत्ता भूतलसत्ता से अलग है जबकि रजतसत्ता शुक्तिसत्ता से अलग नहीं है।) अभाव का अधिकरण से भेद हो इसमें नियामक प्रतियोगी के भेद को ही क्यों न माना जाये जबकि यह मानना लाघवोपेत है, सत्ताभेद का परामर्श क्यों? रजत के अधिकरण में रजतकालिक रूप से प्रमित होता हुआ जो अभाव (बाधधीगम्य अभाव) वह अधिष्ठान से भिन्न हो यह अयुक्त होने से 'भिन्नसत्ताक होना' इतना कहने में गौरव होने पर भी यही प्रयोजक (नियामक) मानना उचित है। इसलिये– घटादि से भिन्न (स्वतंत्र) सत्ता वाले प्रतियोगी वाला होने से– घटादि में होने वाला शुक्तिरजतादि का अभाव अन्य ही है (अधिकरणरूप नहीं है। शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य ही शुक्तिरजत का अभाव है)।

इस प्रकार यह मिथ्यात्वलक्षण निष्पन्न होता है– ऐसे अत्यन्ताभावका प्रतियोगी होना जो उसमें नहीं रहता जहाँ 'स्व' नहीं रहता, मिथ्यात्व है। 'स्व' (मिथ्यात्व वाला रजतादि) नहीं रहता घटादि में और वहाँ नहीं रहता

तत्प्रतियोगित्वम्। ब्रह्मरूपात्यन्ताभावश्च तथेति नाऽसम्भवः। सत्यज्ञानानन्दात्मन एव ब्रह्मणः प्रपञ्चात्यन्ताभावत्वमिति न शून्यतापत्तिः। एतच्चान्यत्रोपपादितमिति नात्र प्रपञ्च्यते।

अनिर्वचनीयतोपपादनम्– i) मिथ्यात्वमेवानिर्वचनीयत्वम्

एतदेवाऽनिर्वचनीयत्वम्। तदुक्तम् 'मिथ्याशब्दो द्व्यर्थः – अपह्नववचनः, अनिर्वचनीयतावचनश्च' इति (पंचपा. पृ. ४२)।

ii) सद्विविक्तत्वं वा तल्लक्षणम्

अथ वा – सदन्यत्वमनिर्वचनीयत्वम्। न चाऽसति अतिव्याप्तिः; अन्यत्वादिधर्मयोग्याऽसद्रूपाङ्गीकारे तस्य प्रपञ्चान्तःपातात्, बाह्याभ्युपेताऽसतो निःस्वरूपत्वात्।

शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यरूप रजताद्यभाव; उस अभाव की प्रतियोगिता है रजतादि 'स्व' में अतः लक्षणसमन्वय हो जाता है। ब्रह्मरूप जो (रजतादिप्रतियोगिक) अत्यन्ताभाव है वह वैसा है(अवृत्ति होने से घटादि उसका अधिकरण नहीं है) अतः लक्षण में असंभव दोष नहीं। सत्य ज्ञान आनन्द आत्मरूप ही ब्रह्म प्रपंच का अत्यन्ताभाव है अतः शून्यता का प्रसंग नहीं। (श्रुति ने ब्रह्म को ही 'प्रपंचोपशम' भी कहा है अतः उसे प्रपंचनिषेधरूप मानना श्रुतिसंमत है।) इस बात को अन्यत्र युक्तियुक्त बताया गया है अतः यहाँ विस्तार नहीं किया जा रहा।

(शंकाग्रंथ में (vi ङ) अनिर्वचनीयता को दुर्निरूप कहा था। उसका परिहार करते हैं-) यह मिथ्यात्व ही अनिर्वचनीयता है। यह बात आचार्यों ने बतायी है यह कहकर कि 'मिथ्या' शब्द के दो अर्थ हैं– एक अपह्नव (निषेध) और दूसरा अनिर्वचनीयता। (अतः मिथ्यात्वनिरुक्ति से अनिर्वचनीयता भी निरूपित हो गयी।)

या अनिर्वचनीयता का मतलब है सत् से अन्य होना। सत् से भिन्न तो असत् (अलीका) भी है अतः यह लक्षण अतिव्याप्त क्यों नहीं? इसलिये कि असत् को यदि सत् से अन्यतारूप धर्म का आश्रय मानो तो वह लक्ष्यभूत प्रपंच के अन्तःपाती ही रहेगा और यदि वेदबाह्य बौद्धों द्वारा स्वीकृत असत् की बात करो तो वह निःस्वरूप होने से अन्यत्वधर्मवाला नहीं अतः उसमें सदन्यतारूप लक्षण जायेगा ही नहीं।

किं च असन्नाम किञ्चिदस्ति चेद्, असत्त्वव्याघातः; नास्ति चेद्, कुत्राऽतिव्याप्तिः?

सत्त्वं बाधाऽयोग्यस्वरूपं, न तु सत्त्वविशिष्टं, सत्त्वस्यैवाऽसत्त्वापातात्। न च सत्त्वेऽपि सत्त्वं वर्तते, सत्त्वान्तरे प्रमाणाभावात्। स्वस्य स्ववृत्तित्वायोगाच्च। अतो निर्धर्मके ब्रह्मणि नातिव्याप्तिः, न च सत्त्वविशिष्टे प्रपञ्चेऽव्याप्तिर्वा।

सदसद्विलक्षणतोक्तेरभिप्रायः

तत्तद्वादिनं प्रति प्रपञ्चस्य सत्त्वादिविरुद्धसाध्याभिप्रायेण सिद्धान्तग्रन्थे सदन्यत्वे सति असदन्यत्वे सति उभयात्मकान्यत्वमित्युक्तम्।

किं च असत् कुछ है या नहीं? यदि है तो उसकी असद्रूपता मानना विरुद्ध है (क्योंकि है मतलब सत्, सत् भी कहो असत् भी तो विरोध है ही)। यदि असत् को कहो कि नहीं है तो अतिव्याप्ति किसमें बताओगे?

इस लक्षण में सत् का अर्थ है बाध के अयोग्य होना, न कि सत्त्वरूप किसी धर्म वाला क्योंकि तब सत्त्व की ही असत्ता माननी पड़ जायेगी। सत्त्व में भी सत्ता हो नहीं सकती क्योंकि आधेय सत्त्व और आधार सत्त्व यों विभिन्न सत्त्व होने में कोई प्रमाण नहीं तथा स्वयं सत्त्व का स्वयं में ही रह सकना अयुक्त है। अभेद कोई संबंध नहीं होता। एवं च निर्धर्मक ब्रह्म में अतिव्याप्ति भी नहीं और सत्त्व वाले प्रपंच में अव्याप्ति भी नहीं। (सत्त्ववान् को सत् कहते तो सद्भिन्नता ब्रह्म में आ जाती क्योंकि उसमें सत्त्व कोई धर्म नहीं है। बाधयोग्य से अन्य को ही सत् मानने से उस संभावना की समाप्ति हो गयी।)

(यद्यपि सदन्यता कहना पर्याप्त है तथापि) सिद्धान्तबोधक ग्रन्थों में जो यह कहा जाता है कि सत् से, असत् से, और सदसत् दोनों से अन्य होना मिथ्या या अनिर्वचनीय होना है, वह इसलिये कि विभिन्न वादी जो सत्त्वादि मानते हैं उनसे विरुद्ध मिथ्यात्वरूप हमारा साध्य है। 'हृदयहीन प्रष्टा केलिये उत्तर भी हृदयहीन उचित है' इस नीति से जो अनिर्वचनीयातिरिक्त असत् मानते हैं उन्हें मिथ्यात्व स्पष्ट करने के लिये असदन्यता भी संमान्य ग्रंथों में कही गयी है न कि इस अभिप्राय से कि असदन्यत्व रूप किसी धर्म का वैशिष्ट्य प्रपंच में है। असत्–आकार का जो ज्ञानाभास होता है उसका विषय कुछ नहीं होता (कि

तत्र च 'अहृदयवाचाम् अहृदयमुत्तरम्' इति न्यायेन असदन्यत्वं प्रपञ्चस्योक्तं, न तु तत्त्वाभिप्रायेण। असदाकारज्ञानाभासस्य निर्विषयताया अन्यत्रोपपादितत्वात्। तस्मात् सिद्धमध्यासादिलक्षणम्।

मिथ्यात्वे मानानि – i) प्रत्यक्षम्

प्रमाणं च – 'सदिदं रजतम्' इति तावत् प्रत्यक्षम् अनिर्वचनीयत्वे। तत्र न तावद् रजतस्वरूपमेव सत्, सच्छब्दस्य रजतपर्यायत्वेन अप्रसिद्धेः, प्रपञ्चमात्रानुगतसद्बुद्धेस्तद्विषयत्वानुपपत्तेश्च। नाऽपि सत्ता तस्य धर्मः, चैतन्यातिरिक्तसत्ताधर्मे प्रमाणाभावात्, सत्ताजातेः सर्वत्राऽप्रसिद्धेश्च। बाधाऽयोग्यत्वस्य आत्मनोऽन्यत्र प्रमाणाभावात्। प्रपञ्चे तद्बुद्धेरन्यथाऽप्युपपत्तेः। शुक्तिरजतादेः प्रत्यक्षं बाध्यमानत्वाच्च। तस्माद् अधिष्ठानसद्व्यक्तितादात्म्यमेव इदं ज्ञानं विषयी करोतीति सदन्यद्रजतं प्रत्यक्षविषयः।

उसे अवधि कर उसके भेद का विधान करना युक्तियुक्त हो), यह भी अन्यत्र समझाया गया है। (विकल्पवृत्ति को 'वस्तुशून्य' कहकर योगाचार्यों ने इसे स्पष्ट किया है।)

इस प्रकार अध्यास, मिथ्यात्व आदि के लक्षण निर्धारित हो जाते हैं।

मिथ्यात्वमें प्रमाण भी हैं। अनिर्वचनीयता में प्रत्यक्ष प्रमाण यह अनुभव ही है कि 'यह रजत है'! इसमें पता चलता है कि जो 'रजत' वही 'है'। यहाँ रजत का स्वरूप ही 'है' नहीं हो सकता क्योंकि 'है' शब्द रजत अर्थ का बोधक कहीं नहीं माना जाता। 'है' ऐसा ज्ञान सारे प्रपंच का होता रहता है अतः उसे रजतविषयक ही माना भी नहीं जा सकता। रजत का धर्म सत्ता हो यह भी बनता नहीं क्योंकि चैतन्य से अतिरिक्त कोई धर्मरूप सत्ता अप्रामाणिक है। जहाँ सत्त्वबुद्धि हो वहाँ सत्ता जाति हो ऐसा माना भी नहीं जाता क्योंकि सामान्यादि में वह अमान्य है। बाध के अयोग्य होना रूप सत्त्व भी आत्मा से इतरत्र हो इसमें कोई प्रमाण संभव नहीं। प्रपंचविषयक सद्बुद्धि प्रपंच के बाधाऽयोग्य होने के बिना भी उपपन्न है अतः सद्बुद्धि को प्रपंच की अबाध्यता में प्रमाणतया उपस्थित नहीं कर सकते। किं च विचार्यमाण शुक्तिरजतादि तो सामने ही सामने बाधित हो जाता है अतः उसमें अबाध्यतारूप सत्त्व संभावनीय भी नहीं।

ii क) अनुमानम्

अनुमानं च – विमतं सदन्यत्, बाध्यत्वाद्, यन्नैवं तन्नैवं यथाऽऽत्मा।

ii ख) अनुमानान्तरम्

एवं मिथ्यात्वेऽपि प्रयोक्तव्यम्। यथा – अव्याप्यवृत्त्यत्यन्ताऽभावाऽप्रतियोगि शुक्तिरजतं, स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगि, दृश्यत्वात्, संयोगवत्। घटादिकं च पक्षतुल्यम्।

इसलिये 'यह रजत है' इस ज्ञान का विषय है रजत के अधिष्ठानभूत सद्व्यक्ति से रजत का तादात्म्य। (सद्व्यक्ति अर्थात् शुक्त्यवच्छिन्न चेतन।) इसलिये सत्से व्यतिरिक्त– अर्थात् मिथ्या रजत प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय है। (सत् से तादात्म्य होने का मतलब ही है कि सत् से भेद है क्योंकि 'भिन्न होते हुये अभिन्नसत्ताक होना' ही तादात्मय माना गया है।)

अनिर्वचनीयता में अनुमान भी संभव हैं। विचारणीय रजतादि सत् से अन्य है क्योंकि बाध्य है, जो सत् से अन्य नहीं होता वह बाध्य भी नहीं होता जैसे आत्मा। (प्रश्न होगा कि सदन्यतारूप साध्य कैसे प्रसिद्ध किया जाये? इसका उत्तर चित्सुखादि का अनुसरण करते हुए पूरणीकारने दिया है कि इस अनुमानसे साध्य प्रसिद्ध हो जायेगाः सत्त्व, किसी–न–किसी में रहने वाले अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक है, धर्म होने के कारण जैसे गोत्व। इससे सत्त्वावच्छिन्न भेद प्रसिद्ध हो जाता है।)

इसी तरह मिथ्यात्वसाध्यक प्रयोग बन जाते हैं (क्योंकि अनिर्वचनीयता मिथ्यात्व ही है)। एक अनुमान यह भी है – अव्याप्यवृत्ति अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी न होने वाला शुक्तिरजत अपने समानाधिकरण अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है क्योंकि दृश्य है,जैसे संयोग। (संयोगमें साध्य वादिसंमत है किंतु वहाँ जिसका प्रतियोगित्व है वह अव्याप्यवृत्ति अत्यंताभाव है अतः मिथ्यात्वापादक न होने से पक्षसमता की शंका संभव नहीं। रजत का अभाव रजताधिकरण में अन्यावच्छेद से उपलब्ध होता नहीं अतः यह स्वीकारना संगत है कि वह अव्याप्यवृत्ति अत्यन्ताभावका अप्रतियोगी है अर्थात् पक्ष का विशेषण भी असिद्ध नहीं है। इस अनुमान के लिये अनुकूल तर्क है कि यदि ऐसा न हो तो वहीं रजत के त्रैकालिक निषेध की प्रमा उपपन्न न हो। 'त्रैकालिकनिषेध-

ii ग) ब्रह्मरूपात्यन्ताभावघटितलक्षणानुसारि अनुमानम्

एवम् – स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाऽप्रतियोगि शुक्तिरजतं स्वाऽनधिकरणमात्राऽवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगि, दृश्यत्वात्, संयोगवत् अन्यथाख्यात्यादिनिराकरणेन शुक्तिरूप्यस्य सधितत्वाद् नाश्रयासिद्धिः।

iii क) अर्थापत्तिः

भ्रान्तिज्ञानत्वप्रसिद्ध्यन्यथानुपपत्त्याऽपि ज्ञेयस्य मिथ्यात्वम्।

प्रमानुपपत्तिर्विपक्षे बाधिका'। दृश्यत्व का मतलब है चैतन्यविषयत्व अतः वृत्तिविषयमात्र ब्रह्म में व्यभिचार नहीं।) घटादि में व्यभिचार इसलिये नहीं दिखा सकते कि वे सब पक्षतुल्य ही हैं।

ऐसे ही 'सिद्धान्तरहस्यभूतलक्षण' के अनुसार यह अनुमान है – अपने समानाधिकरण अत्यन्ताभावका अप्रतियोगी जो शुक्तिरजत, वह अपने अनधिकरणमात्र में न रहने वाले अत्यन्ताभावका प्रतियोगी है, दृश्य होने के कारण, संयोग की तरह। (यहाँ साध्य है – 'स्व' के अनधिकरणमात्र में न रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होना। अत्यन्ताभाव दो हालतों में स्वानधिकरणमात्र में अवृत्ति होगा– या इसलिये कि वह 'स्व' के अधिकरण में भी रहता है; और या इसलिये कि सभी जगह अवृत्ति है। दृष्टांत में तो संयोग का अत्यन्ताभाव इसलिये स्वानधिकरणमात्राऽवृत्ति है कि वह संयोगाधिकरण में भी रह जाता है। शुक्तिरजतरूप पक्ष में 'स्व' का समानाधिकरण अत्यन्ताभाव तो अनुपलब्धि से सिद्ध होने से पक्षका विशेषण उपपन्न है। अब साध्यभूत प्रतियोगित्व स्वाधिकरणवृत्ति-अत्यंताभाव के सहारे मिलेगा नहीं अतः अत्यंत अवृत्ति अत्यंताभाव लेना पड़ेगा जो ब्रह्मरूप ही मिलेगा। ब्रह्मरूप अत्यंताभाव का प्रतियोगी होना ही मिथ्यात्व है।) यहाँ आश्रय या पक्ष की असिद्धि शंकनीय नहीं क्योंकि अन्यथाख्याति आदि के निरास से शुक्तिरूप्यनामक पदार्थ प्रसिद्ध किया जा चुका है।

अर्थापत्ति से भी अनिर्वचनीय अर्थ सिद्ध हो जाता है। यह प्रसिद्ध है कि भ्रांतिरूप ज्ञान होता है। उसका ज्ञेय मिथ्या न हो तो वह ज्ञान भ्रांति नहीं हो सकता। अतः उपपाद्यरूप भ्रांति से उपपादकरूप मिथ्या ज्ञेय की सिद्धि हो जाती

iii ख) ख्यातिबाधानुपपत्तिरूपार्थापत्तिः

सत्त्वे बाधाऽयोगाद्, असत्त्वे चाऽपरोक्षत्वाऽयोगाच्च सदन्यत्व-मसदन्यत्वं च।

तत्रैवान्यथोपपत्तिशङ्कासमाधी

न चैवं सदन्यत्वेऽपरोक्षत्वम्, असदन्यत्वे च बाधः, असद्वदात्मवच्च न स्यादिति वाच्यम्।

है। (यहाँ भ्रांति से अपरोक्ष भ्रांति समझनी चाहिये क्योंकि अपरोक्ष भ्रम स्थल में अनिर्वचनीय विषय की उत्पत्ति अनिर्वचनीयख्यातिवाद में सभी को स्वीकृत है। यदि वेदान्तपरिभाषा को दृष्टि में रखें तो अपरोक्ष के साथ निरुपाधिक भी विशेषण जोड़ देना चाहिये, किंतु वस्तुतः जपाकुसुमादि स्थल में रक्तिमा को अनिर्वाच्य न मानना असाम्प्रदायिक है। परोक्ष भ्रम स्थल में प्रकृत आचार्य अर्थाध्यास नहीं मानते। पूरणी में (पृ. १८४-६) इस पर काफी विचार है। मधुसूदनाचार्य तो स्पष्ट ही कहते हैं 'परोक्षभ्रमेऽपि अनिर्वचनीयार्थसिद्धिः' (अ. सि. पृ. ३०९)।)

भ्रमविषय सत् हो तो उसका बाध अनुपपन्न है और असत् हो तो अपरोक्ष ज्ञान अनुपपन्न है अतः उसे सत् से तथा असत् से विलक्षण मानना अनिवार्य है।

प्रश्न होगा – शुक्तिरजत सद्भिन्न हो तो उसकी अपरोक्षता नहीं होनी चाहिये जैसे असत् की नहीं होती। तथा वह यदि असद्भिन्न हो तो उसका बाध नहीं होना चाहिये जैसे ब्रह्मका बाध नहीं होता। अतः वह सत्से व असत्से भिन्न नहीं हो सकता बल्कि सत् होने से संभव अपरोक्षता और असत् होने से संभव बाध्यता वाला होने से उसे सदसदात्मक ही क्यों न मान लिया जाये?

उत्तर है कि ऐसा मानना ठीक नहीं (प्रथमतः तो सदसत् कुछ होता ही नहीं। और अपरोक्ष होने से सत् होना चाहिये इत्यादि आपादन की ग़लती अनुपद बतायी जा रही है।)

जो यह कहा कि सदन्य होने पर अपरोक्षता न होती वह क्या यह मान कर कि सत्त्व अपरोक्षत्व में प्रयोजक (नियामक) होता है जिससे सत्त्व न रहने पर आपरोक्ष्य भी नहीं होगा? यदि ऐसा माना है तो गलत है क्योंकि तब नित्य

समाध्युपपादने – सत्त्वं नापरोक्ष्यप्रयोजकम्

तत् किं सत्त्वमपरोक्षत्वे प्रयोजकं येन तदभावे तन्न स्यात्? तथा सति नित्यातीन्द्रियेष्वपि तत्प्रसङ्गः ! न च सतो रूपादिमतोऽपरोक्षत्वम्; तर्हि आवश्यकेन तेनैवालम्, किं सत्त्वेन? न च अपरोक्षत्वे सत्त्वं व्यापकम्, व्याप्त्यसम्प्रतिपत्तेः। न चात्मनि व्याप्तिः, तत्र चैतन्यस्योपाधित्वाद्, व्याप्तिग्राहकतर्काभावाच्च।

असत्त्वं न बाधप्रयोजकम्

एवमसत्त्वस्यापि बाधाऽप्रयोजकत्वाद् न तद्व्यतिरेकेऽबाध्यत्वम्। अपरोक्षत्वाभावे त्वसत्त्वं रूपाद्यभावसम्पादकतया प्रयोजकमेव। बाह्येन तुच्छस्य अपरोक्षत्वाऽनङ्गीकाराच्च।

ही अतीन्द्रिय (अप्रत्यक्ष) को भी सत् होने के कारण अपरोक्ष हो जाना चाहिये, जो होता नहीं। यदि कहो कि जो सत् होते हुये रूपादि वाला है उसी का अपरोक्ष होता है अतः अतींद्रिय रूपादिरहित होने से अपरोक्ष नहीं होते; तो जब रूपादि होना अपरोक्षता के लिये मानना ही है तो उतने को ही प्रयोजक मानो, 'सत् होते हुये' यह विशेषण किस काम का? अपरोक्षता के प्रति सत्ता व्यापक हो यह तो माना नहीं जाता (क्योंकि तुम भी भ्रमविषय को सत् न मान कर सदसद्रूप मान रहे हो और हम तो स्पष्ट ही उसे मिथ्या मानते हैं। लौकिक लोग भी 'जो दीखे वह सच्चा ही हो' ऐसा नहीं स्वीकारते।) सत्त्व और अपरोक्षता की व्याप्ति का स्थल आत्मा भी नहीं बनेगा क्योंकि आत्मा में अपरोक्षता स्वप्रकाश अर्थात् चेतन होने से है अतः वहाँ यदि व्याप्ति मानोगे तो स्वप्रकाशत्व और सत्व की व्याप्ति मिलेगी जिससे प्रकृत में कोई लाभ नहीं। किं च सत्त्व न होने पर भी आपरोक्ष्य हो तो क्या हानि है? इसके उत्तर में कोई तर्क दिया नहीं जा सकता ताकि व्याप्ति निश्चित हो।

इसी प्रकार असत्त्व भी बाध का प्रयोजक नहीं कि असद्विलक्षणता से अबाध्यता की आपत्ति हो। अपरोक्षता न होने के लिये तो असत्त्व प्रयोजक हो सकता है क्योंकि असत्त्व रूपादिके अभाव को संभव कर देता है – जहाँ असत्त्व रहेगा वहाँ रूपादि नहीं रहेंगे जिससे आपरोक्ष्य भी नहीं होगा। बाह्यमत में तुच्छ को अपरोक्ष माना भी नहीं जाता अतः तुच्छता (असत्त्व) को अपरोक्षताऽभाव का प्रयोजक कहने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं।

असत आपरोक्ष्यमसंभवि

यत्तु – यदसत्तन्नापरोक्षमिति व्याप्तिग्रह एव व्यभिचारः– इति; तन्न, देशकालादिसम्बन्धशून्येऽसति व्याप्त्यसंभवेन निर्विषयाऽसज्ज्ञानेऽपरोक्षविषयत्वनिषेधाऽभिप्रायत्वात्तस्य।

सदसत्त्वयोर्निषेध उपपन्नः

यत्तु – सदसत्त्वयोः परस्परं विरोधात् तदुभयनिषेध एकत्र न सम्भवति, विरुद्धयोरिव तदुभयनिषेधस्याऽपि एकत्राऽसम्भवाद्– इति; तन्न। घटाभावे घटतदभावाधिकरणत्वस्य, पटोत्पत्तेः पूर्वं तन्तुषु पटध्वंसतदभावाधिकरणत्वस्य चाऽभावात्। सत्त्वधर्मे सत्त्वतदभावाच्च।

महापूर्वपक्ष के समापन में कहा था कि 'असद्ज्ञान अपरोक्ष नहीं होता' यह व्याप्तिग्रह अपरोक्ष होने से इसमें विषय बने असत् को भी अपरोक्ष मानना चाहिये जिससे कि यह व्याप्ति इसी व्याप्ति के ज्ञान में व्यभिचरित है। किन्तु वह कथन असंगत है। देश–काल आदि के सम्बन्ध से रहित असत् है अतः उसमें व्याप्ति संभव नहीं क्योंकि देश या काल में जिनका सामानाधिकरण्य हो उन्हीं की व्याप्ति (सहचारनियम) होती है। अतः 'जो असत् है वह अपरोक्ष नहीं होता' कहने का अभिप्राय इतना ही है कि निर्विषय जो असद्–ज्ञान उसमें अपरोक्षविषयता नहीं हुआ करती। एवं च व्याप्तिग्रह का विषय हुआ ज्ञान जब निर्विषय है तब असत् को उक्त ग्रह का विषय नहीं कह सकते। (यदि असद्–ज्ञान का विषय असत् को मानते तब दोष आता।)

अध्यस्ततापूर्वपक्षमें (vi ङ) यह भी कहा था कि सत्त्व–असत्त्व परस्पर विरुद्ध होने से एकत्र ही दोनों का निषेध नहीं किया जा सकता क्योंकि जैसे विरुद्धों का एकत्र रहना संभव नहीं ऐसे उनके अभावों का भी एकत्र मिलना दुर्लभ है। वह कथन भी असमीचीन है। घटाभाव में घटाधिकरणता का अभाव और घटाभावाधिकरणता का अभाव दोनों मिल जाते हैं जबकि घटाधिकरणता और घटाभावाधिकरणता परस्पर विरुद्ध हैं! इसी प्रकार पटकी उत्पत्ति से पहले तन्तुओं में पटध्वंसकी अधिकरणता का अभाव भी है और पटध्वंसके अभावकी अधिकरणता का अभाव भी है। इसी तरह सत्त्वरूप धर्म में न सत्त्व की अधिकरणता है और न सत्त्वाभावकी अधिकरणता है। (सत्त्व यदि सत्त्वाभावका

अध्यासलक्षणप्रमाणयोरुपसंहारः

तस्मात् सिद्धम् अनिर्वचनीयादिस्वभावं शुक्तिरजतादि।

दोषस्यार्थं प्रति निमित्तता

तत्र चान्वयव्यतिरेकाभ्यां दोषादि निमित्तकारणम्। दोषजन्यज्ञान-स्याऽन्यस्याभावाच्चार्थ एव तत् कारणम्।

अहङ्कारस्याध्यस्तता

एवं स्थिते प्रयुज्यते--अहङ्कारोऽध्यस्तः, दृश्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्। न च-- सादृश्याभावाद् नाऽहङ्काराध्यास उपपन्नः -- इति वाच्यम्; तस्य ज्ञानेऽनित्यत्वजडत्वाद्यारोपे व्यभिचारेण अध्यासमात्राऽहेतुत्वात्।

अधिकरण होगा तो वह सत्त्व है यही अनुपपन्न होगा क्योंकि भाव-अभाव की परस्पर अनधिकरणता ही मानी गयी है। सत्त्व सत्त्वका अधिकरण तो है ही नहीं क्योंक स्व से स्वका संबंध संभव नहीं। तात्पर्य है कि सत्त्व-असत्त्व का विरोध हो तो भी इनके निषेधों का एकत्र होना असंगत नहीं है।)

इस प्रकार यह निर्णीत है कि शुक्तिरजतादि प्रातीतिक पदार्थ अनिर्वचनीयादि स्वभाव वाले होते हैं ('आदि' से मिथ्यात्व के सभी विकल्प समझ लेने चाहिये अर्थात् रजतादि ज्ञाननिवर्त्य है इत्यादि।)

अध्यस्ततापूर्वपक्ष में सर्वप्रथम दोषकी अर्थहेतुता का ही निषेध किया था किंतु वह ठीक नहीं। अन्वय-व्यतिरेकवश दोषादि को अध्यस्त अर्थका निमित्त कारण मानना पड़ेगा, (उपादान तो अविद्या है यह आगे बतायेंगे)। जब तो यह स्वीकारा जाता है कि रजतादिका ज्ञान साक्षिमात्ररूप है तब तो दोष अर्थ के प्रति ही कारण हो सकता है क्योंकि साक्षी से अन्य कोई ज्ञान तो है नहीं जिसे उत्पन्न कर दोष कृतकार्य हो सके। (जिस पक्ष में अविद्यावृत्ति मानते हैं तब भी विनिगमनाविरह से ज्ञान और अर्थ दोनों के प्रति कारण मानना संगत कहा जा चुका (सिद्धांतपक्ष-iii) है।)

(जिस अनुमान के लिये रजतादि को अनिर्वचनीयादि स्वभाव वाला सिद्ध किया वह अनुमान बताते हैं:) इस तरह शुक्तिरूप्य के मिथ्यात्व में संदेह न रह जाने पर यह अनुमान निर्दोष है: अहंकार, अध्यस्त है, दृश्य होने के कारण, जैसे

नन्वेवमव्यभिचारात् संस्कारः कारणं, स चाऽत्र नास्तीति चेद्? न, पूर्वभ्रमजन्यसंस्कारस्य सत्त्वात्।

न च--अहङ्काराधिष्ठानस्य दृश्यत्वाऽयोगात् स्वप्रकाशत्वं वक्तव्यम्, तत्र च नारोपसम्भव इति न भ्रमसंस्कारः-- इति वाच्यम्; स्वप्रकाशस्यापि अविद्याप्रतिबद्धप्रकाशत्वात्। तत्र च प्रमाणं वक्ष्यते।

अहङ्कारस्यात्मत्वशङ्का

स्यादेतद्यदि अहङ्कारातिरिक्तात्मनि किञ्चित् प्रमाणं भवेत्। तत्र यद्यपि त्वम्पदार्थो न देहो न वेन्द्रियम् १) रूपादिमत्त्वात्, २) जन्म-नाशवत्त्वाच्च। ३) आत्मनश्च जन्मान्तरीयानुसन्धानेन अनादित्वात्। ४) स्वप्नावस्थायां मनुष्यादिदेहाभावेऽपि अहमित्यनुभवदर्शनात्। ५) करणस्य वास्यादिवदनात्मत्वाच्च। ६) प्रत्यभिज्ञानुपपत्तेश्च। तथापि

शुक्तिरूप्य। (अभिप्राय है कि महावाक्य द्वारा प्रतिपाद्य अभेद में कोई बाधक नहीं क्योंकि विरोध अहंकार-ब्रह्मके अभेद में आता है और जब अहंकार मिथ्या हो गया तब जैसे जल और मरुभूमि में विरोध नहीं ऐसे यहाँ भी विरोध नहीं।)

ज्ञान में अनित्यता का, जडता का व अन्य भी आरोप मिलते हैं जबकि उसमें सादृश्य (जो गुण या क्रिया रूप होता है या अवयव से होता है) होता नहीं (क्योंकि ज्ञान में गुणादि नहीं)। अतः सादृश्य को सभी अध्यासों के प्रति कारण न कहा जा सकने से यह नहीं कह सकते कि आत्मा व अहंकार में सादृश्य न होने से आत्मा में अहंकार का अध्यास नहीं।

प्रतिदिन सुषुप्ति में अहंकार का नाश हो जाता है और पिछले भ्रम के संस्कार से अगला अहंकार भ्रम संभव हो जाता है अतः यह भी नहीं कि अहंकार का संस्कार सुलभ न हो।

प्रश्न होगा कि अहंकार के अधिष्ठानभूत आत्मा को दृश्य तो मान नहीं सकते अतः उसे स्वप्रकाश मानना ही होगा। स्वप्रकाश पर आरोप संभव नहीं तो कोई भी अहंकाराध्यास न हो सकने से भ्रमसंस्कार कैसे उपलब्ध होंगे? उत्तर है कि स्वप्रकाश आत्मा भी अविद्यासे प्रतिबद्ध प्रकाश स्वभाव वाला है जिससे उस पर आरोप है ही। इस विषय में प्रमाणचर्चा आगे मिलेगी।

अहंकार तब अध्यस्त हो सकता जब उससे अतिरिक्त आत्मा प्रामाणिक

नाऽहमनुभवगोचरादन्य आत्मा, अहम एवात्मत्वानुभवात्, तदन्यात्मनि प्रमाणाभावाच्च।

अहङ्कारान्यात्माऽप्रमाणिकः – i) प्रत्यक्षानुमानाभावः

न तावदत्र प्रत्यक्षं प्रमाणम्। नाऽपि – अहङ्कारोऽनात्मा दृश्यत्वाद् घटादिवदिति पक्षधर्मताबलात् तत्सिद्धिरिति – वाच्यम्; अहङ्कारपदेन अन्तःकरणाद्यभिधाने सिद्धसाधनात्, तदतिरिक्ताहमितिव्यवहारविषयाऽभिधाने सिद्धान्ते बाधात्। दृश्यत्वं च ब्रह्मणि व्यभिचारि। अहङ्कार आत्मा, ज्ञानाश्रयत्वादिभ्यः, ईश्वरात्मवद्, व्यतिरेकेण घटादिवद्वेति प्रतिप्रयोगाच्च।

होता किंतु ऐसा है नहीं। यह तो ठीक है कि देह और इंद्रियाँ आत्मा नहीं क्योंकि रूपादि से युक्त हैं और जन्म व नाश वाले हैं जबकि आत्मा रूपादिरहित और अनादि है क्योंकि वह पूर्वजन्म के अनुभवों से मिले संस्कारों का प्रयोग परजन्म में करता पाया जाता है तथा कुछ लोग पूर्वजन्म के कई घटनाचक्र स्मरण रखते मिलते हैं। स्वप्न में 'मैं' यह आत्मानुभव होता है जबकि वहाँ मनुष्यादि देह नहीं हैं (अर्थात् प्रस्तुत स्थूल देह के परामर्श के बिना आत्मा की मौजूदगी है)। इन्द्रियाँ करण (साधन) हैं अत: बसूले आदि की तरह उनका जड होना ही संगत है। यदि देहादि आत्मा हो तो देह बदल जाने पर भी होने वाली प्रत्यभिज्ञा कि 'यह वही है' असंगत होगी। अत: देह व इन्द्रियाँ आत्मा नहीं। किन्तु 'मैं' इस अनुभव का जो विषय है उससे अन्य कोई आत्मा नहीं है क्योंकि अहम् की आत्मताका (प्रत्यक्चेतनता का) अनुभव होता है और उससे अन्य आत्मा होने में कोई प्रमाण नहीं। (यह शंकाग्रंथ है। शंकालु अब अहमन्य आत्मा में प्रमाणाभावका प्रदर्शन करेगा।)

ज्ञानाश्रय अहंकार से अतिरिक्त आत्मा प्रत्यक्षगोचर है नहीं कि इस विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण हो। यह अनुमान भी इसमें प्रमाण नहीं कि – घटादिकी तरह दृश्य होने के कारण अहंकार अनात्मा है अत: जिससे वह भिन्न है, जिसका दृश्य है वही आत्मा है। यह अनुमान इसलिये ठीक नहीं कि इसमें अहंकारशब्द से अंत:करणादि विवक्षित हों तब तो सिद्धसाधन है क्योंकि हम (पूर्वपक्षी) भी उन्हे अनात्मा मानते हैं और यदि अन्त:करणादि से भिन्न जो 'मैं' इस ज्ञानादि व्यवहारका विषय है वह विवक्षित हो तब सिद्धांत पक्षमें भी बाध

ii) अहङ्कारात्मत्वेऽर्थापत्तिः

अहङ्कारस्यानात्मत्वेऽहं मुक्तः स्यामिति मुक्त्यर्थप्रवृत्तिबाधश्च ।

श्रुतिरभेदोपासनापरेति शङ्कोपसंहारः

अत एव न श्रुत्यापि तदतिरिक्त आत्मा सिद्ध्यति। ततश्च नाहङ्कारोऽध्यस्त इत्यहमर्थस्य कर्तुर्भोक्तुः प्रतिशरीरं भिन्नस्य न तद्विरुद्धब्रह्माभेद इति वाक्यमभेदोपासनापरमुचितमिति चेद्?

समाधानम्– i) श्रुत्याऽऽत्मसिद्धिः

न; 'अथातोऽहङ्कारादेशः' (छां. ७. २५. १) इत्यहङ्कारमात्मानमुपदिश्य 'अथात आत्मादेशः' (छां. ७. २५. २) इत्यात्मनोऽहङ्कारात् पृथङ्निर्देशेन आत्मनोऽन्यत्वाद्, अन्यथा भेदनिर्देशवैयर्थ्यात्।

होगा क्योंकि चेतनको अस्मत्प्रत्ययका विषय स्वीकारा गया है। किं च दृश्यतारूप हेतु ब्रह्म में व्यभिचारी है क्योंकि ब्रह्म भी वेदान्तों द्वारा प्रमेय अर्थात् दृश्य है अथ च अनात्मा नहीं है। अहंकार की आत्मता के समर्थन में यह अनुमान भी उपस्थापित किया जा सकता है – ज्ञानाश्रयता आदि होने के कारण अहंकार वैसे ही आत्मा है जैसे ईश्वर या जैसे व्यतिरेकेण घटादि।

अहंकार अनात्मा हो तो 'मैं मुक्त हो जाऊँ' यों संकल्पपूर्वक मोक्ष के लिये जो प्रवृत्ति हुआ करती है वह नहीं होनी चाहिये। (अत: इस प्रवृत्ति के उपपादनार्थ अहंकार को आत्मा मानना होगा। अहंकारातिरिक्त आत्मा के बिना कुछ अनुपपन्न है भी नहीं जो वैसा आत्मा अर्थापत्ति से सिद्ध हो सके।)

क्योंकि अहंकार ही आत्मा है इसीलिये वेद से भी उससे अन्य आत्मा सिद्ध नहीं होता (क्योंकि लौकिक अर्थ ही वेद में भी मानकर चलना पड़ता है)। एवं च अहंकार अध्यस्त नहीं है। अत: 'मैं' का अर्थ जो कर्ता भोक्ता आत्मा, जो हर शरीर में अलग-अलग है, उसका अपने से विरुद्ध स्वभाव वाले अकर्ता आदि रूप ब्रह्म से अभेद नहीं है। फलत: तत्त्वमस्यादि वाक्यों का तात्पर्य इनके अभेद की उपासना में समझना उचित है। – यहाँ तक शङ्का है।

अहंकार ही आत्मा नहीं है क्योंकि वेद में पहले अहंकार रूप आत्मा का कथन कर तदनन्तर उससे अलग कर आत्मा का उपदेश दिया है जो तभी संगत है जब दोनों अलग हों अन्यथा भिन्न करके उपदेश व्यर्थ होगा। (अंत:करण

परमात्मनो भेदे प्रश्नोत्तरे

नन्वेवं परमात्मनोऽपि भेदप्रसङ्गः, 'स एवाधस्तात्' (छां. ७.२५.१) इत्यादिना तस्याऽपि पृथङ्निर्देशादिति चेद्? न; तयोर्भेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेन श्रुत्यनपेक्षत्वात्। भेदे तयोः सर्वात्मत्वोपदेशाऽयोगाच्च। अहङ्कारे च तदुपदेशस्य तदभिन्नचैतन्यविषयत्वात्।

अहमन्यात्मनो ब्रह्माभेदे प्रवेशवाक्यं मानम्

एवं 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' (बृ.१.१.२४) इति जगत्स्रष्टुः शरीरे जल इव सवितुः प्रवेशवाक्यमपि तत्र मानम्। न च प्रविष्टस्य अन्तर्यामित्वमेव, न जीवत्वमिति वाच्यम्; अप्रविष्टस्याऽपि कारणत्वमिव

से अवच्छिन्न आत्मा अहंकार है, न केवल अंतःकरण व न केवल आत्मा। 'मैं करता हूँ मैं भोगता हूँ' यह प्रतीति जिसके बारे में है उसी का नाम अहंकार है।)

यदि अलग से कथन भेदस्थापक है तब परमात्मा से भी (जीव-) आत्मा का भेद मानना चाहिये क्योंकि अहंकार की तरह परमात्मा को भी आत्मा से अलग कर कहा ही है। यह प्रश्न है।

उत्तर है कि ऐसा नहीं मान सकते। परमात्मा और जीवात्मा का भेद सर्वानुभवसिद्ध है अतः उसे बताने में अपूर्वता और सफलता न होने से श्रुति का सार्थक्य नहीं है। किं च यदि उनका भेद होता तो श्रुति ने जो दोनों को सर्वरूप कहा है 'स एवेदं सर्वम्, आत्मैवेदं सर्वम्' (छां. ७. २५.१,२) वह असंगत हो जायेगा। जो तो 'अहमेवेदं सर्वं' से अहंकार की सर्वरूपता कही है वह अहंकार के अधिष्ठान चैतन्य के अभिप्राय से कही है अतः अहंकार की सर्वरूपता नहीं बतायी है कि वह भी परमात्मा से मुख्य अभेद वाला हो। (बाधपूर्वक अभेद तो इष्ट ही है।)

इसी प्रकार श्रुतिने कहा है 'जिसकी चर्चा चली वही जगद्रचयिता परमात्मा शरीर में नखों के अग्रभाग पर्यन्त प्रवेश कर गया।' जैसे जल में प्रतिबिम्बरूप से सूर्य प्रवेश कर जाता है ऐसे शरीर में जगत्कारण परमेश्वर का प्रवेश है। इस वाक्य से भी निर्धारित है कि अहंकार आत्मा नहीं (क्योंकि अहंकार जन्मनाशादि विकारों वाला है जबकि परमात्मा ऐसा नहीं हो सकता।)

नियन्तृत्वोपपत्तेः। प्रविष्टे प्राणनादेर्मौढ्यादेश्च निश्चितजीवधर्मस्य श्रवणाच्च।

ii) अनुमानादात्मसिद्धिः

अनुमानमपि – अन्तःकरणधर्मातिरिक्ताहमनुभवगोचरो न स्वद्रष्टा, अहमनुभवे प्रकाशमानस्वव्यतिरिक्तद्रष्टृको वा, दृश्यत्वाद् घटवत्। अस्मन्मतेऽपि वक्ष्यमाणरीत्याऽहमाकारवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यस्याऽहम-

जिसने प्रवेश किया वह परमेश्वर अन्तर्यामी होकर ही रहता है, जीव होकर नहीं अतः यह वाक्य अहंकार से अन्य जीव में प्रमाण कैसे? शासन करने के लिये प्रवेश की ज़रूरत नहीं क्योंकि अप्रविष्ट परमेश्वर में जैसे जगत्कारणता संगत है ऐसे ही नियामकता भी संगत है। किं च जब प्रवेश हो चुका तब उसमें वे धर्म कहे गये हैं जो जीव में ही होते हैं: प्रवेश कहने के बाद बताया 'प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति वदन् वाक्' (बृ. १.४.७) 'साँस लेते छोड़ते हुये वह प्राण कहलाता है, बोलते हुये वाक्' अतः प्रविष्ट को साँस लेने आदि वाला कहा जो जीव के लिये ही संभव है। ऐसे ही अन्यत्र कहा 'प्रविश्याऽमूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते माययैव' (नृ. उत्त. ९) 'प्रवेश कर निर्मोह होने पर भी मुग्ध की तरह व्यवहार करते हुए रहता है, यह सब मायासे ही कर लेता है' अतः प्रविष्टको मोहग्रस्त बताया जो अन्तर्यामी में संभव नहीं। अतः प्रवेशवाक्य जीवात्मपरक होने से अहंकार से अन्य आत्मा सिद्ध हो जाता है।

अहंकारभिन्न आत्मा में अनुमान भी प्रमाण है: अंतःकरण के धर्मों से अतिरिक्त जो 'मैं' यह अनुभव इसका जो विषय है [-यह पक्ष हुआ] वह अपना द्रष्टा नहीं है (अर्थात् अपने व्यवहार के हेतुभूत प्रकाशरूप धर्मवाला होने का अभाव साध्य है) क्योंकि दृश्य है, जैसे घड़ा। (अंतःकरण के धर्म वादी के अनुसार संख्यादि हैं, उनसे अन्य अहमनुभव उसके मत में आत्मसमवेत ज्ञान है जिसका विषय वह आत्मा को कह रहा है। एवं च वादि-अभिमत आत्मा पक्ष हो गया। सिद्धांतसंमत आत्मा की चर्चा नहीं यह स्पष्ट करने के लिये कहा कि अंतःकरणधर्मों से भिन्न अहमनुभवका विषय; क्योंकि सिद्धांत में अन्तःकरणधर्मरूप अहमनुभव का ही आत्मा विषय है, तद्भिन्न का नहीं। इसी प्रकार सिद्धांत में यद्यपि स्वव्यवहारहेतु वृत्तिरूप धर्म वाला आत्मा है तथापि

नुभवस्य सत्त्वाद् न पक्षाऽप्रसिद्धिः। दृश्यत्वं च प्रकाशविषयत्वम्। प्रकाशश्च अस्मन्मते चैतन्यमेव, न वृत्तिरिति न वृत्तिवेद्ये ब्रह्मणि चैतन्याऽविषये व्यभिचारः।

iii) ज्ञानाश्रयत्वहेतुकानुमानदूषणम्

न च ज्ञानाश्रयत्वात् तस्यात्मत्वम्; वृत्तेर्ज्ञानपदवाच्यत्वेऽपि, ज्ञानत्ववत् परमते, ज्ञानादन्यत्वात्; चैतन्यस्य च सर्वाधारस्य अहङ्कारानाश्रयत्वात्। लाघवेन ज्ञानत्वस्यैव तत्प्रयोजकत्वाच्च।

वृत्ति प्रकाश नहीं है। इसीलिये 'प्रकाशरूप धर्म' कहा। दृश्य होने के लिये कोई द्रष्टा भी होना पड़ेगा अतः जब पक्ष में स्वव्यवहारहेतुभूतप्रकाश नहीं तो वैसा प्रकाश पक्ष से भिन्न में मानना पड़ेगा और वही आत्मा हो जायेगा।)

अथवा पूर्वोक्त पक्ष पर ही यह साध्य है– ऐसे द्रष्टा वाला है जो 'स्व' से भिन्न है और 'मैं' इस अनुभव में प्रकाशमान है। (घटद्रष्टा घट से भिन्न है और 'मैं' इस अनुभव में प्रकाशमान है यह सभी को मान्य है। इस प्रकार अहमनुभवविषयीभूत से अन्य आत्मा सिद्ध हो गया। यहाँ केवल 'स्व' से भिन्न द्रष्टा ईश्वर तो मान्य ही है! अतः ईश्वर की व्यावृत्ति के लिये 'मैं-अनुभव में प्रकाशमान' कहना पड़ा।)

सिद्धांत में भी 'मैं' इस आकार की वृत्ति में प्रतिफलित चैतन्य रूप 'मैं'-अनुभव मान्य है यह आगे बतायेंगे अतः पक्ष की अप्रसिद्धि नहीं। (अंतःकरणधर्म है ज्ञान, सुख, दुःखादि जिनसे अन्य अहमनुभव है जिसका गोचर आत्मा स्वीकार है। यह अहमनुभव अंतःकरणधर्मरूप नहीं क्योंकि हम चैतन्यप्रतिबिम्बन के बाद ही उसे अनुभव मानते हैं।)

दृश्य होने का मतलब है प्रकाशका विषय होना। प्रकाश हमारे सिद्धांत में चैतन्य ही है, वृत्ति नहीं। अतः ब्रह्म में व्यभिचार नहीं (जो पूर्वपक्षी ने शंकाग्रंथ में – i) प्रत्यक्षानुमानाभाव – कहा था), क्योंकि ब्रह्म वृत्ति से विषय किया जाने पर भी चैतन्य से विषय नहीं किया जाता।

शंकाभाग में वादी ने ज्ञानाश्रयत्व आदि को हेतु बनाकर अहंकार को आत्मा सिद्ध किया था। वह प्रयोग गलत था। 'ज्ञानाश्रयत्व' हेतु आत्मवृत्ति है ही नहीं कि व्याप्ति संभव हो क्योंकि आत्मा वृत्तिका आश्रय होने पर भी ज्ञान

iv) अर्थापत्तिपरिहारः

न चैवम् 'अहं मुक्तः स्याम्' इति प्रवृत्त्यनुपपत्तिः; अहम्पदार्थस्य चिदचित्संवलिततयाऽहमित्यनुभवे चिदात्मनोऽपि प्रकाशमानत्वादहमर्थस्य स्वमुक्तिप्रवृत्त्युपपत्तेः।

दृश्यत्वहेतुसमर्थनम्

न चाऽप्रयोजकत्वम्; लाघवेन दृश्यत्वमात्रस्यैवोक्तसाध्यव्याप्यत्वात्। विपक्षे प्रतिशरीरम् आत्मभेदप्रसङ्गेन गौरवाच्च। न चालौकिकात्मकल्पनागौरवम्; अस्मदभिमतान्तःकरणादहङ्कारात् परैरप्यात्मनो भेदस्याङ्गीकृतत्वात्।

का आश्रय नहीं होता। वृत्ति जब ज्ञानशब्द से कही जाती है तब वह भी ज्ञान क्यों नहीं? पूर्वपक्षीके मत में जैसे ज्ञानत्व भी ज्ञानपद से कहा जाता है पर ज्ञान से अन्य ही है वैसे वृत्ति चाहे कही ज्ञान जाये लेकिन है ज्ञान से अन्य (अर्थात् तद्वाचकवाच्यत्व तत्त्व का प्रयोजक नहीं है)। यदि ज्ञान का अर्थ चैतन्य लो तो 'ज्ञानाश्रयत्व' हेतु स्वरूपासिद्ध है क्योंकि चैतन्य तो सबका आधार है, वह अहंकार पर आश्रित है ही नहीं कि अहंकार ज्ञानाश्रय कहा जा सके। किं च 'ज्ञानाश्रयत्व' से आत्मत्व को सिद्ध करना गौरवग्रस्त है क्योंकि ज्ञानत्व ही आत्मत्व सिद्ध करने में पर्याप्त है (अतः व्याप्यत्वासिद्धिरूप हेतुदोष है क्योंकि हेतु व्यर्थविशेषणघटित है)।

अहंकार आत्मा न हो तो 'मैं मुक्त होऊँ' यों मोक्षार्थ प्रवृत्ति की जो असंगति शंकित थी वह भी नासमझी से ही, क्योंकि हम जिसे 'मैं' कहते हैं वह चेतन व जड का मिला-जुला रूप है अतः 'मैं' अनुभव में जड ही नहीं चिदात्मा भी भासता है जो अपने मोक्षके लिये प्रवृत्ति करे यह संगत है।

दृश्यत्व हेतु साध्यापादक न हो ऐसा भी नहीं क्योंकि दृश्यता को ही पूर्वोक्त साध्य का व्याप्य समझना लाघवशोभित है, अन्य हेतु कहेंगे तो गौरव ही होगा। (जैसे यदि आत्मा को बचाने के लिये वादी उक्त साध्य में (जाड्य में) हेतु बनाये मनोमात्र-अकरणक ज्ञान की विषयता को, तो गौरव स्फुट है।) यदि अहंकार को अनात्मा न मानें अर्थात् आत्मा मानें, तो हर शरीर में अलग अलग आत्मा मानने होंगे जिससे गौरव है ही। सिद्धांती को एक अलौकिक (लौकिकप्रमाणों

v) अहंकारात्मत्वे मोक्षासम्भवः

अत एव – अहङ्कारः, अहङ्कारद्रष्टृकः, दृश्यत्वाद्, इति अहङ्कारान्तरबाधे तस्यैव द्रष्टृत्वम् – इति प्रत्युक्तम्। अहङ्कारस्य आत्मत्वे दुःखादेरत्यन्तोच्छेदाऽसम्भवेन मुक्त्यर्थिप्रवृत्त्यनुपपत्तेश्च।

vi) अनित्यत्वादनात्माऽहङ्कारः

'स्वमपीतो भवति' (छां. ६. ८. १) इति स्वापेऽहङ्कारस्य विलयश्रवणाच्च तस्याऽनात्मत्वम्। अहङ्कारस्य सुषुप्तावनाशे जाग्रतीवाऽहमित्यनुभवः स्यात्। जाग्रति क्लृप्तप्रमाणस्य साक्षिणस्तत्रापि सत्त्वात्। अतोऽनुपलम्भात्तदभाव एव।

से असिद्ध) आत्मा स्वीकारना पड़ रहा है तो क्या यह गौरव नहीं? नहीं है, क्योंकि सिद्धांती जिस अन्तःकरणरूप अहंकार को मानता है उससे भिन्न आत्मा पूर्ववादी भी मान रहा है अतः वादिस्वीकृत पदार्थ से ज्यादा पदार्थ मानना रूप गौरव नहीं बल्कि वादी अहंकार भी नाना मानता है और उनके विषय भी अनंत चेतन मानता है जबकि सिद्धांती अहंकार ही नाना कह रहा है, चेतन एक ही स्वीकार रहा है अतः अत्यंत लाघव है। यदि अलौकिकता का एक कलंक है भी तो श्रुति व न्याय की अनुसारिता रूप गुणसंनिपात के कारण वह नगण्य है।

पूर्वपक्षी यह अनुमान कर सकता है: अहंकार दृश्य होने के कारण अहंकार द्वारा देखा जाता है (जैसे घड़ा); और क्योंकि अहंकार को देखने वाला दूसरा अहंकार होना अप्रमाणिक है इसलिये वही अहंकार देखने वाला अर्थात् चेतनरूप आत्मा सिद्ध होता है।

किन्तु यह अनुमान ग़लत है क्योंकि स्वकर्तृक स्वकर्मक दर्शन असंभव है और स्वप्रकाश मानने पर दृश्यत्व संभव नहीं।

किं च अहंकार यदि आत्मा हो तो दुःखादि का समूल समापन नहीं हो सकेगा (क्योंकि उनका मूल अर्थात् उपादान तो अहंकार ही है) जिससे मुमुक्षुजनों की साधना में प्रवृत्ति असंगत हो जायेगी। (अर्थात् अहंकारात्मवाद में मोक्ष असंभव होना ही अनुपपत्ति है।)

'स्वात्मा में लीन हो जाता है' इस श्रुति में कहा कि गहरी नींद में अहङ्कार विलीन हो जाता है। (यह वाक्य जीव के ब्रह्म में विलय को कह रहा है। जीव

vii) नित्यं ज्ञानमात्मा

किञ्चास्ति तावद् 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येत्' (बृ. ४. ३. २) ' न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' (बृ. ४. ३. २३) इत्यादिवाक्याद् अहङ्कारधर्मातिरिक्तं नित्यं ज्ञानम्।

viii) अहङ्कारधर्मातिरिक्तज्ञाने युक्तिः

अस्ति च जाग्रति घटादिधारातदाश्रयाहङ्कारानुसन्धानम् 'एतावन्तं कालमहमिदमनुभवन्नेवासम्' इति च। न चैतत् तत्काले धारा-

का स्वरूपतः लय संभव नहीं अतः उसके उपाधिभूत अहंकार का विलय ही अभिप्रेत है।) यों नाशवान् होने से अहंकार अनात्मा है। सुषुप्ति में नष्ट न हो तो जैसे जाग्रत् में 'मैं' ऐसा अनुभव होता है ऐसे ही सुषुप्ति में होना चाहिये जो होता नहीं। यह भी नहीं कि प्रमेयभूत अहंकार वहाँ मौजूद हो और प्रमाण की कमी से अनुपलब्धि हो क्योंकि जाग्रत् में अहंकार के विषय में जो प्रमाण रूप से स्वीकार्य साक्षी है वह तो सुषुप्ति में भी उपस्थित ही है अतः यदि अहंकार वहाँ हो तो उसे उसका ग्रहण हो ही जायेगा। सुषुप्ति में अहंकार की उपलब्धि होती नहीं तो मानना पड़ेगा कि वह तब है नहीं। नाशवान् वस्तु आत्मा नहीं हुआ करती।

'ज्ञान के ज्ञाता को मत देखो' 'ज्ञाता के ज्ञान का लोप नहीं होता' आदि श्रुति द्वारा अहंकारधर्मभूत ज्ञान से अतिरिक्त नित्य ज्ञान सिद्ध है। वही आत्मा है, न कि अनित्य अहंकार।

जाग्रत् दशा में घटादिज्ञानकी धारा का और उसके आश्रय अहंकार का अनुसंधान होता है 'इतने समय तक मैं इसे अनुभव करते हुये रहा'। अहंकारधर्मरूप ज्ञान से अन्य साक्षिरूप अनुभव यदि उतने समय धारा और उसके आश्रय की जानकारी न रख रहा होता तो उक्त अनुसन्धान संगत नहीं होता। घटविषयक धारावाहिक ज्ञान अपने अविषयभूत धारा और धाराऽऽश्रय की स्मृति का हेतु नहीं बन सकता क्योंकि ज्ञान अपने विषय की ही स्मृति का उत्पादन कर सकता है।

यह नहीं कह सकते कि उक्त अनुसंधान स्मरण न होकर अनुभव ही है, कारण कि धारा और धाराविशिष्ट आश्रय अब रह ही नहीं गये हैं कि उनका

तदाश्रयसाक्षिणम् अहङ्कारधर्मातिरिक्तानुभवं विनोपपद्यते। घटगोचर-धाराज्ञानेन तदविषयधारातदाश्रययोः स्मृत्यसम्भवात्। न चेदं न स्मरणं किन्त्वनुभव एवेति वाच्यम्; विनष्टानां तेषां प्रत्यक्षासम्भवात्; ततो व्यवहाराभावेनानुमानायोगाच्च। न चार्थस्मृत्या ज्ञानानुमानम्; मध्ये 'स्मरामि' इति ज्ञानाऽभावेऽपि तद्दर्शनात्। स्मृतेरनुभवजन्यत्वाद्, अज्ञानसंशयविपर्ययदशायामपि तद्दर्शनात्।

ix) सुखादिसाक्षितयाऽऽत्मसिद्धिः

एवं सुखादिव्यवहाराय कल्प्यमपि ज्ञानं लाघवादेकमित्यहङ्कारधर्मातिरिक्तमेव। दुःखाद्युत्पत्तिविनाशव्यतिरेकेण [०के न त०] तत्स्फुरणे तदननुभवात्। अन्यथा अन्वयादिदर्शनाऽसंभवेन ज्ञानसुखादीनां कार्य-कारणत्वग्रहाऽसम्भवात्।

प्रत्यक्ष हो। उक्त अनुसंधान को अनुमान भी नहीं कह सकते। अनुमान में व्यवहार को लिंग कहो तो असंभव है क्योंकि विनष्ट जो धारारूप ज्ञान उससे कालान्तर में व्यवहार होता ही नहीं कि लिंग बने। यदि कहो कि उतने समय से अवच्छिन्न अर्थ की स्मृति से तज्जनक अनुभव का अनुमान संभव है, तो भी नहीं बनेगा क्योंकि धाराज्ञान और उक्त अनुसंधान के बीच 'याद कर रहा हूँ' ऐसे अनुभव के बिना भी उक्त अनुसंधान हो जाता है। (यदि अनुसंधान अनुमान होता तो नियमतः उसके पूर्व स्मृतित्वेन स्मृतिका ज्ञान होना चाहिये क्योंकि व्याप्यतावच्छेदकप्रकारक व्याप्यज्ञान ही अनुमिति का जनक होता है और यहाँ स्मृतित्व ही व्याप्यता का अवच्छेदक है।) इस प्रकार उक्त अनुसंधान स्मरणरूप ही है और वह तभी होगा जब धारा-तदाश्रय का अनुभव हुआ हो जिसके लिये अहंकारधर्म से अन्य ज्ञान मानना अनिवार्य है। किं च अज्ञान या संशय या विपर्यय के बारे में भी अनुसंधान होता है कि इतनी देर अज्ञान में था आदि। इस स्मृति के लिये अज्ञानादि का अनुभव मानना पड़ेगा। यदि अहंकार-धर्मरूप ज्ञान होता तब तो अज्ञान ही नहीं रहा होता! अतः उससे अन्य ही साक्षिरूप ज्ञान यहाँ अज्ञानादि का अनुभव है जो इनके अनुसंधान को संभव करता है।

ऐसे ही सुखादि के व्यवहार के लिये उनका ज्ञान मानना पड़ेगा जिसे लाघवानुरोध से एक अतः नित्य मान लेना चाहिये जो अहंकारधर्मभूत ज्ञान से

प्राभाकरस्वप्रकाशताखण्डनम्

अस्तु तर्हि ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वमिति चेद्? न, कार्यस्य रूपादिवत् तदयोगात्। सुखादिसाधनार्थं क्लृप्तनित्यज्ञानस्यैव स्वयं प्रकाशत्वेन निखिलव्यवहारोपपत्तौ जन्यज्ञाने तत्कल्पने प्रमाणाभावात्। मनसः सर्वप्रमाणसहकारिणः पृथक् प्रमाणत्वाऽयोगात्। न हि प्रमाणं

अन्य ही होगा। दुःखादि के जन्म या नाश के बिना दुःखादि के ज्ञान के जन्म या नाश अनुभव में आते नहीं अतः 'दुःखज्ञान नष्ट हुआ', 'सुखज्ञान पैदा हुआ' इनका विषय दुःख का नाश और सुखका जन्म ही है न कि इनके ज्ञान ही उत्पत्तिविनाशशाली हैं। दुःखादि की उत्पत्ति के बिना दुःखादि का या उनके विनाश के बिना दुःखाद्यभाव का स्फुरण नहीं होता क्योंकि ऐसा अनुभव नहीं कि दुःखादि के बिना उनका स्फुरण है। [यहाँ 'दुःखाद्युत्पत्तिविनाशव्यतिरेके न तत्स्फुरणे, तदननुभवात्' ऐसा पाठ मानना उचित लगता है और यही मानकर अनुवाद है।] यदि सुखादि से पूर्व और सुखादि के होने के बाद तक कोई एक साक्षी न माना जाये तो अन्वय-व्यतिरेक की जानकारी असंभव होने से अमुकज्ञान से सुख उत्पन्न होता है आदि हेतु-हेतुमद्भाव का पता ही नहीं लग सकेगा। इसलिये अहंकार से अन्य श्रुतिसिद्ध नित्य आत्मा अवश्य मान्य है जिसका परमात्मा से अभेद वाक्यार्थ होने से कोई विरोध नहीं।

जन्य ज्ञानों को ही स्वयम्प्रकाश क्यों नहीं मान लेते? इसलिये नहीं मानते कि कार्य कभी स्वप्रकाश नहीं होता जैसे रूपादि। सुखादि की सिद्धि के लिये अवश्य स्वीकार्य जो नित्य ज्ञान वही स्वप्रकाश है, जब उसीसे सारा व्यवहार संगत हो जाता है तब जन्य ज्ञानको भी स्वप्रकाश मानने में कोई प्रमाण नहीं। सभी प्रमाणों का सहायक होने से मन ज्ञानके प्रति साधारण कारण ही है अतः उसे प्रसिद्ध प्रमाणों से अलग कर ज्ञान का या प्रमितिका असाधारण कारण अर्थात् प्रमाण मानना ठीक नहीं। एक प्रमाण दूसरे प्रमाण का सहकारी नहीं हुआ करता (किन्तु सभी प्रमाणों के स्वतंत्र प्रमेय हुआ करते हैं)। जैसे तात्पर्य शब्दप्रमाण का सहकारी है; वह शक्ति, लक्षणादि सभी वृत्तियों के प्रति साधारण रहता है अर्थात् सभी वृत्तियाँ उसकी सहायता चाहती हैं। किन्तु जिन्हें सहायता देता है उन शक्ति आदि वृत्ति से अलग कोई वृत्ति तात्पर्य की नहीं होती। तात्पर्य

प्रमाणान्तरस्य सहकारि, सर्ववृत्तिसाधारणस्य तात्पर्यस्य पृथग्वृत्तित्वादर्शनात्। सुखादिविषयानन्तज्ञाने प्रमाणाभावाच्च। स्वप्रकाशेनापि घटादिज्ञानेनाऽऽत्मनोऽसिद्धेश्च। ज्ञानस्य स्वस्मादन्यस्मिन् विषय एव संशयादिनिवर्तकत्वाच्च। एवं तदा 'नेतः परमद्राक्षम्' इत्यज्ञानानुसन्धानार्थं ज्ञानान्तरमावश्यकमिति सिद्धमहङ्कारधर्मातिरिक्तं ज्ञानमिति।

वृत्त्युपयोगशङ्का

ननु–एवं किं वृत्तिकल्पनया? ज्ञानद्वैविध्ये प्रमाणाऽभावात्। न च 'जानामि' इत्यनुभवात् तत्सिद्धिरिति वाच्यम्; त्वदभ्युपगतचैतन्यविषयत्वेऽपि तदुपपत्तेः। वृत्तिकार्यस्य इन्द्रियसंयोगेनाऽपि निर्वाहयितुं शक्यत्वात्, जडत्वस्योभयत्राऽविशेषाद्–इति चेद्?

सहकारी है, कोई प्रमाण नहीं। ऐसे ही मन सहकारी है, प्रमाण नहीं। सुखादि को विषय करने वाले अत्यन्त नाना ज्ञान मानने में कोई प्रमाण नहीं। घटादिविषयक ज्ञानों को स्वप्रकाश मानने पर भी उनसे आत्मा की – घटज्ञानादिकालिक आत्मा की – सिद्धि होती नहीं यह दिखा ही चुके हैं। ज्ञान से अन्य जो ज्ञानका विषय होता है उसी के बारे में संशयादि को ज्ञान हटा पाता है (अतः विषयभूत घट ही घटज्ञान से सिद्ध होगा, आत्मा नहीं)। ऐसे ही 'उस समय इससे ज्यादा नहीं देखा था' यों अज्ञान की स्मृति के लिये भी (अज्ञानगोचर) ज्ञान मानना ही पड़ेगा जो घटज्ञान से पृथक् ही होगा। इसलिये अहंकारधर्मभूत ज्ञान से अतिरिक्त नित्य ज्ञान अवश्य सम्मान्य है।

प्रश्न होता है : इस तरह नित्य ज्ञान आवश्यक है तो वृत्तिज्ञान अलग से क्यों मानना? दो तरह के – चिद्रूप और वृत्तिरूप – ज्ञान होते हैं इसमें क्या प्रमाण? 'जानता हूँ' यह अनुभव तो सिद्धान्तीको स्वीकृत चेतन की विषयता से ही संगत है, इसके लिये वृत्तिका क्या उपयोग? अज्ञाननिवृत्ति आदि जो कार्य वृत्ति से सम्पादित होने वाला मानते हो वह इन्द्रियसंयोग ही संपन्न कर सकता है क्योंकि जैसे वृत्ति जड है ऐसे ही इंद्रियसंयोग भी। (यदि वृत्ति चेतन होती तब उसे पृथक् मानने का उपयोग था पर वैसा सिद्धांती को मान्य नहीं।) अतः वृत्तिज्ञान की कल्पना काहे के लिये?

समाधानम्–i) ज्ञानकादाचित्कत्वाय वृत्तिः

न। कादाचित्कज्ञानं विनाऽपरोक्षघटादेः कादाचित्काऽविद्यानिवृत्त्यनुपपत्तेः। न च – इन्द्रियसम्बन्ध एव वृत्तिरिव चैतन्यसहकारी भवतु– इति वाच्यम्; आत्माऽविद्यानिवृत्तौ तदभावात्। न च तत्र शब्द एव सहकारी; अननुगमात्। न च प्रमाणत्वेनानुगमः; प्रमाणशब्दस्य प्रमाकरणार्थत्वेन वृत्तेरावश्यकत्वात्। तस्यानुमानादिसाधारणत्वाच्च। तस्माद् लाघवेन अपरोक्षवृत्तिरेव तद्धेतुः।

उक्त ढंग से वृत्ति व्यर्थ नहीं है। कभी कभी होने वाले किसी ज्ञान के बिना अपरोक्ष घटादि के बारे में विद्यमान अविद्या का जो कभी कभी हटना है वह संगत नहीं होता। वृत्तिकी तरह इंद्रियसंबंध ही चेतन का सहायक होकर अविद्यानिवृत्ति करता है यह नहीं मान सकते क्योंकि आत्मविषयक अविद्या की निवृत्ति में इंद्रियसंयोग सहायक नहीं बन सकता। आत्माविद्या के हटने में शब्द को सहकारी मानें तो साक्षात्कार का कोई अनुगत (एक तरह का) हेतु नहीं रह जायेगा। (कभी इंद्रियसंबंध तो कभी अन्य कुछ हेतु बनने लगेंगे जो तब अयुक्त हैं जब अनुगत हेतु संभव है)। इंद्रिय व शब्द दोनों प्रमाण हैं अतः प्रमाणरूप से दोनों एक तरह के ही हैं एवं च प्रमाण को हेतु मानने से अनुगतका लाभ हो जायेगा, वृत्ति का क्या लाभ? 'प्रमाण' शब्द प्रमा के करण का वाचक है अतः उससे होने वाली (अपरोक्ष) प्रमा को वृत्तिरूप मानना होगा (अन्यथा किसके प्रति वह करण बनेगा?) प्रमाण तो अनुमानादि भी हैं अर्थात् परोक्ष–अपरोक्ष सभी प्रमाहेतु प्रमाण कहलाते हैं (जबकि अनुमानादि से समूची अविद्या नहीं हटती, सिर्फ असत्त्वापादक आवरण हटता है, अभानापादक नहीं। इसलिये अविद्यात्वेन अवच्छिन्नके प्रति निवर्तकता की अवच्छेदकता अनुमानादिकी नहीं मान सकते।) अतः अविद्यानिवर्तक रूप से वृत्ति माननी अनिवार्य है। (अपरोक्ष वृत्ति अविद्यानिवर्तक है। परोक्ष वृत्ति केवल असत्त्वावरण की निवर्तक है जबकि अपरोक्ष वृत्ति दोनों आवरणों वाले अज्ञान की निवर्तक है।)

ऐसे ही 'ज्ञान' शब्द के शक्यार्थरूप से भी जो स्वीकार्य है उसी का नाम वृत्ति है। स्वरूप ज्ञान तो उन वाक्यों का अर्थ है जिनमें ज्ञानशब्द का प्रयोग है

ii) ज्ञानपदशक्यलभाय वृत्तिः

एवं ज्ञानपदवाच्यत्वेनाऽपि सा कल्प्यते, स्वरूपज्ञानमात्रस्य ज्ञानपदवद्वाक्यार्थस्य तद्वाच्यत्वाऽयोगात्।

iii)श्रुत्या वृत्तिसिद्धिः

एवं 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः (कै. १. ३) इति वाक्यादपि तत्सिद्धिः।

iv)जानामीत्यनुभवविषयतया वृत्तिः सिद्ध्यति

न च जानामीत्यनुभवोऽपि स्वरूपज्ञानं विषयी करोति; चैतन्यस्याऽदृश्यस्य चैतन्यविषयत्वाऽयोगात्, सम्बन्धाभावेन स्वस्य स्वविषयत्वाऽयोगाच्च। न चाऽभेदः सम्बन्धः, भेदाभावस्य विशिष्टप्रत्ययविषयत्वात्। स्वरूपमात्रस्याऽविशिष्टप्रत्ययसाधारणस्य विशिष्टधीनियामकत्वायोगाच्च।

जैसे 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ. ३. ९. २८) आदि, अतः उसे ज्ञान शब्द का शक्यार्थ नहीं कह सकते। (यदि पदका अर्थ स्वरूपज्ञान हो तो उसी को कहने के लिये ज्ञानपदघटित वाक्य का प्रयोग व्यर्थ होगा। किं च वाच्य मानें तो उसे प्रमेय भी स्वीकारना होगा जिससे स्वप्रकाशता की हानि होगी। अजन्य स्वतोभासमान वस्तु में ज्ञानपदकी शक्ति स्वीकृत भी नहीं क्योंकि लोक में उसके लिये ज्ञानपद का प्रयोग नहीं। अतः वृत्ति से विशिष्ट या उपहित हुआ स्वरूपज्ञान ही ज्ञानपदका वाच्य है। 'बुद्धेर्वृत्तौ ज्ञानता तावदेका' (१. १७९) आदि सङ्क्षेपशारीरक में यह बात बहुत विस्तार से सुस्पष्ट की गयी है।)

उपनिषत् में कहा है 'वेदान्तों के श्रवण से उत्पन्न विज्ञान से जिन्होंने परमार्थ का भली-भाँति निश्चय कर लिया है', अतः जन्य ज्ञान अवश्य मानना पड़ेगा। उसे ही वृत्ति कहते हैं।

'जानता हूँ' इस अनुभव का विषय भी वृत्ति ही संभव है स्वरूपज्ञान नहीं क्योंकि स्वरूपज्ञान खुद अनुभवरूप है, वह अनुभव का विषय नहीं हो सकता। स्वरूपज्ञान चेतनात्मक होनेसे अदृश्य अर्थात् चेतनका अविषय है। स्वयं का स्वयं से कोई संबंध न होने से स्वयं को स्वयं का विषय नहीं बना सकते। अभेद कोई सम्बन्ध नहीं हुआ करता: अभेद अर्थात् भेदका अभाव; वह विशिष्ट

कथं तर्हि 'घटस्य स्वरूपम्' इति प्रमितिः? का तत्र कथन्ता? स्वरूपघटशब्दयोरपर्यायत्वेन अर्थभेदसत्त्वात्। अन्यथा 'घटस्य घट' इति धीप्रसङ्गात्। औपचारिकव्यवहारमात्रं वा तदस्तु। अभेदसम्बन्धे प्रमेयत्वमपि नोदाहरणम्।

अतो जानामीत्यनुभवो वृत्तिमेव विषयी करोतीति सिद्धा वृत्तिः।

वृत्तिरन्तःकरणधर्मः

सा चान्तःकरणधर्मः। 'कामः सङ्कल्पः' (बृ.१. ५. ३) इत्यादिश्रुतेः,

प्रत्यय का विषय होता है (क्योंकि भेदविशिष्ट अभाव ही अभेदप्रत्यय से विषय किया जाता है)। स्वरूपमात्र तो अविशिष्ट ज्ञान का भी विषय बनता ही है अतः उसे (स्वरूपमात्र को) विशिष्टज्ञान का नियामक नहीं मान सकते। (सम्बन्ध, विशिष्ट के ज्ञान के प्रति हेतु होता है। यदि अभेद सम्बन्ध हो तो अवश्य विशिष्टज्ञान ही करायेगा जबकि स्वरूपमात्र ऐसा नियम नहीं रखता, वह अविशिष्टज्ञान का भी निरूपक बन जाता है। अतः अभेद संबंध नहीं है।)

यदि खुद का खुद से संबंध नहीं हो सकता तो 'घड़े का स्वरूप' यह प्रमा कैसे संगत है? इसमें पूछने की क्या बात! घड़ा-शब्द और स्वरूपशब्द पर्याय तो हैं नहीं, इनके अर्थों में अन्तर है। यदि ये पर्याय होते तो उक्त वाक्य से 'घड़े का घड़ा' यह बोध होना चाहिये, जो होता नहीं। या यही समझ लो कि यह केवल कहने का तरीका है, वास्तव में 'घड़े का' से कोई संबंध नहीं कह रहे (जैसे 'राहु का सिर' में 'का' केवल कहने भर को है, इसका अर्थभूत कोई संबंध विवक्षित नहीं, संभव भी नहीं)। जैसे प्रमेयता में प्रमेयता है ऐसे अन्यत्र भी अभेद को संबंध क्यों न मानें? इसलिये कि यही कहाँ प्रामाणिक है कि प्रमेयता में प्रमेयता रहती है? (प्रमेयता कहते हैं घटादिप्रमा की विषयता को। किन्तु प्रमेयता में घटादिप्रमाकी विषयता नहीं रहती। अतः प्रमेयता प्रमेय हो तो भी खुद का खुद से सम्बन्ध वहाँ नहीं सिद्ध होता।)

इसलिये 'जानता हूँ' यह अनुभव वृत्ति को ही विषय कर रहा है जिससे वृत्तिका अस्तित्व असंदिग्ध है।

जन्यज्ञानरूप वृत्ति अन्तःकरण का धर्म अर्थात् परिणाम या अवस्था है। कामना, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधीरता, लज्जा, ज्ञान, भय

परिशेषाच्च। न चात्मैव तदाश्रयः, अहङ्काराख्यान्तःकरणातिरिक्तात्मनः परमतेऽप्रसिद्धेः। अस्मन्मते तस्य ज्ञानस्वरूपत्वेन ज्ञानपरिणामाऽयोगात्, निरवयवस्य तस्य निमित्तसंयोगाभावेन तदनुपपत्तेश्च। न हि स्वात्यन्ताऽभावसमानाधिकरणस्य तस्य निर्भागे वृत्तिः सम्भवति। अव्याप्यवृत्त्यवच्छेदकभेदस्यापि तत्राऽसम्भवात्। न चोपाधिभेद-व्यतिरेकेण सत्यप्रपञ्चवादिन औपाधिकोऽधिकरणभेदः सम्भवति।

इत्यादि सभी मन ही हैं' आदि वेदवचन इसमें प्रमाण है। वादिसम्मत कोई अन्य पदार्थ है भी नहीं जो इस वृत्तिज्ञानका धर्म बन सके अतः अंतःकरण को ही मानना संभव भी है। अहंकारनामक अंतःकरणांश से अन्य कोई आत्मा पूर्ववादी मानता भी नहीं कि कहे कि मन से अन्य ही कोई आत्मा वृत्तिका आश्रय है। सिद्धांतस्वीकृत आत्मा तो ज्ञानरूप है, और ज्ञान कोई परिणामी वस्तु है नहीं कि उसका वृत्ति नामक परिणाम हो। किं च जन्य ज्ञान में निमित्त होता है संयोग (विषय या प्रमाण से संबंध होने पर ही परिणामात्मक ज्ञान होगा)। निरवयव आत्मा का किसी से संयोग संभव नहीं। अतः उसमें परिणामरूप ज्ञान भी असंगत है। संयोग वहीं रहता है जहाँ उसका अत्यंताभाव भी रहे जो तभी संभव है जब एक हिस्से में संयोग और दूसरे में उसका अभाव रहे, किन्तु आत्मा में हिस्से हैं ही नहीं! अतः उसमें संयोग नहीं रह सकता। अत एव ऐसे अवच्छेदक जो अव्याप्यवृत्ति होने से अवच्छिन्न भाग सम्पन्न कर सकें, वे आत्मा में सम्भव नहीं (वास्तव में निर्भाग होने से आत्मा में कोई खासियत नहीं मिलेगी जो सचमुच किसी हिस्से में रहे)। प्रपंच को सच्चा मानकर बिना विभिन्न उपाधियों के, अधिकरण में औपाधिक भेद भी संगत नहीं होता। (और पूर्वोदीरित हेतु से उपाधियाँ ऐसी अनुपलब्ध हैं। मिथ्या भेद मानने पर तो मिथ्या आत्मांश में रहने वाला धर्म, जन्यज्ञान, भी मिथ्या मानना पड़ेगा जो वादी मानता नहीं।)

न्यायाचार्यों ने 'इकट्ठे ही सब ज्ञान नहीं उत्पन्न होते' इस चिह्न से निर्णय किया कि ज्ञानों के प्रति कोई निमित्त कारण है जो क्रमशः संयोगी बनता है तब ज्ञान पैदा होते हैं। अतः ज्ञान के प्रति निमित्तरूप से स्वीकृत अंतःकरण को उसके प्रति उपादान भी कैसे माना जाये?

अन्तःकरणस्य वृत्त्युपादानत्वम्

नन्वन्तःकरणस्य युगपज्ज्ञानानुपपत्तिलिङ्गेन करणतया क्लृप्तस्य कथमुपादानत्वमिति चेद्? न; 'अहं जानामि' इति ज्ञानाश्रय-त्वेनाऽनुभूयमानस्य करणत्वाऽयोगात्। अन्यथा धर्मकल्पनालाघवेन आत्मन्येव क्रमजननशक्तिमात्रकल्पनेन अन्यथासिद्ध्या तदसिद्धेश्च; नियतक्रमस्य अदृष्टादेव परमत इवोपपत्तेः।

चक्षुरादि करणम्, आलोकः सहायकः

तत्र च चक्षुरादि करणम्, 'रूपादिकं जानामि' इत्यनुभूयमानस्य चक्षुराद्यन्वयव्यतिरेकानुविधानदर्शनात्।

मन साक्षिभास्य है, न कि उक्त अर्थापत्ति से सिद्ध। 'मै जानता हूँ' यों ज्ञान के आश्रय रूप से जिसका अनुभव हो रहा है उसे ज्ञान के प्रति निमित्त मानना यही तार्किकों की भूल है। या फिर उक्त अनुपपत्ति का परिहार तो इतना मानने से ही हो जाता है कि आत्मा में ही क्रमशः ज्ञान उत्पन्न करने की सामर्थ्य है; और शक्ति अर्थात् धर्म की ही कल्पना में लाघव भी है; इसलिये उक्त विधि से धर्मिभूत मन की सिद्धि होना ही नामुमकिन है। आखिर नियत क्रम के प्रति अर्थात् अनेक सामग्रियाँ होने पर किसी एक के ही कार्योन्मुख होने के प्रति वादियों को भी अदृष्ट या पुण्य-पाप को ही कारण कहना ही है; तो आत्मा में उक्त शक्ति मानने पर भी क्रमविशेष के प्रति उसे ही कारण कहना संगत है। (ये दोष वादी के मत में आते हैं क्योंकि वह मन को उक्त चिह्न से अनुमित करता है जबकि वह चिह्न स्वतंत्र मनःपदार्थ सिद्ध करने में समर्थ नहीं। सिद्धान्ती तो 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः' (मुं.२. १. ३) आदि श्रुतिसे तथा क्षेत्र में परिगणित (गी. १३.५) होने से साक्षिभास्य मनको प्रामाणिक मानता है तथा 'कामः संकल्पः' आदि पूर्वदर्शित श्रुति से ज्ञानादिको उसकी वृत्तियाँ कहता है।)

वृत्ति के प्रति चक्षु आदि करण या निमित्त हैं। चक्षु आदि होने पर वृत्ति होना और उनके न होने पर उसका न होना उनकी करणता सिद्ध करता है।

प्रकाश (भौतिक रोशनी) अँधेरा मिटाने में कारण बनता है क्योंकि उसका अन्वय-व्यतिरेक अँधेरा मिटाने से ही है, उससे भिन्न रूपादिज्ञान के साथ रोशनी के अन्वय-व्यतिरेक दोनों नहीं हैं। रोशनी ज्यादा होने से रूपज्ञान

आलोकश्च तमोनिवृत्तावेव कारणम्, तत्रैवान्वयव्यतिरेकदर्शनात्। रूपादिविज्ञाने पृथक्तयोरभावाच्च। न चालोकोत्कर्षाद् रूपज्ञानोत्कर्षोऽस्तीति स तत्र हेतुः; तत्राऽपि तमोनिवृत्त्युत्कर्षादेव तदुत्कर्षात्। अन्यथा, अतिस्थूलप्रदीपेन सर्वात्मना तमसि निवृत्ते ततोऽपि स्थूलतरेण ज्ञानोत्कर्षप्रसङ्गात्। स्वस्वाऽभावज्ञाने व्यभिचाराच्च नालोकश्चाक्षुषज्ञाने कारणम्।

प्रतिबन्धकाभावस्य कारणतानिरासः

एवं प्रतिबन्धकाऽभावोऽपि न कारणम्; सामग्रीकालीनकार्यानुत्पादप्रयोजकतयाऽन्यथासिद्धत्वेन तद्धेतुत्वे प्रमाणाभावात्।

भी कुछ ज्यादा होता है तो रोशनी रूपज्ञान में हेतु क्यों नहीं? वहाँ भी अँधेरा ज्यादा मिटने से ही रूपज्ञान में ज्यादा सफाई आती है (अतः रोशनी तो कारण के प्रति कारण होने से अन्यथा सिद्ध है)। यदि रोशनी बिना तमोहानिके खुद ही रूपज्ञान में कारण हो तो जहाँ भरपूर प्रकाश है वहाँ और अधिक रोशनी करने से रूपज्ञान और ज्यादा होना चाहिये! जबकि ऐसा होता है नहीं। किं च आलोक को ज्ञानहेतु मानने पर भी विषयसम्बद्ध आलोक ही ज्ञानहेतु कहा जा सकता है, असम्बद्ध नहीं। किन्तु जब खुद दीखता है तो किसी सम्बद्ध आलोक की ज़रूरत नहीं पड़ती। अतः सम्बंधी हुआ आलोक रूपज्ञान में कारण नहीं। ऐसे ही आलोकाभाव को भी वादी प्रत्यक्षसिद्ध – आँख से दीखने वाला – मानता है, वहाँ भी सम्बद्ध आलोक अपेक्षित नहीं होता। अतः रूपज्ञान के प्रति व्यभिचारी होने से उसे रूपज्ञानका कारण नहीं मान सकते, केवल जिन रूपज्ञानों के लिये तमोनिवृत्ति चाहिये उनके लिये तमोनिवर्तक बनकर सहकारी हो जाता है।

प्रतिबंधक का अभाव भी कारण नहीं है क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक से इतना ही सिद्ध होता है कि सामग्री रहते जो कार्य की अनुत्पत्ति है उसके प्रति प्रतिबंधक प्रयोजक है (अर्थात् अनादि अनुत्पत्ति का अग्रिम क्षण से सम्बन्ध हो इसमें प्रतिबंधक निमित्त बनता है)। अतः प्रतिबंधकाभाव को कारण मानने में कोई प्रमाण नहीं। मण्यादि में जो मणित्वादि है वही कार्य के अनुत्पाद में प्रयोजक है क्योंकि मण्यभावाभावत्व को दाहाभाव में प्रयोजक मानना गौरवग्रस्त है। (प्रतिबंधक का अभाव कारण हो तब प्रतिबंधकाभाव का अभाव

किञ्च मणित्वादिकमेव मण्यादेः कार्यानुदये प्रयोजकम्, न तु तदभावाभावत्वम्, इति मण्याद्यभावव्यतिरेकोऽन्यथासिद्धः। न च मणित्वादिकमेव मण्याद्यभावाभावत्वम्; तस्य निष्प्रतियोगिकत्वात्। मणिः, मण्यभावाभावः – इति पृथक् प्रतीतेश्च।

किञ्च अभावमात्रं न कारणमिति न किञ्चिदनिष्टम्।

होने से प्रतिबंधक कार्याभाव में प्रयोजक हो। किन्तु इतना मानने में स्पष्ट ही गौरवादि हैं।) इसलिये मण्यादिके अभावका जो कार्य से व्यतिरेक है वह अन्यथासिद्ध है। (जब मण्यभावाभाव कार्याभावका प्रयोजक नहीं तब मण्यभाव भी कार्य का प्रयोजक नहीं हो सकता। तात्पर्य पूरणी में बताया – यदि मण्यभावाभावता कार्याभावकी प्रयोजकता का अवच्छेदक होता तब उसके अभाव को दृष्टि में रखकर अन्वय-व्यतिरेक देखा जाता और मण्यभाव कार्य में प्रयोजक बनता। किन्तु जब उसे अवच्छेदक नहीं माना तब उसकी जगह मणि को ही दृष्टि में रखकर (मणित्वेन) अन्वय-व्यतिरेक देखा जायेगा जिससे प्रतिबन्धकाभाव कार्य के प्रति हेतु नहीं बन पाता।) यह नहीं कह सकते कि मणित्वादि ही मण्यभावाभावत्व भी है, क्योंकि मणित्वादि की उपस्थिति प्रतियोगी की अपेक्षा के बिना होती है जबकि अभाव ऐसा नहीं हो सकता। मणि इस ज्ञान का आकार-प्रकार मण्यभावाभाव इस ज्ञान के आकार-प्रकार से अलग ही है।

सिर्फ अभाव किसी के प्रति भी कारण होता है यही असंभव है अतः प्रतिबंधकाभाव को कारण न मानना किसी अनिष्ट का आपादक नहीं। (उपलब्ध्यभाव को अभावप्रमा का कारण कैसे मानते हो? नहीं मानते। हमारे सिद्धांत में अनुपलंभ ज्ञान, जो साक्षिरूप है, वही अभावप्रमा के प्रति कारण है, उपलब्ध्यभाव नहीं। ऐसे ही विहित का अननुष्ठान प्रत्यवायजनक नहीं किन्तु विहित के योग्य काल में विहितविरुद्ध का अनुष्ठान – वह चाहे कायिक हो या मानसिक – प्रत्यवायहेतु है। यहाँ पूरणी में ग्रन्थकार के अभिप्राय को 'आपाततः' कहकर प्रतिबंधक से शक्त्यभिभव होता है इस प्रसिद्ध मत का समर्थन किया है तथा स्वरूपसत् अनुपलंभ को ही अभावप्रमामें हेतु माना है। अभावमात्र कारण नहीं होता इसे भी वे असार बात कहते हैं। वस्तुतः शक्ति न मानने वाले तार्किक को प्रतिबन्धक की अन्यथासिद्धि दिखाना अभिप्रेत होने

विशेषणज्ञानं न कारणम्

एवं विशेषणज्ञानमपि न कारणम्, तत्सन्निकर्षादेव विशिष्टज्ञानोपपत्तेरिति। एतत् सकलमन्यत्रोपपादितम्।

विषयदेशे वृत्त्युद्भवः

सा च वृत्तिरिन्द्रियसम्बन्धाजायमाना विषयदेशस्थैव जायते। न च परमत इवान्तरेवावतिष्ठते, न वाऽन्तर्जाता निर्गच्छति। अन्तःस्थत्वे घटादीनामपरोक्षत्वाऽयोगात्।

अपरोक्षत्वपरीक्षा

न च – इन्द्रियजन्यज्ञानविषयत्वमर्थस्याऽपरोक्षत्वमिति तदन्यथाऽपि सिद्ध्यति – इति वाच्यम्; सुखादेस्तदभावप्रसङ्गात्, तस्य केवलसाक्षिभास्यत्वात्। परोक्षे मनोजन्यानुमितिविषयपरमाण्वादेरपि तदापत्तेश्च।

से ग्रंथकार की स्थापना उचित है। अनुपलब्धि के सम्बन्ध में भी सर्वज्ञात्ममुनि आदि प्राचीनाचार्यों का अनुसरण ग्रंथकार ने किया है अतः उनका पक्ष संगत है। 'प्रमाणलक्षण' नामक ग्रंथ सर्वज्ञात्ममुनि का दर्शनीय है। भाव से अन्य अभाव कोई पदार्थ ही अमान्य होने से अभावमात्र को कारण न मानना युक्तियुक्त ही है।)

इसी तरह विशेषणज्ञान भी (विशिष्टज्ञान के प्रति) कारण नहीं क्योंकि विशिष्ट से संनिकर्ष होने से ही विशिष्ट का ज्ञान उपपन्न हो जाता है (पहले विशेषण देखें, विशेष्य देखें तब विशिष्ट दीखे ऐसी कल्पना व्यर्थ है)। इन सब विषयों को ग्रन्थान्तरों में युक्तिपूर्वक समझाया गया है।

इन्द्रियसम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली वह वृत्ति वहाँ पैदा होती है जहाँ विषय मौजूद हो। जैसा कुछ वादी मानते हैं कि देह के भीतर ही मनमें (या देहावच्छिन्न आत्मा में) जन्यज्ञान उत्पन्न होता है अथवा भीतर पैदा होकर वृत्ति बाहर जाती है, वैसा हमें स्वीकार नहीं क्योंकि वृत्ति यदि भीतर स्थित हो तो बाह्य घटादि विषय अपरोक्ष होना अनुपपन्न होगा।

इन्द्रिय से जन्य ज्ञान का विषय होना अर्थ की अपरोक्षता है और इसकी संगति वृत्ति के बिना या विषयदेशीय वृत्ति के बिना हो ही जाती है तब विषयापरोक्ष्य के लिये वृत्ति का बाहर उत्पन्न होना क्यों मानना? अर्थ की अपरोक्षता यदि इन्द्रियजन्य ज्ञान का विषय बनना हो तब सुखादि का ही अपरोक्ष असंभव होगा! वे तो सिर्फ साक्षी के भास्य हैं, किसी इंद्रिय के भास्य नहीं। किं च तार्किक मन को इंद्रिय मानते हैं अतः उनके मत में मन से जन्य अनुमिति के ही विषय रहने वाले परमाण्वादि भी अपरोक्ष अर्थ होने लगेंगे!

न चापरोक्षत्वं जातिः; अविद्यातिरिक्तजडजातौ प्रमाणाभावात्। न हि सर्वमुक्तौ घटादिसद्भावे प्रमाणमस्ति।

ज्ञानाऽर्थसंविदापरोक्ष्यम्

तस्माद् – अपरोक्षार्थविषयत्वमेव ज्ञानेऽपरोक्षत्वम्। अर्थस्य चाऽपरोक्षत्वम् – अपरोक्षानावृतसंवित्तादात्म्यात्, न स्वतः, जडस्य तदयोगात्। संविदस्तु – स्वत एव तत्। 'यत् साक्षाद् अपरोक्षाद्' (बृ. ३. ४. १) इति श्रुतेः। तत्र साक्षादिति घटादिवत् ज्ञानद्वाराऽपरोक्षत्वस्य निरस्तत्वात्। संवित्तादात्म्यमात्रेण घटादेरापरोक्ष्ये तु सर्वं सर्वस्य सर्वदाऽपरोक्षं स्याद् इति अनावृतेत्युक्तम्।

अपरोक्षता कोई जाति भी नहीं है। अविद्या से अतिरिक्त कोई जडजाति प्रामाणिक नहीं। सब जीव मुक्त हो जाने पर घटादि रहते हैं (जिनमें घटत्वादि प्रसिद्ध हो सके) इसमें भी कोई प्रमाण है नहीं कि घटत्वादि धर्म नित्य जातिरूप हों।

इसलिये यह निष्कर्ष है: अपरोक्ष अर्थ को विषय करना ज्ञान की अपरोक्षता है। अनावृत अपरोक्ष संवित् से तादात्म्य अर्थ की अपरोक्षता है क्योंकि अर्थ जड होने से स्वयं अपरोक्ष नहीं हो सकते। संवित् की अपरोक्षता स्वतः ही है क्योंकि वेद ने कहा है 'जो साक्षात् अपरोक्ष है वह ब्रह्म है'। घटादिकी तरह ज्ञानके द्वारा होने वाली अपरोक्षता संवित् में नहीं यह बताने के लिये 'साक्षात्' कहा। यदि सिर्फ संवित् से तादात्म्य के कारण घटादि की अपरोक्षता होती तो सदा सबको सभी कुछ अपरोक्ष होता जो हुआ नहीं करता इसलिये अर्थापरोक्ष्य में जिस संवित् से तादात्म्य कहा उसका विशेषण दिया 'अनावृत'।

विषयों के कादाचित्क आपरोक्ष्य की उपपत्ति के लिये यह व्यवस्था समझनी चाहिये : अन्तःकरण से अवच्छिन्न और घटादि से अवच्छिन्न चेतन वास्तव में एक होने पर भी उपाधियों के भेद से विभिन्न हैं। जब अंतःकरणवृत्ति

चैतन्याऽभेदाय वृत्तिः

तस्माद् यदाऽन्तःकरणवृत्त्या घटाद्यवच्छिन्नचैतन्यमुपधीयते तदाऽन्तःकरणावच्छिन्नघटाद्यवच्छिन्नचैतन्ययोर्वस्तुत एकत्वेऽपि उपाधिभेदाद् भिन्नयोः एकोपाधिसम्बन्धेनैक्याद् भवत्यभेदः। इति अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नतदधिष्ठानचैतन्याभेदसिद्ध्यर्थं वृत्तेर्निर्गमनं वाच्यम्।

विषयावरणनिवृत्तये वृत्तिः

एवं घटाद्यवच्छिन्नचैतन्यावरणाज्ञाननिवृत्त्यर्थमपि तत् कल्प्यम्, यन्मते घटाद्यवच्छिन्नचैतन्यावरकाज्ञानं तन्निष्ठम्। ज्ञानं हि स्वसमानाश्रयविषयमज्ञानं निवर्तयति, अन्यथातिप्रसङ्गात्, मूलाज्ञाननिवर्तके तथा दृष्टत्वाच्च। न च वृत्तिनिर्गमनं विनाऽन्तःकरणचैतन्यगतज्ञानस्य विषयचैतन्यस्थता भवति।

से घटादि-अवच्छिन्न चैतन्य भी उपहित हो जाता है तब उक्त दोनों चेतनों का अभेद हो जाता है क्योंकि (अंतःकरणरूप) एक उपाधि का दोनों से सम्बन्ध है। (अतः जब घटचैतन्य अनावृत होता है तब वहीं मौजूद अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य भी अनावृत ही हुआ और वहीं तादात्म्यसे अवस्थित घट अपरोक्ष हो जाता है। यों ज्ञान-विषय का सम्बंध नियमित रहता है।) इसलिये अपरोक्षज्ञान की व्यवस्था के लिये अपेक्षित जो अंतःकरणावच्छिन्न चैतन्य का विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभेद, विषयावच्छिन्न चेतन ही उसका अधिष्ठान अर्थात् तादात्म्येन अधिकरण है, उस अभेद के लिये वृत्तिरूप से अंतःकरण का शरीर से बाहर निकलकर विषयस्थान पर पहुँचना अवश्य मानना चाहिये।

जिस पक्ष में स्वीकृत है कि घटादि से अवच्छिन्न चैतन्य का आवरक अज्ञान उसी चैतन्य पर स्थित है उस पक्ष में उस आवरणभूत अज्ञान की निवृत्ति के लिये भी वृत्ति का बहिर्गमन मानना पड़ता है। ज्ञान अपने आश्रय में रहने वाले और अपने ही विषय को विषय करने वाले अज्ञान को हटाता है, ऐसा न हो तो देवदत्त को हुआ घटज्ञान यज्ञदत्त के पटाज्ञान की निवृत्ति किया करे! मूलाज्ञान के निवारक ज्ञान में यह नियम – कि ज्ञान अज्ञान के आश्रय विषय एक होते हैं – देखा भी जाता है (अर्थात् 'आत्मानमेवावेत्' आदि में श्रुत

अन्तर्जाताया वृत्तेर्बहिर्गमनमसंभवि

न चान्तरेव जाता निर्गच्छति, कार्यस्य कारणं विनाऽन्यत्रागमनात्, अन्तःकरणस्य सर्वात्मनाऽगमनात्।

परिच्छिन्नस्य व्यापिकार्योपपत्तिः

अत एव वृत्तिर्न गुणो न वा क्रिया। ननु परिच्छिन्नेन अन्तःकरणेन कथं बहुदेशव्यापिकार्यारम्भ इति चेद्? न, चक्षुरादेरिव जलूकादेरिव च तदुपपत्तेः।

है या ग्रंथकारादि विद्वानों को स्वानुभवसिद्ध है)। वृत्ति निकले बिना अंतःकरणावच्छिन्न चैतन्य में हुआ ज्ञान विषयचैतन्य पर उपस्थित हो नहीं सकता कि वहाँ के आवरण को मिटा सके। अतः वृत्ति चाहिये।

शरीर के भीतर रहते मनसे ही वृत्ति बनकर बाहर निकलती हो ऐसा नहीं क्योंकि वृत्तिरूप कार्य मनरूप कारण के गये बिना बाहर जा नहीं सकता और पूरा मन बाहर निकल नहीं जाता (अन्यथा घट का अपरोक्ष होते समय देह शव बन जाये! सिद्धांत में विषयचैतन्य से सम्बद्ध होने के बाद अंतःकरण वहाँ वृत्ति उत्पन्न करता है अतः वृत्ति सर्वथा अंतःकरण का ही धर्म नहीं है। यदि भीतर रहते ही वृत्ति बन जाये तो वह सर्वथा मनोधर्म होगी। उस परिस्थिति में वृत्ति बाहर तब जा सकेगी जब मन जाये क्योंकि वृत्ति से अन्य कोई मन का हिस्सा है जो बाहर जाये – यह मानने में प्रमाण नहीं; किं च पहले वृत्ति बन गयी और बाहर जाने से पूर्व दृष्टि दूसरी तरफ हो गयी तो यह अनुभव होना चाहिये कि 'मैंने जाना तो था पर घड़ा अनावृत नहीं हो पाया!' और ऐसा कभी होता नहीं।)

विषयसे संयोगी होने के कारण ही वृत्ति गुण या क्रिया नहीं (क्योंकि वे संयोगी नहीं होते)। परिच्छिन्न (सीमित) अंतःकरण बहुत जगह फैली वृत्तिरूप कार्य कैसे बनाता है? जैसे आँख या जोंक फैल जाते हैं या प्रभा फैलती है ऐसे मन का फैलना संगत है।

(क्योंकि मन तथा इंद्रिय अपंचीकृत भूतों के कार्य हैं अतः चक्षुरादिगम्य नहीं इसलिये इनका बाहर जाना आँखादि से दीख नहीं सकता और न ही मना किया जा सकता है। किं च 'दूर चंद्र दीख रहा है' आदि अनुभव इनके बहिर्गमन से ही उपपन्न हैं। तथापि सिद्धांत में इस व्यवस्था का आग्रह नहीं अतः

परोक्षार्था वृत्तिर्न विषयं प्रयाति

परोक्षे तु मनसो बहिरस्वातन्त्र्यान्न निर्गमनम् । अत एव अपरोक्षविषयः फलव्याप्यः, परोक्षस्तु वृत्तिव्याप्य एवेति सिद्धान्तः। अभिव्यक्तं विषयावच्छिन्नं चैतन्यं फलं, तेन तादात्म्येन सम्बद्धं फलव्याप्यम्। तत्तु अपरोक्ष एव सम्भवति। परोक्षे तु विषयावच्छिन्नचैतन्याभिव्यक्तेरभावात्। तदेव स्फुरणमित्युच्यते, ज्ञानजन्यज्ञातताख्यस्फुरणे प्रमाणाभावात्।

परोक्षे स्फुरतेरर्थः

ननु परोक्षे वह्निः स्फुरतीत्यनुभवात्तत्र चैतन्याभिव्यक्तिरस्तीति चेद्? आप्तवाक्यादिनाऽवगतेऽपि चन्द्रपरिमाणादौ भ्रमदर्शनेन तत्राऽज्ञानस्य सत्त्वात्। वृत्त्याकारतयाऽऽन्तरचैतन्यसम्बन्धादेव स्फुरतीत्यनुभवोपपत्तेश्च।

यदि बाहर दीखना आदि भ्रम ही मान लिया जाये तो इस व्यवस्था का प्रयोजन स्वतः सिद्ध हो जाता है।)

परोक्षविषयक ज्ञान होने पर वृत्ति बाहर नहीं जाती क्योंकि मन शरीर से बाहर निकलने के लिये इद्रियों के परवश है और वे तब विषयसंयुक्त होती नहीं। इसीलिये सिद्धांत है कि अपरोक्षविषय फलव्याप्य होता है तथा परोक्ष विषय केवल वृत्तिव्याप्य होता है अर्थात् वृत्ति के आकाररूप से ही वृत्ति का विषय होता है । अभिव्यक्त या अनावृत हुआ विषयावच्छिन्न चैतन्य फल कहा जाता है और उससे जो तादात्म्य को प्राप्त हो उसका नाम फलव्याप्य है। फलव्याप्ति अपरोक्ष स्थल में ही संभव है। परोक्ष ज्ञान स्थल में तो विषयावच्छिन्न चैतन्य अभिव्यक्त होता ही नहीं। फलव्याप्ति को ही स्फुरण भी कहते हैं। ज्ञान से उत्पाद्य ज्ञातता-नामक स्फुरणरूप कोई धर्म विषय पर रहता है ऐसी भाट्टकल्पना प्रमाणहीन है।

अनुमानादि परोक्ष स्थलों में 'वह्नि स्फुर रही है' आदि अनुभव से वहाँ भी चैतन्याभिव्यक्ति क्यों न मानी जाये? इसलिये कि आप्तवाक्यादि से चंद्रके आयामादि जान चुकने पर भी 'बित्ते भर का चाँद है' आदि भ्रम अनुभव में आता रहता है। (यद्यपि परोक्ष अर्थ 'स्फुर रहा है' यह अनुभव नहीं होता तथापि यदि किसी को हो जाये तो) आन्तर चैतन्यका वृत्ति के द्वारा परोक्षविषय से भी

वृत्तिरनित्या

सा च वृत्तिर्नश्यति। चक्षुरादिजन्यज्ञानपदवाच्यस्य ज्ञानं नष्टमित्यनुभवाद्, भावकार्यस्य तन्नियमाच्च। अत एव सा नैकेत्युत्पत्तिविनाशवदन्तःकरणवृत्तिरूपमेकं ज्ञानमहङ्कारतद्धर्मसाधकं तदतिरिक्तं चैकमिति सिद्धम्।

चिद्रूपानुभवस्यैकत्वम्

तच्च ज्ञानमेकं, तद्भेदे मानाऽभावात्। अभेदे च अनुभवैकाकारा

सम्बन्ध है क्योंकि वह वृत्तिका आकार है ही अतः परोक्ष स्थल में 'स्फुरण' शब्द का इस खास अर्थ में प्रयोग संभव है (न कि प्रसिद्ध अर्थ में)। यहाँ ग्रंथकार ने दीपन में स्पष्ट किया है कि परोक्ष अर्थ का वृत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं होता, केवल अविद्या की महिमा से तदीयत्वेन व्यवहार हो जाता है। वृत्ति की विषयाकारता का लक्षण भी किया है 'वृत्तेश्च तदाकारत्वं तन्निरूपणाधीननिरूपणार्हत्वं, तद्व्यवहारार्हत्वं वा।')

वह वृत्ति नष्ट भी होती है। आँखादि से जन्य जो दीखना आदि अनुभव ज्ञान कहा जाता है वह 'नष्ट हो गया' यों पता चलता है और सभी भावभूत कार्य नाशवान् होते हैं इसलिये अनुभव तथा युक्ति से वृत्ति नश्वर है। इसीलिये वह एक नहीं अनेक हैं। इस प्रकार एक ज्ञान-पदार्थ हुआ जो उत्पत्ति वाला, विनाश वाला और अंतःकरण की वृत्तिरूप है। उससे अलग दूसरा ज्ञानपदार्थ है जो अहंकार और उसके धर्मों का साधक अर्थात् साक्षी या भासक है।

वृत्ति से अन्य जो उसका प्रकाशक ज्ञान है वह एक है क्योंकि उसकी अनेकता में कोई प्रमाण नहीं। ज्ञान अभिन्न है इसमें यही पर्याप्त प्रमाण है कि प्रत्यक्ष, अनुमानादि सभी 'ज्ञान' इस एक तरह ही अनुभव में आते हैं अर्थात् सभी ज्ञान हैं। सब सास्नादि वाली धेनु 'गाय' यों एक तरह अनुभव में आने पर भी गायें अनन्त हैं तथा एक आकार का ज्ञान गोत्व जाति को विषय करता है ऐसे यहाँ भी अनेक ज्ञानों में ज्ञानत्व ही एक है ऐसा क्यों न मानें? इसलिये नहीं मान सकते कि जहाँ व्यक्तिभेद निश्चित हो वहीं एकाकार ज्ञान जातिविषयक होता है, जहाँ व्यक्तिभेद संदिग्ध हो वहाँ एकाकार ज्ञान व्यक्ति की एकता को ही विषय करता है जैसे घटाकाश, मठाकाश आदि में आकाश

बुद्धिः प्रमाणम्। न चैकाकारा बुद्धिर्जातिविषया गवाद्यनुगतबुद्धिवदिति वाच्यम्; निश्चितभेदव्यक्तौ हि तथा। तत्सन्देहे तु व्यक्त्यैक्यमेव आकाशानुगतबुद्धिवद् विषयी करोति। अन्यथा अनेका व्यक्तयो जातिश्चेति गौरवम्।

तत्रानुमानम्

एवं – घटः स्फुरतीत्यनुभूयमानं स्फुरणं पटादिस्फुरणप्रतियोगिकस्वसमानसत्ताकभेदवन्न भवति, स्फुरणत्वात्, पटादिस्फुरणवत्। घटादौ च निषेध्यप्रसिद्धिः। स्फुरणमात्रं पक्षीकृत्य व्यतिरेकिलिङ्गं वास्तु। घटादौ साध्यव्यतिरेकस्य प्रसिद्धत्वाद् न व्याप्तिग्रहानुपपत्तिः। विपक्षे च गौरवं बाधकम्।

यह एकाकार ज्ञान आकाश की एकता का ही साधक है। ऐसा न मानो तो अनेक व्यक्ति भी मानने होंगे और उनमें एक जाति भी माननी होगी जिससे महान् गौरव होगा जबकि एक व्यक्ति स्वीकारना ही पर्याप्त हो रहा है।

यह अनुमान भी है: 'घड़ा स्फुर रहा है' यों अनुभूयमान स्फुरण, ऐसे भेद वाला नहीं है जो इस स्फुरण की सत्ता के समान सत्ता वाला हो और जिस भेदका प्रतियोगी पटादिस्फुरण हो; क्योंकि यह स्फुरण है, इसमें दृष्टांत है पटादिस्फुरण। (पटादिस्फुरण में स्वप्रतियोगिक भेद नहीं ही रहेगा)। जिस भेद का अभाव साध्य है वह भेद घटादि में प्रसिद्ध है (क्योंकि व्यावहारिक सत्ता वाले घट में स्फुरण का भेद भी व्यावहारिक होने से स्फुरणसमानसत्ताक है। घटविशिष्ट स्फुरण व्यावहारिक ही है, पारमार्थिक नहीं।)

अथवा यह प्रयोग है: स्फुरण, स्फुरणप्रतियोगिक भेद वाला नहीं है, स्फुरण होने के कारण, व्यतिरेकेण घटकी तरह। यहाँ भेदाभावरूप साध्यका व्यतिरेक है संविद्भेद जो घटादि में प्रसिद्ध है और वहाँ साधन का, स्फुरण का, व्यतिरेक है ही। अत: व्याप्ति का ग्रहण हो जाता है। यदि ऐसा न मानें तो अनेक स्फुरणों की कल्पना अनिवार्य होगी – यह विपक्ष में बाधक तर्क है।

अनुभूयमान ज्ञानभेद ज्ञानाभेदानुमान का बाधक नहीं क्योंकि 'ज्ञानों में भेद है' यह अनुभव वृत्तिज्ञानों को विषय करता है तथा विषयोपहित ज्ञानों के भेद को गोचर करता है अर्थात् उपाधिभेद का ही साधक बन जाता है, ज्ञानभेद

स्फुरणमनाद्यनन्तम्

न च ज्ञानभेदानुभवविरोधः, तस्य वृत्तिविषयत्वाद्, औपाधिकभेदविषयत्वाच्च। अत एव अनाद्यनन्तं स्फुरणं, सकलविषयग्राहिस्फुरणजनकस्य नाशकस्य वाऽसम्भवात्, न हि चक्षुरादीनां तादृक् सामर्थ्यमस्ति।

स्वप्नसाधकतया स्फुरणसिद्धिः

तदेव हि स्फुरणं स्वप्नस्य साधकम्, अन्यथा स्वप्नानुभवाऽसम्भवात्। न च स्मृतिरेव स्वप्न इति वाच्यम्; देशविशेषवैशिष्ट्यस्य पूर्वमननुभूतत्वात्।

का नहीं। इसलिये स्फुरण जन्म-नाश से वर्जित है। सभी विषयों को ग्रहण करने वाले स्फुरण को पैदा या नष्ट करने वाले का अस्तित्व ही असंभव है। आँख आदि जो उस स्फुरण से स्वयं सिद्ध होते हैं, वे उसे पैदा या नष्ट कर सकें इसकी संभावना ही नहीं (क्योंकि ये कुछ करें उसके पहले इन्हें सिद्ध होना पड़ेगा और सिद्ध ये उसी स्फुरण से हो सकते हैं। ऐसे ही ये उसे नष्ट कर चुके इसे कौन सिद्ध करेगा? वह स्फुरण ही यह भी सिद्ध कर सकता है, और कोई नहीं। अत: इसका जन्म-नाश असंभव है)।

वही नित्य साक्षिरूप स्फुरण स्वप्नदृष्ट गजादि पदार्थों का भासक है। बाकी सब ज्ञानोपाय उपरत हो चुकने से उसे न स्वीकारें तो स्वप्नका अनुभव ही संभव नहीं रहेगा। स्वप्न को स्मृतिमात्र नहीं कह सकते क्योंकि स्वप्न में अनुभूयमान जो देशविशेषादिका वैशिष्ट्य वह पूर्व में अनूभूत है नहीं कि स्मृतिहेतुभूत संस्कार उपलब्ध हो। स्वप्न मनसे किया आरोप भी नहीं क्योंकि बाह्य विषयों को बिना इंद्रियसहायता के मन नहीं विषय कर सकता। बाह्य विषयों से मन का सम्बंध ज्ञानरूप संबंध से स्थापित हो सके यह भी संभव नहीं क्योंकि यह बता चुके हैं कि ज्ञान कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। उसे प्रत्यासत्ति मानने वाले भी वहीं मानते हैं जहाँ वैशिष्ट्य पहले अनुभव किया जा चुका हो। (जैसे सौरभ का वैशिष्ट्य चंदन में यदि अनुभूत है तभी कालान्तर में ज्ञानलक्षण संनिकर्षसे सुरभिवैशिष्ट्य चंदन में दीखता है।) किं च ज्ञानलक्षण सम्बन्ध से जो जाना जाता है उसमें ऐन्द्रिय आपरोक्ष्य न होने से परोक्षता होती है, जैसे अंधे को अनुभव में आने वाली शुक्लता परोक्ष रहती है; यदि स्वाप्न वस्तुयें ज्ञान

न च मानसारोपः स्वप्न इति वाच्यम्; बहिर्मनसोऽप्रवृत्तेः। ज्ञानं च न प्रत्यासत्तिः। प्रत्यासत्तिरपि तद्यत्र यद्वैशिष्ट्यं पूर्वमनुभूतं तत्रैवेत्युक्तमन्यत्र। अन्धेनानुभूयमानशौक्ल्यवत् स्वप्नस्य परोक्षतापत्तेश्च।

स्वप्नस्याधिष्ठानम्

स च स्वप्नपदार्थोऽन्तःकरणोपहितसाक्षिण्येवाऽध्यस्यते, न तु तद्विशिष्टे, अहं गज इत्यप्रतीतेः। नाप्यनुपहितचैतन्ये, 'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तत' इति (बृ. २. १. १८) श्रुतेः। बाह्यचैतन्यस्य अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्याऽसम्बन्धेन अनुभवाऽयोगाच्च। अन्यथाऽन्यस्वप्नानुभवप्रसङ्गः।

लक्षणसम्बंध से देखी गयी हों तो वे भी परोक्ष रहनी चाहिये थीं जो होता नहीं।

उन स्वप्नदृष्ट गजादि पदार्थों का अध्यास अन्तःकरणसे उपहित साक्षी में ही होता है, न कि अंतःकरण से विशिष्ट चेतन में क्योंकि विशिष्ट पर अध्यास होने पर 'मैं गज' प्रतीति नियमतः होनी चाहिये, 'यह गज' आदि नहीं। (अंतःकरण उपाधिरूप से जिसे व्यावृत्त करते हुये निरूपित करता है वह अंतःकरण से उपहित कहा जाता है। यावत्कार्यभावी कार्य में अनन्वयी व्यावर्तक को उपाधि कहते हैं जैसे श्रोत्रकी उपाधि है कर्णशष्कुली। कार्य में अन्वयी व्यावर्तक विशेषण होता है। यह भी नियम है कि आरोपित का अधिष्ठान से अभेदानुभव होना चाहिये। यदि अधिष्ठान विशिष्ट हो तो उससे अभिन्न होकर सब चीज़ें 'मैं' से अन्वित ही दीखें जो होता नहीं)।

अनुपहित (आर्थात् अहंकार से उपलक्षित) चैतन्य में स्वप्नाध्यास नहीं मान सकते क्योंकि 'अपने शरीर में जैसे मर्जी घूमता है' आदि श्रुति ने शरीरावच्छिन्न आत्मा में ही स्वप्नदर्शन बताया है (जबकि अनुपहित कहने पर उसी के – अवच्छिन्न के ही – ग्रहण का नियम नहीं।) किं च बाह्य अर्थात् अनुपहित चेतन का अंतःकरणावच्छिन्न चेतन से संम्बन्ध न होने के कारण अनुपहित अधिष्ठान हो तो हमें स्वप्न का अनुभव नहीं हो सकेगा। चेतन की स्वाभाविक एकता को आपरोक्ष्य का प्रयोजक नहीं मान सकते, नहीं तो देवदत्त के स्वप्न का यज्ञदत्त को भी अपरोक्ष होने लगेगा! इसलिये अंतःकरण से उपहित साक्षी में अध्यास के कारण ही स्वप्न की अपरोक्षता संभव होने से स्वाप्नापरोक्ष्य की अन्यथानुपपत्ति साक्षी में प्रमाण है।

सौषुप्तसाक्षिवर्णनम्

एवं सुखमहमस्वाप्समिति परामर्शसिद्धसुषुप्तिसाक्ष्यपि स एव। सुषुप्तौ जन्यज्ञानाऽसम्भवात्।

तस्माद् अनुभव एकोऽनादिरनन्तोऽवस्थात्रयसाक्षीति सिद्धम्।

ज्ञानतानिरुक्तिः

स चानुभवोऽविद्योपधानदशायामर्थं प्रकाशयति प्रदीपप्रकाश इव घटादीन्, तदभावे तु मुक्तौ स्वमहिमस्थ एवायं प्रकाशते।

नन्वेवमर्थप्रकाशत्वाभावान्न ज्ञानं स्यात्तस्य तल्लक्षणत्वादिति चेद्?

'मैं आराम से सोता रहा' इस स्मृति से सिद्ध होने वाला सुषुप्तिका साक्षी भी वही नित्य ज्ञान है क्योंकि जन्य ज्ञान उस अवस्था में संभव नहीं कारण कि उसका कोई हेतु वहाँ कार्यकारी नहीं अन्यथा नींद खुल जानी पड़ेगी। (हमें अपनी ही नींद का अनुभव और स्मरण होता है अतः सुषुप्ति में 'अपनापन' संगत करने के लिये स्वीकारना पड़ता है कि अंतःकरणरूप उपाधि तब संस्काररूप से अर्थात् सूक्ष्मरूप से विद्यमान है। एवं च तब भी सूक्ष्मरूप से अवस्थित अन्तःकरण से चेतन अवच्छिन्न ही है। इस तरह तीनों अवस्थाओं में अंतःकरण से उपहित चेतन ही जीव के व्यवहारों का घटक साक्षी है।)

पूर्वोक्त विचार से यह निष्कर्ष निकला कि एक, अनादि, अनन्त अनुभव ही तीनों अवस्थाओं का साक्षी है।

जब अविद्या उपाधिरूपसे कार्यकारी रहती है तब वही अनुभव पदार्थों का प्रकाशन करता है जैसे प्रदीप घटादि का प्रकाशन करता है। अविद्या न रहने पर मोक्ष में अपनी महिमा में स्थित हुआ यह अकेला ही प्रकाशता है।

'अर्थ का प्रकाशन करना' यही ज्ञानका लक्षण है अतः मोक्ष में ऐसा न होने से इसे ज्ञान कैसे कहा जाये? ज्ञानका उक्त लक्षण नहीं अतः इसे ज्ञान कहना ठीक है। ज्ञान का लक्षण है – प्रकाशपदका वाच्य वह स्वरूपविशेष जो अविद्या की निवृत्ति के अनुकूल होता है ज्ञान कहा जाता है। (अविद्या भावपदार्थ समझना चाहिये। निवृत्ति से अभिभव, ध्वंस, बाध सभी ले लेने चाहिये। अनुकूलता स्वरूपगत योग्यता है अतः मोक्षादि में न रहने पर भी दोष नहीं। प्रकाशत्व को जाति न माना जाये इसलिये स्वरूपविशेष कहा। यहाँ पूरणीकार

न; अविद्यानिवृत्त्यनुकूलस्वरूपविशेषप्रकाशत्वस्यैव तल्लक्षणत्वात्। न चाऽननुगमः; ज्ञानव्यक्त्यैक्यस्योक्तत्वात्। परमतेऽपि प्रकाशत्वमात्रस्यैव लक्षणत्वे सम्भवति अर्थपदवैयर्थ्यात्; कदाचिदर्थप्रकाशत्वेनाऽपि तदुपपत्तेश्च।

तस्य पारिभाषिकप्रमाऽप्रमाबहिर्भावेऽपि न दोषः, पराभ्युपेतनिर्विकल्पकवत्।

ने स्पष्ट किया है कि अर्थप्रकाशता ज्ञानका तटस्थ लक्षण है और अविद्यानिवृत्त्यनुकूल प्रकाशपद से अभिधेय स्वरूपता – यह स्वरूपलक्षण है। आधुनिक भाषा में न्यायरत्नावलीकार ने (पृ. ९८) ज्ञान की परिभाषा की है 'असत्त्वापादकत्वरूपजातिविशेषाश्रयाऽज्ञानविषयत्वाभावप्रयोजकविशिष्टचित्त्वं ज्ञानत्वम्।' इसका उपपादन वहीं देखना चाहिये।) जातिघटित लक्षण न होने से यह शंका नहीं करनी चाहिये कि अविद्यानिवृत्ति का लक्षण अनुगत नहीं अर्थात् एकरूप नहीं है; कारण कि समझा चुके हैं कि ज्ञान एक ही व्यक्ति है, ज्ञानत्व कोई जाति संभव नहीं। (श्रीसर्वज्ञगुरु ने बताया है 'संविद् व्यक्तिर्विप्रतीत्यास्पदत्वं, याता सर्वा तावकी, तावकीव। संविद् व्यक्तिः, संविदात्मत्वहेतोः, तस्मादात्मा सर्वभूतस्थ एकः॥ ३.६९॥)

किं च जो अर्थप्रकाशता को ज्ञानलक्षण कहते हैं उनके मत में 'अर्थ' पद कृत्यहीन है क्योंकि प्रकाशता ही लक्षण कही जाये तो कोई दोष नहीं। यदि अर्थपदका आग्रह हो तो अर्थप्रकाशता के अत्यन्ताभाव के राहित्य से अर्थात् कभी – संसारदशा में – अर्थप्रकाशता रह जाने से आत्मा में – नित्य ज्ञान में – वह लक्षण भी समझा जा ही सकता है।

प्रमा व अप्रमा की विशिष्ट परिभाषाओं से यह साक्षिरूप ज्ञान बहिर्भूत होने से कोई दोष नहीं क्योंकि ज्ञान को इनमें से अन्यतर होना ही चाहिये ऐसा नियम नहीं कारण कि तार्किक भी निर्विकल्पक को प्रमा-अप्रमा दोनों से विलक्षण मानते हैं। (यदि उसे वे प्रमारूप और अप्रमारूप दोनों भी मान लें तो प्रकृत ज्ञान भी दोनों समझा जा सकता है: 'तद्वति तत्प्रकारकज्ञानं प्रमा' यह लक्षण मानकर स्वरूपज्ञान प्रमा है क्योंकि अनिर्वचनीयवाद में शुक्तिरजत भी शुक्ति में

अनुभव आत्मा

स एष न आत्मा, तद्भेदे प्रमाणाऽभावात्, 'मयि ज्ञानम्' इत्यादेर्वृत्तिविषयत्वात्, अभेदे च 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' (बृ . ४. ३. ९) इत्यादिश्रुतिः, उक्ताऽहङ्काराऽनात्मतानुमानं च प्रमाणम्।

संविदात्मत्वेऽनुमानम्

किञ्च – या वृत्त्यतिरिक्तावस्थात्रयानुगता जन्मविनाशरहिता संविद् निरूपिता, साऽऽत्मनो न भिद्यते, संवित्त्वात्, व्यतिरेकेण घटादिवत्। न चाहं जानामीति तस्य ज्ञानाश्रयत्वानुभवविरोधः, तस्य वृत्तिविषयत्वादित्युक्तम्।

उपस्थित हुआ ही दीखता है। 'अबाधितार्थज्ञानं प्रमा, तदन्यदप्रमा' इस लक्षण से यह अप्रमा भी है क्योंकि इसका विषय बाध्य ही होता है।)

भगवत्पूज्यपादानुसार श्रुतिसंमत अर्थ स्वीकारने वाले इस नित्य एक अनुभव को ही आत्मा समझते हैं। आत्मा से इसे अलग सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं। 'मुझ में ज्ञान है' यों अपने से अलग जिस ज्ञान का अनुभव है वह तो वृत्तिरूप है, प्रकृत अनुभव नहीं। 'यहाँ यह पुरुष खुद प्रकाश है' आदि वेदवचन आत्मा व ज्ञान की एकता में प्रमाण है। अहंकार को अनात्मा सिद्ध करने वाला अनुमान भी इसकी आत्मरूपता में प्रमाण है (: अहंकार को अहंकार से भिन्न का दृश्य कहा था, जिस भिन्न का वह दृश्य है वह यदि आत्मा न हो तो पुनः आत्मा का दृश्य ही होगा, जिससे अनवस्थाद्यापत्ति हो जायेगी, अतः उसे आत्मा ही होना पड़ेगा)।

ज्ञान को आत्मा सिद्ध करने वाला यह प्रयोग भी है : वृत्ति से भिन्न तीनों अवस्थाओं में अनुस्यूत, जन्म-नाश से रहित पूर्वोक्त संवित् आत्मा से भिन्न नहीं है क्योंकि संवित् है; इसमें व्यतिरेकी दृष्टांत है घटादि। (क्योंकि उनमें साध्याभाव (आत्मभेद) और साधनाभाव (असंवित्त्व) निश्चित है। यह नहीं पूछ सकते कि जिस भेद का निषेध किया जा रहा है वह प्रसिद्ध है या नहीं; यदि संविन्निष्ठ आत्मभेद अप्रसिद्ध है तो तदभाव भी अप्रसिद्ध होने से साध्याप्रसिद्धि होगी और यदि प्रसिद्ध है तो तदभाव का बाध होगा। यह प्रश्न

ज्ञानात्मनोः सम्बन्धोऽसिद्धः

'इदानीमेव जानामि' इति तदाश्रितज्ञाने कादाचित्कत्वानुभवाद्, आत्मनो ज्ञानेन सम्बन्धाऽनिरूपणाच्च न तदाश्रयत्वम्। तत्र न तावात् संयोगः, अयुतसिद्धयोस्तदयोगात्।

समवायनिरासः

नाऽपि समवायः; जन्यसम्बन्धस्य यावत्सम्बन्धिजन्यत्वेन तदुत्पत्तिकाले सम्बन्धाभावेन युतसिद्धिप्रसङ्गात्। समवायस्य समवायान्तरापेक्षायामनवस्थाप्रसङ्गात्।

इसलिये नहीं उठ सकता कि हम उस भेद का निषेध कर रहे हैं जो भ्रम से सिद्ध है, भ्रमवश हम आत्मा को संवित् से अलग माने ही हुये हैं।) 'मैं जानता हूँ' यों आत्मा ज्ञान का आश्रय प्रतीत होता है इस अनुभव से उक्त अनुमान का विरोध नहीं क्योंकि यह अनुभव वृत्तिविषयक ही है।

'इसी समय जान रहा हूँ' यों आत्माश्रिततया अनुभूयमान ज्ञान अनित्य ही होने के कारण नित्यात्मरूप न होकार वृत्तिरूप ही हो सकता है और इसलिये धर्मरूप से आत्मसम्बन्धी नहीं हो सकता क्योंकि अनित्य धर्म धर्मी को विकारी बनाता है– 'उपयन्नपयन् धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्'।

आत्मा इसलिये भी ज्ञानका आश्रय नहीं कि उसका ज्ञान से सम्बन्ध समझाया नहीं जा सकता। सम्बंधों में सर्वसंमत प्रसिद्ध है संयोग, उसका यहाँ प्रसंग नहीं क्योंकि वह युतसिद्ध द्रव्यों में ही संभव माना गया है जबकि आत्मा और ज्ञान ऐसे नहीं हैं। (परस्पर असंबद्ध होकर विद्यमान रहने वाले युतसिद्ध कहे जाते हैं जैसे घट और भूतल। यों ज्ञानके बिना आत्मा तथा आत्मा के बिना ज्ञान नहीं मिलते।)

ज्ञान-आत्मा का संबंध समवाय भी नहीं क्योंकि समवायपदार्थ ही हुआ नहीं करता। जन्य सम्बन्ध की उत्पत्ति से पूर्व सभी सम्बन्धी उपस्थित रहने पड़ते हैं तभी उनसे सम्बन्ध उत्पन्न होगा; सम्बन्धोत्पत्ति के वक्त तो संबंध होगा नहीं अतः सम्बन्धियों को युतसिद्ध मानना पड़ेगा और तब उनका समवाय होना असंमत है। किं च भावकार्य होने से घटादिकी तरह और संबंध होने से संयोग

समवायनित्यतानिषेधः

नाऽपि नित्यः समवायः; सम्बन्धिना रूपादिना तत्प्रतीत्या च विना सतः प्रतीयमानस्य च सम्बन्धत्वानुपपत्तेः। घट इदानीं श्यामतासम्बन्धो नास्तीत्यनुभवेन तस्य कादाचित्कत्वाच्च। न च श्यामताऽभावमेवानुभवो विषयी करोति, न सम्बन्धाभावमिति वाच्यम्; अन्यत्र श्यामतायाः सत्त्वात्। अत्र नास्तीति चेत्? तस्यां तत्सम्बन्धे च सति तदभावायोगात्। अतो विनिगमकाभावादुभयाभावो वाच्यः। न चैवं कार्यसमवायस्यापि समवायान्तरापत्तिरिति वाच्यम्; तस्याऽसमवेतत्वात्, समवेतकार्यस्यैव समवायिजन्यत्वाद्, अस्य च ध्वंसवद् निमित्तमात्राधीनत्वात्।

की तरह समवाय भी अन्य समवाय की अपेक्षा रखेगा जिससे अनवस्था दुर्वार है।

समवायको वैशेषिकादि नित्य भी कहते हैं, वह भी गलत है। सम्बन्धिभूत रूपादि के बिना विद्यमान और उनकी प्रतीति के बिना प्रतीयमान समवायपदार्थ सम्बन्ध नहीं हो पायेगा क्योंकि सम्बन्ध स्वभावतः सम्बन्धी के परतंत्र होने से सम्बन्धिनिरूपण के अधीन निरूपण वाला तथा संबंधी की सत्ताके अधीन सत्ता वाला होता है।

किं च 'अब घड़े में कालिमा का सम्बंध नहीं रहा' यह अनुभव समवाय की अनित्यता प्रमाणित करता है। यह अनुभव कालिमा के अभाव को विषय करने से उपपन्न है तो सम्बंधाभावको विषय करने वाला क्यों माना जाये? इसलिये कि कालिमा का अभाव हुआ नहीं क्योंकि अन्यत्र (घटान्तर में, घटैकदेशमें, पटादिमें) कालिमा उपस्थित है। यह कह नहीं सकते कि 'घट में कालिमा का अभाव है' क्योंकि जब कालिमा भी है और उसका समवायरूप सम्बन्ध भी है तब यहाँ (=घड़े में) उसका न होने असंगत है। इसलिये उक्त अनुभव केवल कालिमा के अभाव को विषय कर रहा है यह कहना संभव न होने से दोनों का अभाव ही इसका विषय मानना होगा।

नित्य न होकर यदि कार्यभूत अर्थात् जन्य ही समवाय हो तब भी वह समवायान्तर की अपेक्षा क्यों नहीं करेगा? अनित्य समवाय प्राभाकर मानते हैं और वे उसे समवेत मानते नहीं कि उसे समवायान्तर चाहिये हो। समवेत कार्य

समवायोऽप्रामाणिक:

जन्ययोर्नित्यसम्बन्धे प्रमाणाभावाच्च। अभावविशिष्टप्रत्यक्षवद् रूपादिविशिष्टप्रत्यक्षस्य तेन विनाऽप्युपपत्तेः। क्लृप्तस्वरूपादेव उपपत्तौ अक्लृप्तसमवायकल्पने गौरवात्।

किञ्चैवं त्वन्मते वस्तुत्वमेवैकं गुणगुण्यादिविशिष्टधीविषयः सम्बन्धोऽस्तु, क्लृप्ते विशिष्टधीनियामकत्वकल्पने लाघवात् किं पदार्थान्तरेण? स्वरूपसम्बन्धस्याऽपि स्वरूपादन्यत्वेनैकतया समवायाविशेषाच्च। तस्माद् नास्ति समवायः।

ही समवायी से जन्य होता है। कार्यभूत समवाय सिर्फ निमित्त से जन्य है जैसे ध्वंस। (वस्तुतस्तु भावकार्य होने से समवाय को भी समवायिजन्य मानना चाहिये और या कार्यान्तर भी निमित्तमात्र से जन्य मान लेने चाहिये, दोनों हालतों में समवाय की संगति नहीं। अतः प्राभाकराभिमत अनित्य समवाय भी अमान्य है।)

जन्य सम्बन्धियों का सम्बन्ध नित्य है यह बात प्रमाणसिद्ध नहीं है। जैसे अभाव से विशिष्ट का प्रत्यक्ष बिना समवाय के हो जाता है ऐसे रूपादि से विशिष्ट का प्रत्यक्ष भी समवाय के बिना हो सकता है। स्वरूप को (स्वरूपसंबंध को) जब (एक जगह, अभाव स्थल में) विशिष्टज्ञानका सम्पादक मान ही लिया तब (अन्यत्र, रूपादिस्थल में) एक नया समवाय पदार्थ स्वीकारने में गौरव है। किं च यों विचार करने पर लगता है कि आपके (वैशेषिकादि के) मत में गुण-गुणी आदि की विशिष्ट बुद्धि का विषयभूत सम्बन्ध वस्तुत्व नामक एक पदार्थ ही पर्याप्त है। वस्तुत्व स्वीकृत पदार्थ हैं, उसमें सिर्फ एक धर्म मानना कि वह विशिष्ट ज्ञान के प्रति नियामक होता है, लाघवशाली है। तब समवाय नामक स्वतंत्र पदार्थ की कल्पना से क्या लाभ? स्वरूपसम्बंध भी स्वरूप से अन्य ही मानते हो अतः (सभी स्वरूपों से अन्य हुआ) वह एक ही होगा तो समवाय से उसमें अन्तर भी क्या रहेगा! इसलिये समवाय होता ही नहीं।

आत्मा व ज्ञान का वैसा तादात्म्यसम्बन्ध भी संभव नहीं जैसा तादात्म्य मीमांसकादि मानते हैं क्योंकि उन्हें संमत तादात्म्य भी होना संभव नहीं। अभेद

परेष्टतादात्म्यनिराकरणम्

नाऽपि तादात्म्यम्। न तावत् तादात्म्यमभेद एव, धर्मधर्मिभावाद्यसंभवात्। अभेदस्य सम्बन्धत्वायोगात्। नापि भेदाभेदौ; समानसत्ताकयोस्तयोर्युगपदेकत्राऽसम्भवात्। घटादेर्मृदाद्यभेदे तदुत्पत्त्यनुपपत्तेश्च। भेदोऽप्यस्तीति तत उत्पत्तिरिति चेत्? तर्हि जायमानं मृद्भिन्नं प्राङ्नास्तीति वक्तव्यम्। घटादिश्च जायमान एव, प्राक्

को ही तादात्म्य कह नहीं सकते क्योंकि तब सम्बन्धियों का धर्म या धर्मी होना आदि संभव नहीं रहेगा। अभेद सम्बंध होता भी नहीं यह कह ही चुके हैं। भेदाभेद को तादात्म्य कहना बनता नहीं क्योंकि समानसत्ता वाले भेद तथा अभेद एकट्ठे एक जगह रह नहीं सकते। किं च घटादि का मिट्टीआदि से जो अभेदांश होगा उसके कारण मिट्टी आदि से घटादि की उत्पत्ति असंगत हो जायेगी (खुद से खुद का जन्म नहीं होता)। भेदांश भी होने से उत्पत्ति क्यों न हो? भेदांश है का मतलब होगा कि मिट्टी से भिन्न जो जायमान है वह पहले नहीं था; घटादि जायमान ही हैं क्योंकि पहले उस मृत्पिण्ड को न घड़ा कहते हैं, न समझते हैं। इसीलिये पहले जो असत् है उस घटादि का सद्रूप मिट्टी से भेद ही हुआ। तब उनका अभेद कैसे कहोगे? (अर्थात् भेदांश मानने पर अभेदांश असंभव होने से तादात्म्य नहीं कह सकते।) इसी प्रकार (घटजन्म के समय) मिट्टी पैदा हो रही है, (घटनाश के समय) मिट्टी नष्ट हो रही है ऐसा ज्ञान होता नहीं अतः जन्म-नाश वाले घटादि से मिट्टी का अभेद संभव नहीं। इसलिये जो जन्मता व नष्ट होता है उसका अपने उपादान से आत्यंतिक भेद होना चाहिये, अभेदसहिष्णु भेद नहीं।

तब आप गुण-गुणी का आपसी क्या संबंध बताते हैं? हम उनका तादात्म्य कहते हैं। मीमांसक को संमत तादात्म्य से अलग आप किसे तादात्म्य कहते हैं? भिन्न होते हुये अभिन्न सत्ता वाला होना तादात्म्य है। इसे यों भी कह सकते हैं कि सत्ता के अनवच्छेदक भेद वाला होना तादात्म्य है: घटादि जैसे दण्डादि से भिन्न है ऐसे ही मिट्टी से भी भिन्न है, नहीं तो पूर्वोक्त अभेदपक्ष में आने वाले दोषों से बचा नहीं जा सकता। लेकिन मिट्टी, घड़ा इस प्रकार भेद विद्यमान होने पर भी आत्मसत्ता का अवच्छेदक नहीं है इसलिये भेद असत् है

तच्छब्दबुद्ध्योरभावात्। प्रागसतश्च सतो भेदः; इति कुत्र अभेदः! एवं मृज्जायते विनश्यतीति बुद्ध्यभावाच्च न जनिविनाशवतो मृदभेदः। तस्माद् यज्जायते विनश्यति तत्तदुपादानादत्यन्तं भिन्नमेव।

स्वाभिमततादात्म्यम्

कस्तर्हि गुणगुणिनोः सम्बन्धः? तादात्म्यमिति ब्रूमः! किन्तत्? भिन्नत्वे सत्यभिन्नसत्ताकत्वम्, सत्ताऽनवच्छेदकभेदवत्त्वम् इति यावत्।

जबकि दण्ड-घटका भेद सत्ता का अवच्छेदक होने से सत् है। (जब अनुयोगी व प्रतियोगी स्वतंत्र होते हैं तब इनका भेद आत्मा की अर्थात् अपने अधिष्ठान के स्वरूप की सत्ता को अवच्छिन्न करता है अर्थात् उनकी पृथक् सत्ता का प्रयोजक बनता है, क्योंकि यह अपरोक्ष अनुभव होता है कि 'ये दोनों भिन्न हैं।' कार्य तो कारण के परतन्त्र होने से कारण से भिन्न होकर 'है' ऐसा प्रतीत नहीं होता इसलिये इनका भेद सत्ता का अवच्छेदक नहीं होता अतः विद्यमान होने पर भी असत् ही है। इस प्रकार असद् भेद वाला होना अर्थात् ऐसे भेद वाला होना जो पृथक् सत्ता का प्रयोजक न हो, तादात्म्य कहा जाता है। दण्ड व घट इन दोनों के 'होने' में ही भेद है जबकि मृत् और घट में भेद होने पर भी इनके 'होने' में भेद नहीं यह भाव है।) घड़ा मिट्टी ही है इत्यादि अभेदप्रतीति के कारण तथा मिट्टी की सत्ता के बिना घड़े की सत्ता न उपलब्ध होने से घड़ा-मिट्टी का भेद दण्ड-घटके भेद से अलग तरह का है। (कार्यकारण की अभेदप्रतीति उनके सत्तैक्य में प्रमाण है क्योंकि और किसी तरह उस अनुभव की व्यवस्था संभव नहीं।) प्रश्न होगा कि घटका जो भेद मिट्टी में है वही तो दण्डादि अन्यत्र भी है क्योंकि एक प्रतियोगी के अनंत भेद मानने में गौरव होने से भेद एक ही मानना चाहिये; जब पटादि में रहते हुये घटभेद सत् है (सत्तावच्छेदक है) तो मिट्टी में रहते हुये वही असत् कैसे हो जायेगा? उत्तर है कि इस (अर्थात् मिट्टी आदि उपादान) के अवच्छेद से वही भेद सत्ता का अवच्छेदक नहीं हो पाता जैसे समवाय वायु आदि में रहने पर भी रूपादि से निरूपित नहीं हो पाता, अतः भेद एक होने पर भी एकत्र सत् व अपरत्र असत् होने में विरोध नहीं। हम अनिर्वचनवादियों के अनुसार अभेद रहते हुये ही औपाधिक भेद भी है ही अतः (कार्यकारणता आदि में भेद या अभेद से प्रयुक्त) कोई दोष नहीं

घटादिर्हि दण्डादेरिव मृदादेरपि भिन्न एव, अन्यथा प्रागुक्तदोषानपायात्। परन्तु 'मृद्' 'घट' इति भेदो विद्यमानोऽपि नात्मसत्तावच्छेदक इत्यसन्। दण्डघटभेदस्तु सत्तावच्छेदक इति सन्। मृद्घट इति प्रतीत्या मृत्सत्त्वं विना सत्ताया अदर्शनेन च तद्भेदस्य ततो विलक्षणत्वात्। ननु स एव भेदोऽन्यत्रापि वर्तते स च सन्नेवेति चेद्? न; तथापि एतदवच्छेदेन सत्तावच्छेदकत्वाभावात्। समवायस्य वाय्वादिवृत्तित्वेन रूपाद्यनिरूपितत्ववद् अस्याऽविरोधात्। अस्मन्मते तु अभेदेऽपि औपाधिकभेदोऽप्यस्तीति न कोऽपि दोषः। एतदेव सिद्धान्ते कल्पितभेद उपादानोपादेययोरित्युच्यते, अन्यादृशस्य दण्डादिभेदव्यावृत्तस्याऽसम्भवात्।

(तुल्यसत्ताक भेदाभेद का ही विरोध होता है, अतुल्यसत्ताक का नहीं)। इसी बात को यों भी कहते हैं कि वेदान्तसिद्धांत में उपादान और उपादेय का कल्पित भेद हुआ करता है। कल्पित से अन्य तरह का अर्थात् सच्चा भेद जो घटप्रतियोगिक दण्डादिनिष्ठ भेद से (अर्थात् धर्मप्रतियोगिक धर्मीतरनिष्ठ भेद से) पृथक् ढंग का हो, संभव नहीं है।

ऐसा तादात्म्य ही ज्ञान-आत्मा के मध्य होने वाला सम्बन्ध हो यह नहीं कह सकते क्योंकि जब पारमार्थिक वस्तुओं का भेद मिथ्या होगा तो अभेद ही वास्तविक रहेगा। (श्रुति ने तात्पर्यतः 'ज्ञानं ब्रह्म' 'विज्ञानं ब्रह्म' आदि से आत्मा को ज्ञानरूप कहा है अतः ज्ञान व आत्मा को पारमार्थिक अभेद वाला मानना पड़ेगा जिससे इनमें प्रतीयमान भेद अनिर्वचनीय ही होगा और पारमार्थिक अधिकरण में अनिर्वचनीय का वास्तविक निवास संभव नहीं अन्यथा वह अनिर्वचनीय ही नहीं रह पायेगा। यद्यपि प्रदर्शित तादात्म्य का मतलब ही है कि सच्चा अभेद और कल्पित भेद है अतः मृद्-घट या घट-रूप में भी अभेद वास्तविक और भेद काल्पनिक है जिससे आत्मा और ज्ञान में तादात्म्य कहने में कठिनाई नहीं होनी चाहिये जैसे पञ्चपादिकाचार्य ने 'अपृथक्त्वेऽपि पृथगिवावभासन्ते' से सूचित किया भी है, तथापि कार्य-कारण आदि का भेद सत्ता का अनवच्छेदक होने पर भी व्यावहारिक ही है अर्थात् घटका मृत् से भेद घटतुल्यसत्ताक ही है क्योंकि ब्रह्मज्ञान के बिना बाध्य नहीं है, जबकि ज्ञान का आत्मा से भेद आत्मा के तुल्य सत्ता वाला अर्थात् पारमार्थिक नहीं है

न चाऽयं ज्ञानात्मनोः सम्बन्ध इति वाच्यम्; पारमार्थिकयोः मिथ्या भेदे, अभेदस्यैव वस्तुत्वात्। एवं गुणसम्बन्धस्य मिथ्यात्वे निर्गुणमेव वस्तु।

न चैवं घटरूपादेरप्यभेदो, घटादेर्निर्गुणत्वं चेति वाच्यम्; वास्तवभेदाभावस्यानिवार्यत्वात्, स्वरूपैक्यं तु कार्यकारणादीनां न केनापि वक्तुं शक्यम्। नापि निर्गुणत्वम्, ब्रह्माज्ञानप्रयुक्तगुणसम्बन्धस्य मिथ्यात्वेऽपि यावद्व्यवहारमनिवार्यत्वात्।

यह अन्तर यहाँ विवक्षित है। किं च घटसत्त्व से अन्य रूपसत्त्व नहीं यह कहने पर भी रूपसत्त्व से अन्य घटसत्त्व नहीं ऐसा कहना नहीं बनता या घड़े से अन्य मिट्टी नहीं ऐसा नहीं कह सकते जबकि यह कह ही सकते हैं कि आत्मा से भिन्न ज्ञान नहीं और ज्ञानसे भिन्न आत्मा भी नहीं; कार्यकारणादि से आत्मा-ज्ञान में यह विशेषता है यह प्रतिपिपादयिषित है।) इसी प्रकार गुणादि का आत्मा से सम्बन्ध मिथ्या होने के कारण ब्रह्म वस्तु निर्गुण अर्थात् निर्धर्मक ही है।

आत्मा-ज्ञान की तरह घट व रूपादि का भी वास्तविक अभेद और घटादि को निर्गुण क्यों न मान लिया जाये? यदि अभेद से मतलब है पारमार्थिक भेदाभाव, तब तो स्वीकृत ही है अर्थात् घट और रूपादि का भेद पारमार्थिक नहीं है। किंतु यदि अभेद से अभिप्राय है कि घट और रूपादि में स्वरूपतः एकता हो अर्थात् घटत्व व रूपत्वादि से प्रयुक्त भेदबुद्धि न हो और उसका विषयभूत व्यावहारिक भेद न हो, तब ठीक नहीं क्योंकि कार्य-कारणादि में ऐसा आत्यंतिक अभेद कोई नहीं कह सकता। (ज्ञान-आत्मा का ऐसा अभेद श्रुत्यादिसिद्ध है, कार्य-कारणादि में ऐसे अभेद का होना अप्रामाणिक है, बल्कि कार्य-कारणतादि का घातक है।) इसी तरह घटादि को निर्गुण कहना भी नहीं बनता क्योंकि ब्रह्म के अज्ञान से प्रयुक्त गुणसम्बंध मिथ्या होने पर भी व्यवहार के रहते हट नहीं सकता। (ब्रह्म में गुणसंबंध ब्रह्माज्ञान के कारण है अतः ब्रह्म से समानसत्ताक नहीं। घटमें गुणसंबंध घटाज्ञान के कारण तो है नहीं, ब्रह्माज्ञान के कारण ही है, इस लिये जब तक घट है तब तक गुणसम्बन्ध हटेगा नहीं, सम्बंध भी घटसमानसत्ताक है। इसमें यह भी निहित है कि जीव और जीवनिष्ठ धर्म तुल्यसत्ताक हैं अतः जीव रहते हुये उन धर्मों से अस्पृष्ट नहीं हो सकता,

ज्ञानाधिकरणात्मनिरासः

किञ्च आत्मनः केनचित् सम्बन्धाभावादपि न जन्यज्ञानाश्रयत्वम्। निष्प्रदेश आत्मनि स्वाश्रयवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगिसंयोगस्यासम्भवेन मनःसंयोगादेरसम्भवात्। न च – तत्रापि अवच्छेदभेदेन संयोगतदभा-वयोर्वृत्तिरस्तु –इति वाच्यम्; व्यधिकरणनानावच्छेदकं विना तदयोगात्; नानाधर्माश्रय एकत्र तददर्शनात्। न च नित्यज्ञानाश्रयत्वे आत्मनः प्रमाणमस्ति। तस्मान्न ज्ञानं गुणः।

पुण्य-पाप से या अन्य सभी व्यावहारिक कारणतादि से परे नहीं हो सकता। इनसे परे होने के लिये उसे ब्रह्म ही होना पड़ेगा। एवं च पारमार्थिकता से व्यवहार में सांकर्यादि संभावित नहीं।)

आत्मा का किसी से सम्बंध न हो सकने से भी वह जन्य ज्ञान का आश्रय नहीं। संयोग अपने आश्रय में विद्यमान अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होता है जो तभी संभव है जब उसका आश्रय हिस्सों वाला हो। आत्मा में ऐसे कोई अलग-अलग स्थान नहीं कि संयोग और उसका अभाव दोनों रह सकें। अतः आत्मा संयोगी न होने से यह संभव नहीं कि उससे मनःसंयोगादि हो और वह तज्जन्य ज्ञान का आश्रय बने। आत्मा में भी अवच्छेद के भेद से संयोग व उसका अभाव दोनों क्यों नहीं रह सकते? इसलिये कि ऐसा तभी हो सकता है जब असमानाधिकरण विभिन्न अवच्छेदक उपलब्ध हों। (अर्थात् जिसे अवच्छेदक बनाना हो उसे अवच्छेद्य के अभाव के समानाधिकरण नहीं मान सकते क्योंकि तब वह अवच्छेदक ही नहीं हो पायेगा कारण कि व्यभिचारी को अवच्छेदक नहीं माना जाता। इसलिये भाव के अवच्छेदक और अभाव के अवच्छेदक को समानाधिकरण नहीं स्वीकार सकते। एवं च संयोग के अवच्छेदक और संयोगाभाव के अवच्छेदक को व्यधिकरण बताना पड़ेगा जिसके लिये उन अवच्छेदकों से निरूपित अधिकरणता के भी विभिन्न अवच्छेदक कहने होंगे और इस तरह अनवस्थादि दोष प्राप्त होंगे।) जहाँ इकट्ठे ही विभिन्न धर्म स्थित रहते हैं, व्यधिकरण होकर नहीं रहते, जैसे द्रव्यत्व वृक्षत्व आदि, वहाँ वे धर्म परस्पर असंकीर्ण अवच्छेदक भी नहीं बनते (अन्यथा द्रव्यत्वेन संयोगवान् में वृक्षत्वेन संयोगाभाव भी प्रामाणिक होने लगेगा!)

ज्ञानस्य ज्ञानत्वोपपत्तिः

न चैवं ज्ञानत्वसम्बन्धाभावे ज्ञानमेव न स्यादिति वाच्यम्; न तावत् प्रत्यक्षेण जडव्यावृत्तस्वरूपबोधाय तदपेक्ष्यते, अविद्यानिवृत्त्यनुकूल-प्रकाशस्वरूपादेव तस्य सिद्धेः। लिंगविधया व्यावृत्तिबोधस्तु कल्पित-ज्ञानत्वेनाप्युपपद्यत इति संविदात्मेति सिद्धम्।

सङ्गकर्तृभोक्तृत्वहीन आत्मा

स चाऽसङ्गस्वभावो निरवयवत्वात्, 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ. ४. ३. १५) 'असङ्गो न हि सज्जते' (बृ. ३. ९. २) इति श्रुतेः।

नाऽपि कर्ता भोक्ता वा, ज्ञानानाश्रयत्वाद्, घटादिवत्। न च

यह जो माना गया है कि आत्मा – ईश्वरात्मा – नित्य ज्ञान का आश्रय है, इस में कोई प्रमाण नहीं। (जहाँ ईश्वर में हमेशा ज्ञानादि का रहना बताया है वहाँ मायावृत्ति रूप ज्ञान से तात्पर्य है क्योंकि संविद्रूप ज्ञान की एकता और आत्मा से अभिन्नता सिद्ध हो चुकी है। इस प्रकार तार्किक जिसे ज्ञानाश्रय होने से आत्मा कहते हैं वह पदार्थ उपनिषदनुयायियों को संमत आत्मा नहीं है।) क्योंकि ज्ञान आत्मरूप है इसलिये वह गुण नहीं है।

ज्ञान आत्मा होने से असंबंधिस्वभाव है तो उसका ज्ञानत्व से भी सम्बन्ध नहीं होगा जिससे वह स्वयं ज्ञान भी नहीं हो पायेगा क्योंकि ज्ञानत्ववान् ही ज्ञान होता है। यह शंका है। इसका समाधान है कि हमारे सिद्धांत में जडसे अलग जो स्वप्रकाश आत्मस्वरूप है वही ज्ञान है न कि ज्ञानता का आश्रय, अतः ज्ञान के प्रत्यक्ष बोध के लिये ज्ञानता की कोई जरूरत नहीं क्योंकि घटत्व दीखने से घट दीखने की तरह ज्ञान को दीखना नहीं, खुद की जडभिन्न रूप से भासमानता ही ज्ञान का प्रत्यक्ष है। जो तो ज्ञानता को लिंग बना कर व्यावृत्ति समझी जाती है – जैसे जडावृत्ति ज्ञानत्व का आश्रय होने से आत्मा जड नहीं आदि – वह कल्पित ज्ञानत्व से भी संगत है। इसलिये सिद्ध हुआ कि संविद्रूप ज्ञान आत्मा है। (चन्द्र में चन्द्रत्व कल्पित ही हो सकता है क्योंकि चन्द्र एक व्यक्ति है, तथापि अप्रकाशमान में अवृत्ति चन्द्रत्वकी आश्रयता से चन्द्र अप्रकाशमान नहीं है यह समझा जा सकता है। वैसे ही कल्पित ज्ञानता व्यावृत्तिबोधिका हो जाती है।)

कर्तृत्वादि के प्रति निमित्त बनने वाले संयोगरूप संग से रहित स्वभाव

ज्ञानान्यत्वमुपाधिः; ज्ञाने साध्याव्यापकत्वात्। निरवयवतया मनःसंयोगा-द्यनाश्रये तस्मिन् कर्तृत्वाद्यसम्भवाच्च।

करोमीत्यादिधियोऽनुपपत्तिशङ्का

कथं तर्हि 'करोमि भुञ्ज' इति प्रतीतिः? न च बुद्धिनिष्ठा सेति वाच्यम्; चैतन्यसम्बन्धप्रतीतेः। आत्मनः संसाराभावे तन्निवृत्तये श्रवणा-दिप्रवृत्त्यनुपपत्तेः। न च बुद्धिनिष्ठमेव कर्तृत्वमनुभूय स्वस्मिन्नारोपयतीति वाच्यम्; धर्मिद्वयाऽप्रतीतेः। इति।

अहंपदार्थस्य द्वैरूप्यात् समाधानम्

मैवम्; अहमित्यनुभवस्यैव धर्मिद्वयविषयत्वात्। अस्ति तावद् अहम-नुभवगोचरे दुःखित्वम्, अस्ति च तत्काले तस्मिन् परमप्रेमास्पदत्वम्,

वाला है आत्मा क्योंकि वह निरंश है। श्रुति ने भी उसे मुखतः असंग, सक्त न होने वाला कहा है। अतः न वह कर्ता है और न ही भोक्ता (अर्थात् न्याय-मीमांसा-सांख्यसंमत पदार्थ से विलक्षण वस्तु उपनिषदुक्त आत्मा है)। आत्मा के कर्तादि न होने में यह प्रयोग है: आत्मा कर्ता-भोक्ता नहीं क्योंकि ज्ञान का आश्रय नहीं, जैसे घड़ा! ज्ञान से भिन्न होना यहाँ उपाधि नहीं है क्योंकि जहाँ साध्य हो वहाँ उपाधि अवश्य रहनी चाहिये जबकि ज्ञान में कर्तृत्वाद्यभावरूप साध्य होने पर भी ज्ञानान्यत्व नहीं है। किं च निरवयव होने से आत्मा में मनःसंयोगादि हैं भी नहीं कि उसमें कर्तृत्वादि रह सके। (मनःसंयोगादि से निरपेक्ष स्वाभाविक कर्तृत्वादि कोई मोक्षवादी नहीं मान सकता।)

आत्मा यदि कर्तादि नहीं तो 'करता हूँ, भोग रहा हूँ' ये अनुभव कैसे हो रहे हैं? ये अनुभव अंतःकरण के तो हैं नहीं क्योंकि मुझ चैतन्य से सम्बद्ध होकर भासते हैं। किं च यदि कर्तृभोक्तृत्वलक्षण संसार आत्मा में न हो तो उसकी निवृत्ति के लिये वेदान्तो के श्रवणादि में प्रवृत्ति होना भी संगत नहीं। बुद्धि में स्थित कर्तृत्व का अनुभव कर उसे खुद पर आरोपित कर लेता हो यह भी संभव नहीं क्योंकि 'मैं' यों एक वस्तु ही कर्ता प्रतीत होती है, ऐसा नहीं कि बुद्धि में कर्तृत्व का भान हो और बुद्धिभिन्न आत्मा का भान होकर वह कर्तृत्व अपने में भासे। एवं च यदि आत्मा कर्तादि नहीं तो ये अनुभव कैसे?

आत्मा कर्तादि न होने पर कर्तृतादि अनुभव अनुपपन्न हों ऐसी बात नहीं। ('मैं' यों प्रकाशमान आत्मा में कर्तृतादि हैं लेकिन अहंकाररूप इदमंश से

अन्यथा तदानीं दुःखे द्वेषासम्भवात्, उदासीनदुःखे तददर्शनात्। न च दुःखं केवलस्य सुखस्य भवितुमर्हति। अन्तःकरणसमवेतज्ञानाज्जायमानं तत् तस्यैव धर्मः। न च तस्य अनानन्दस्य परमप्रेमास्पदत्वम्, इति आनन्द आत्मा, अन्तःकरणं च कल्पिततादात्म्याद् अहमिति एकतया प्रतीयते। इति मिथ्याविशिष्टात्मधर्म एव कर्तृत्वादिरिति नात्मनो वास्तवं कर्तृत्वं न वा तस्य मुक्तये प्रवृत्त्यनुपपत्तिः।

एकमेक आत्मा में ही वे हैं, केवल आत्मा में नहीं क्योंकि केवल आत्मा सिर्फ शास्त्र से समझ आता है अतः अविद्यादशा में उसका भान ही नहीं कि उसमें कर्तृत्वादि प्रतीत हो सके। कर्तादिरूप अहंपदार्थ आत्मा-अनात्मा का मिश्रित रूप है। आत्मा और अनात्मा का अन्योन्याध्यास होने पर ही आत्मा में कर्तृतादि प्रतीत होते हैं। अहमर्थ में आत्मा और अनात्मा दोनों के धर्म मिलने से यह स्पष्ट हो जाता है –) 'मैं' यह अनुभव दो धर्मियों को विषय करता है (अर्थात् इसका विषय ऐसे दो (या अनेक) धर्म हैं जो वास्तव में भिन्न धर्मियों में ही रह सकते हैं)। 'मैं' इस अनुभव का जो विषय है उसमें दुःखिता प्रसिद्ध ही है और दुःखकाल में ही उसी में (अहमर्थ में) निरतिशय प्रेम भी है; नहीं तो उसी समय दुःख के प्रति द्वेष नहीं हो सकता क्योंकि जिसके प्रति प्रेम न हो उसके दुःख के प्रति द्वेष भी नहीं हुआ करता। जो केवल सुखरूप है उसमें दुःख (अर्थात् दुःखित्व) हो नहीं सकता (क्योंकि वादी सुख को गुण मानता है तथा गुण में गुणान्तर नहीं स्वीकार करता)। अन्तःकरणपरिणामरूप ज्ञान से उत्पन्न होने वाला दुःख अन्तःकरण का ही धर्म हो सकता है। (मन न रहते सुषुप्त्यादि में दुःख नहीं रहता तथा तभी रहता है जब मन हो अतः वह मनका ही धर्म संभव है।) क्योंकि दुःख उसका धर्म है इसलिये मन आनंदरूप नहीं अतएव वह परम प्रेमका विषय भी नहीं हो सकता। अतः परप्रेमास्पद आनन्द आत्मरूप ही है। अंतःकरण आत्मा से एक हुआ 'मैं' यों प्रतीत होता है क्योंकि उसका आत्मा से कल्पित तादात्म्य है जैसे शुक्ति व रजत का होता है। इस प्रकार मिथ्या से विशिष्ट आत्माका – या मिथ्या जो विशिष्ट आत्मा उसका, क्योंकि अन्योन्याध्यासके कारण विशिष्ट को मिथ्या कह सकते हैं तथा भ्रममें अध्यस्त ही परिस्फुरित होता है इस नियम से भ्रमकाल में भासमान विशिष्ट आत्मा मिथ्या

अकर्त्रात्मनि श्रुतिविरोधपरिहारः

न चैवं तस्य द्रष्टृत्वादिश्रुत्या, कर्मकाण्डेन वा विरोधः। द्रष्टृत्वादिश्रुतेरुक्तकर्तृत्वाद्यनुवादकत्वात्। न हि प्रत्यक्षसिद्धमपि श्रुत्या प्रतिपादनीयम्। 'तत्केन कं पश्येद्' (बृ. ४.५.१५) इति विरोधाच्च। अत एव न कर्मकाण्डस्याऽपि तत्र तात्पर्यं, किन्तु अन्यतोऽनवगतसाधन-त्वादिमात्रे। कर्तृत्वादेर्वस्तुत्वे मुक्त्यसंभवाच्च।

है – धर्म ही कर्तृत्वादि है। केवल आत्मा में वास्तविक कर्तृत्वादि नहीं। भ्रमसिद्ध की निवृत्ति या बाधके लिये प्रवृत्ति भी सर्वलोक-वादिसंमत होने से संगत है।

श्रुति कहीं कहीं आत्मा को द्रष्टा मन्ता कर्ता आदि कहती है – 'एष हि द्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' (प्र. ४.९)–अतः उसे अकर्ता मानें तो श्रुतिविरोध होगा। कर्मकाण्ड भी तभी उपपन्न है जब उसका निर्वर्तक आत्मा हो अतः आत्मा को अकर्ता और अभोक्ता मानें तो कर्मकाण्ड भी विरुद्ध पड़ेगा। – यह शंका है।

समाधान है कि विरोध नहीं है। द्रष्टा आदि कहने वाली श्रुति पूर्वोक्त भ्रमसिद्ध कर्तृतादि का अनुवाद कर रही है, उसे तात्पर्यतः नहीं बता रही क्योंकि अनायास ही सब खुद को कर्तादि प्रत्यक्ष ही समझ रहे हैं तो उसे ही बताना श्रुति का प्रयोजन हो नहीं सकता। (किं च वाक्यशेष में (प्र. ४. ११) द्रष्टा आदि विज्ञानात्मा के लयाधिष्ठान अक्षर के ज्ञान को सफल बताया है अतः द्रष्टतादि प्रतिपाद्य नहीं।) 'वहाँ किससे क्या देखे?' आदि श्रुति द्रष्टृत्वादिका वारण तात्पर्यतः कर रही है, उससे विरुद्ध होने के कारण भी द्रष्टा आदि कहने वाली श्रुति का अन्यत्र ही तात्पर्य संगत है। ऐसे ही आत्मनिष्ठ कर्तृत्व में कर्मकाण्ड का भी कोई तात्पर्य नहीं, अनादिसिद्ध कर्तृभोक्तृभावका अनुवाद कर प्रमाणान्तर से अज्ञात जो साध्यसाधनभाव है उतने में ही कर्मकाण्ड का तात्पर्य है। (जैसे कर्ता में ब्राह्मण्यादि कहने से आत्मा ब्राह्मणादि नहीं माना जाता अन्यथा जन्म-जन्मान्तर में उसे ब्राह्मण ही रहना होगा और देवादिलोकों में जाने की संभावना ही नहीं रहेगी या भोक्ता को अन्नाद आदि कहने पर भी आत्मा को भक्षक नहीं माना जाता क्योंकि तब उसे सक्रिय होने के लिये सावयव होन

सत्यं ज्ञानान्न निवर्तते

लोके सत्यस्य ज्ञानाद् निवृत्त्यदर्शनात्। शुक्तिरजतादिकं च ज्ञानान्निवर्तते। सिद्धान्ते घटादिकं च तदुपादानाज्ञाननिवर्तकज्ञानाभावान्न निवर्तते। न च सुहृज्ज्ञानाद् दुःखं, पुण्यवस्तुज्ञानात् पापं च निवर्तत इति वाच्यम्; सुहृज्ज्ञानस्य सुखद्वारा दुःखोत्पत्तिप्रतिबन्धकमात्रत्वात्।

पड़ेगा, वैसे ही आत्मा को कर्ता-भोक्ता भी नहीं माना जा सकता क्योंकि तात्पर्यतः आत्मस्वरूपप्रतिपादकवाक्यों से विरोध आता है।) किं च यदि कर्तृतादि सच्चे हों तो मोक्ष असंभव होगा। (सच्चे की निवृत्ति कर्म से संभव मानें तो भी सावशेष ही होगी अतः कर्तृत्वबीज रह जाने से निवृत्ति आत्यंतिक नहीं होगी। कोई कर्म कैवल्य मोक्ष के लिये विनियुक्त है भी नहीं कि कर्म को बंधनिवर्तक मान सकें जैसा भगवान् श्रीसुरेश्वर कहते हैं 'साध्यसाधनभावोऽयं वचनात् पारलौकिकः। नाऽश्रौषं मोक्षदं कर्म श्रुतेर्वक्त्रात् कथञ्चन॥' (नै.सि.१.२७)।

(कर्तृत्वादिलक्षण बन्धन को शास्त्र ज्ञान से मिटने वाला बताता है जबकि) संसार में सत्य वस्तु की निवृत्ति ज्ञान से होती देखी नहीं जाती। शुक्तिरजतादि असत्य चीज़ें ही ज्ञान से समाप्त होती हैं (सिद्धान्ती घटादि को मिथ्या मानता है तो मिट्टी आदि के ज्ञान से घटादि की निवृत्ति क्यों नहीं हो जाती?) घटादि की निवृत्ति इसलिये नहीं होती कि उनके उपादानभूत अज्ञान को निवृत्त करने वाला ज्ञान मृदादिज्ञान नहीं है - यही सिद्धांत में स्वीकृत व्यवस्था है।

मित्र आया है इत्यादि ज्ञान से दुःख हटता है, पवित्र वस्तु के दर्शनादिसे पाप मिटता है अतः सत्य की ज्ञान से निवृत्ति नहीं होती यह कैसे?

मित्रका ज्ञान सुख उत्पन्न करता है जिससे आगे दुःख की उत्पत्ति में रुकावट आती है, न कि मित्रज्ञान से विद्यमान दुःखकी निवृत्ति होती है। पाप आदि भी केवल ज्ञान से नहीं हटते किन्तु श्रद्धा ब्रह्मचर्यादि नियमों की जरूरत रहती है (उन नियमों के बिना ज्ञान पापादि का निवर्तक नहीं बनता)। ब्रह्मज्ञान तो अन्य कुछ भी चाहे बिना बंधका निवर्तक है। श्रुति ने स्पष्ट कहा कि मोक्ष का और कोई सहायकादि उपाय नहीं है। (किं च यह नियम समझ सकते हैं कि ज्ञान से असहकृत कारण से अनिवर्त्य होते हुये जो ज्ञान से निवर्त्य हो वह

पापादिकं च ज्ञानमात्राद् न निवर्तते, श्रद्धानियमादेरप्यपेक्षितत्वात्। ब्रह्मज्ञानं तु नान्यदपेक्षते, 'नान्यः पन्था' इति (श्वे. ३. ८) श्रुतेः। न वा पापादिकं ज्ञानैकनिवर्त्यम्। तस्माद् यज्ज्ञानमात्रनिवर्त्यं तन्मिथ्यैवेति कर्तृत्वादिकमपि मिथ्या। तस्मादसङ्गोदासीन आत्मा।

आत्मा सुखम्

स चात्मा सुखाद् न भिद्यते, 'एषोऽस्य परम आनन्द' इति (बृ.४.३. ३२) श्रुतेः, अनौपाधिकप्रेमगोचरत्वाच्च। व्यतिरेकेण दुःखादिवत्। न चाऽप्रयोजकत्वं, सुखसमवायित्वेनापि तदुपपत्तेरिति वाच्यम्; दुःखसमवायितया निरुपाधिद्वेषप्रसङ्गात्! आगामिसुखे संशयदशायां दुःखदशायामपि आत्मनि प्रेमदर्शनात्। आत्मनः स्वतः इच्छा-योग्यताऽभावे, उपेक्षणीयस्य सुख इव स्वसुखेऽपीच्छाया असंभवात्।

मिथ्या है। पापादि तो केवल प्रायश्चित्तादि से भी हटते ही हैं अतः पाप इत्यादि सिर्फ ज्ञान से निवृत्त होने वाले हैं भी नहीं कि ज्ञानमात्रनिवर्त्य बंधादि के समकक्ष हों। वस्तुतस्तु ज्ञान से पापनिवृत्ति अमान्य है अपितु विधेय जो चक्षुरादिव्यापार अर्थात् क्रिया है वही प्रायश्चित्तन्याय से पापनिवृत्ति में हेतु है।) इस प्रकार निष्कर्ष है कि जो सिर्फ ज्ञान से निवर्तनीय होता है वह मिथ्या ही होता है अतः कर्तृत्वादिक भी मिथ्या है। एवं च आत्मा असंग और उदासीन अर्थात् अप्रचलितस्वभाव है।

वह नित्य ज्ञानरूप असंग उदासीन आत्मा सुख से अलग नहीं है क्योंकि श्रुति ने बताया कि यह अद्वैत आत्मा ही इस विज्ञानमयका परम आनंद है। यह अनुमान भी हैः आत्मा , सुख है, क्योंकि आत्मा से अतिरिक्त किसी से प्रयुक्त इच्छा का विषय नहीं अर्थात् बिना किसी कारण प्रिय है, दृष्टांत इसमें व्यतिरेक से दुःखादि समझने चाहिये। आत्मा यदि सुख का समवायी अर्थात् सुखका आधार हो तब भी उक्तरूप से प्रिय हो सकता है तब उक्त हेतु उसे सुखरूप कैसे सिद्ध करता है? यदि सुखसमवायी होने से परप्रेमास्पद हो तब तो वह दुःखसमवायी है यह भी तुम तार्किक मानते हो अतः उसे बिना कारण द्वेष का विषय भी होना चाहिये! आगे सुख होगा यह निश्चित न हो और वर्तमान में दुःख भी हो तो तुम्हारे अनुसार आत्मा द्वेष्य होना चाहिये लेकिन होता तब भी वह निःसीम प्रेमका ही पात्र है ।

जन्यसुखं वृत्तिरूपम्

सुखोत्पत्तिविनाशप्रतीतिस्तु सुखपदवाच्यवृत्तिविषया। सुखरूपस्यात्मनः सुखपदवद्वाक्यार्थतया तदेकदेशसुखपदवाच्यत्वायोगेन आनन्दवृत्तेरेव सुखात्मकसुखत्वतादात्म्येन सुखपदवाच्यत्वात्। परैरपि सुखत्वविशिष्टव्यक्तेरेव उत्पत्त्याद्यभ्युपगमात्। परन्तु अस्माकं सा न सुखं, सुखत्वमेव सुखमिति विभागः। न चाऽसुखस्य सुखपदवाच्यत्वाऽसम्भवः; त्वन्मतेऽपि जातेस्तदभावप्रसङ्गात्। वृत्तिवैचित्र्याच्च सुखवैचित्र्यप्रतीतिरुपपद्यते।

यदि आत्मा खुद ब खुद इच्छा के योग्य न होता तो आत्मीय सुख की भी इच्छा नहीं हो सकती थी जैसे उपेक्षा के योग्य किसी जन्तु के सुख के प्रति कोई विशेष इच्छा नहीं होती।

सुख पैदा हुआ, नष्ट हुआ ये प्रतीतियाँ सुख कहलाने वाली वृत्ति के जन्मादि को विषय करती हैं। सुखरूप आत्मा सुखपदघटित वाक्य का अर्थ है अतः वाक्यांशभूत सुखपद का वाच्यार्थ नहीं हो सकता इसलिये (आनन्दमयकोश में प्रसिद्ध) आनंदवृत्ति ही सुखरूप सुखत्व से तादात्म्य को प्राप्त हुई सुखपद का वाच्य बनती है। (जैसे चीनी से तादात्म्यापन्न चावल भी मीठा कहा जाता है। जैसे बिंब सभी प्रतिबिंबों में अनुगत होने से जातिस्थानीय है ऐसे सभी सुखवृत्तियों में प्रतिफलित होकर उन्हें सुखप्रतीति का विषय बनाने वाला सुखरूप आत्मा ही सुखत्व है।) तार्किकादि भी सुखत्व से विशिष्ट सुखव्यक्ति को ही सुखपद का वाच्य मानते हैं (अर्थात् वे भी सुखत्वको नित्य मानते हैं और तत्स्थानापन्न सुखरूप आत्मा को ही हम नित्य कह रहे हैं अतः कोई अजीबो गरीब बात नहीं है)। इतना अन्तर अवश्य है कि वे लोग जन्य सुख को भी वास्तव में सुख मानते हैं जबकि हम वृत्ति को सुख नहीं मानते। जिसे सुखत्व कह रहे हैं वही आत्मा हमारे अनुसार सुख है, वृत्ति में तो गौण प्रयोग है। असुखभूत वृत्ति को सुखपद का वाच्य कैसे मानते हो? जैसे तुम जातिपदका वाच्य जाति को मानते हो जबकि जाति कोई जाति नहीं, घटत्वादि ही जाति हैं! वृत्ति को अभिव्यंजक मान लेने से जो सुख की विचित्रता अनुभव में आती है वह भी वृत्ति की विचित्रता के कारण संगत हो जाती है।

एतेन – सुखविनाशादिप्रतीते तद्व्यञ्जकवृत्तिविषयत्वकल्पनमयुक्तम्, अर्थविषयबुद्धेर्ज्ञानविषयत्वकल्पनाऽयोगादिति – निरस्तम्। चन्दनाद्यनुभवजन्यस्यैव हि नाशानुभवः स तथैवास्मन्मतेऽपि इति अन्याविषयत्वाभावात्[अन्यविषयत्वाभावात्?]।

सौषुप्तपरामर्शात्सुखमात्मा

एवं सुखमहमस्वाप्समिति परामर्शादप्यात्मा सुखम्। न च दुःखाभाव एव तथा परामृश्यत इति वाच्यम्; प्रकाशात्मकसाक्षिसुखविषयत्वे बाधकाभावात्। दुःखाभावस्य सुषुप्तावननुभूतस्य स्मर्तुमशक्यत्वाच्च।

सुख के नाशादिकी प्रतीति को सुखव्यंजक वृत्ति के नाशादि को विषय करने वाला मानना गलत है क्योंकि अर्थविषयक अनुभव को ज्ञानविषयक नहीं माना जा सकता – यह किसी की शंका यह मानकर है कि सुखवृत्ति का मतलब सुखज्ञान है। किंतु क्योंकि सुख स्वतंत्र वृत्ति है अतः यह शंका व्यर्थ है। चन्दनादिके अनुभव से जन्य जो वृत्तिरूप सुख उसी के नाश का अनुभव होता है और यह हम मान ही रहे हैं अतः अनुभव को सुखेतरविषयक नहीं कह रहे। ('अन्याविषयत्व' ही पाठ हो तो आविषयत्व ऐसा पदविग्रह कर लेना चाहिये।)

'मैं सुख से सोया' इस स्मृति से भी सिद्ध होता है कि आत्मा सुख है। (स्वापकालीन सुख वैषयिक तो है नहीं क्योंकि विषयभोग के सब उपकरण तब उपरत रहते हैं अतः उसे नित्य सुख ही मानना पड़ेगा और क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं कि नित्य वस्तु आत्मा से भिन्न होती है इसलिये उसे आत्मा ही स्वीकारना संगत है।) उक्त स्मृति दुःखाभाव को विषय नहीं करती क्योंकि यह मानने में कोई विरोधी प्रमाण नहीं कि वह ज्ञानरूप साक्षिसुख को विषय करती है और इसमें विरोध हुये बिना 'सुख'–ऐसी स्मृति का विषय सुख न मानकर दुःखाभाव मानना गलत होगा। किं च दुःखाभाव सुषुप्ति में अनुभूत भी नहीं है कि उसकी स्मृति संभव हो (क्योंकि तब दुःखरूप प्रतियोगी की प्रसक्ति की कोई व्यवस्था नहीं)।

न च उत्थितस्य तद्गोचरानुमितिरेव, न स्मृतिरिति वाच्यम्; स्मृतित्वानुभवविरोधात्। स्वापकालीनसुखानुभवव्यतिरेकेण तदनुमानायोगाच्च।

न च साक्षिरूपसुखप्रकाशस्य अविनाशात् संस्काराऽभावेन न तत्स्मृतिरिति वाच्यम्; सुखाद्याकाराविद्यावृत्त्यभ्युपगमेन घटाद्यविशेषात्। तस्मादात्मा सुखम्।

आत्मनः स्वप्रकाशत्वम् – i) श्रुतिरत्र मानम्

एवमसङ्गोदासीनान्दात्मा स्वप्रकाशः 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' (बृ. ४. ३. ९) इति श्रुतेः।

उठकर सुखका अनुमान होता है, स्मृति नहीं – यह मानना संगत नहीं क्योंकि 'सुख से सोया' यह स्मृतिरूप से ही प्रतीत होता है न कि अनुमानरूप से; 'स्मरामि' ऐसा ही लगता है, 'अनुमिनोमि' नहीं। किं च सौषुप्त सुख का अनुभव हुये बिना दुःखाभाव का अनुमान भी हो नहीं सकता (क्योंकि किसी लिंग से ही अनुमान करेंगे व उसको सुषुप्ति में अनुभूत होना पड़ेगा। अतः जो वादी सुषुप्ति में सुख नहीं मानते उन्हें सौषुप्त दुःखाभावकी अनुमिति भी नहीं हो सकती।)

सौषुप्त सुख का ज्ञान साक्षिरूप है और साक्षी का विनाश होता नहीं तो संस्कार भी न होने के कारण उस सुख की स्मृति कैसे होगी? सुषुप्ति में सुख के आकार की वृत्ति होती है जो नष्ट होकर संस्कार और स्मृति को संपन्न करती है अतः घटस्मृति की तरह सुखस्मृति भी उचित है। (विवरण में (पृ. १७१) सुखाकार, साक्ष्याकार और अवस्थाऽज्ञानाकार तीन वृत्तियाँ सुषुप्ति में स्वीकारी गयी हैं। न्यायरत्नावलीकार के अनुसार मूलाज्ञान के आकार की भी एक वृत्ति अवश्य माननी चाहिये जो प्रलय से अन्य काल में हमेशा ही रहती है।)

इसलिये आत्मा ही सुख है।

निःसम्बन्ध, एकरूप, आनंद आत्मा स्वप्रकाश भी है क्योंकि वेद ने कहा है 'स्वप्नावस्था में यह आत्मा खुद ही प्रकाश रहता है'। (जाग्रत् में ज्ञानोपाय बहुतेरे होने से ज्ञान किस एक का स्वभाव है यह मालूम न चलने से स्वप्न की चर्चा की। वहाँ जानकारी का कोई साधन न होने से आत्मा ही ज्ञानरूप पता चलता है। 'स्वयं' कह देने से स्पष्ट होता है कि उसे अन्य कोई ज्योति अर्थात् ज्ञान न अपेक्षित है और न विषय कर ही सकता है।)

ii) अनुमानम्

आत्मव्यवहारः स्वगोचरप्रकाशजन्यः व्यवहारत्वात् संमतवत्। स च प्रकाशो लाघवात् परिशेषाच्चात्मैव। स्वगोचरप्रकाशत्वं च स्वगोचरसंशयादिनिवर्तकप्रकाशत्वम्।

iii) अनुमानान्तरम्

अथवा वर्णितानुभूतिः स्वप्रकाशा, अनुभूतित्वाद्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः। ननु – यदि स्वप्रकाशत्वं प्रकाशस्वभावत्वं तदा सिद्धसाधनं, वेद्यानुभूतेरपि स्वप्रकाशत्वात्। नाऽपि ज्ञानाविषयत्वम्, अनुभूतेरपि

यह अनुमान भी है: अहंकारातिरिक्त आत्मा का व्यवहार उससे जन्य है जो अभिवदनरूप व्यवहार के विषय का प्रकाश है, क्योंकि व्यवहार है, जैसे घटादिव्यवहार। (जिसे घटादि कहते हैं उसका प्रकाश होने पर ही, अर्थात् घड़ा दीखने आदि पर ही, उसका व्यवहार होता है। दृष्टान्त में व्यवहारविषय से प्रकाश अतिरिक्त होता है किन्तु आत्मस्थल में वह प्रकाश लाघवतर्क से पारिशेष्यन्याय से आत्मा ही है। (लाघव तो स्पष्ट है क्योंकि आत्मातिरिक्त आत्मप्रकाश में कोई प्रमाण है नहीं अतः उसे तद्रूप मानने में कोई अधिक कल्पना नहीं है। परिशेष इसलिये है कि आत्मा की अपरोक्षता का और कोई उपाय मिलता नहीं।) 'स्व' के विषय का प्रकाश वह होता है जो 'स्व' के (=व्यवहार के) विषय के संशयादि का निवर्तक होते हुये प्रकाश हो।

यह भी अनुमान है जो चित्सुखाचार्य ने बताया है: पूर्वदर्शित स्फुरणरूप अनुभूति, स्वप्रकाश है, अनुभूति होने के कारण, जो स्वप्रकाश नहीं होता वह अनुभूति भी नहीं होता, जैसे घड़ा।

प्रश्न होता है: स्वप्रकाश होने का क्या मतलब? यदि अर्थ है प्रकाशस्वभाव होना, तब अनुमान व्यर्थ है कारण कि ज्ञेय अनुभूति भी प्रकाशस्वभाव तो मानी ही जाती है। सबको मान्य बात के लिये अनुमान दिखाना भी एक दोष है। यदि स्वप्रकाश का मतलब है ज्ञान का विषय न होना, तब बाध है क्योंकि वृत्तिज्ञान का विषय अनुभूति को भी मानते हो। यदि कहो कि अनुभूति में फलव्याप्ति नहीं है तो बताओ उससे क्या अभिप्राय : अगर यह अर्थ है कि इन्द्रिय से उत्पाद्य वृत्ति से अभिव्यक्त चैतन्य से जो विशिष्ट हो वह

वृत्तिविषयत्वात्। फलव्याप्यत्वं नास्ति इति चेत्; तद्यदि इन्द्रियजन्यवृत्त्यभिव्यक्तचैतन्यविशिष्टान्यत्वं तर्हि नित्यपरोक्षेष्वतिप्रसङ्गः। नाऽपि चैतन्याविषयत्वं, चैतन्येऽपि तदभावात्, अन्यथा तद्व्यवहारानुपपत्तेः – इति? मैवम्, अवेद्यत्वं स्वप्रकाशत्वं, तच्च चैतन्यागोचरत्वम्। न चासम्भवः, चैतन्यस्यैकत्वेन तस्मिंस्तद्गोचरत्वाऽसम्भवात्। कल्पितभेदाधीनविषयत्वेऽपि न वास्तववेद्यत्वसिद्धिः।

आत्मव्यवहारोपपत्तिः

ननु – एवं तद्व्यवहारासंभवः, व्यवहारस्य स्वगोचरचैतन्यसाध्यत्वात्। न च वृत्त्यैव तद्व्यवहार इति वाच्यम्; तस्या इच्छादिव्यवहारे व्यभिचारेण व्यवहारमात्राऽहेतुत्वात्। घटादिव्यवहारे क्वचिदेव तस्या अपेक्षणाद्; – इति चेत्?

फलव्याप्य, उससे भिन्न होना फलव्याप्त न होना है, तब नित्य ही परोक्ष रहने वाले पदार्थ भी स्वप्रकाश होने लगेंगे अर्थात् यह लक्षण अतिव्याप्त है। यदि चैतन्य का विषय न होना फलव्याप्त न होना है तब भी ठीक नहीं क्योंकि चैतन्य को यह नहीं कह सकते कि वह चैतन्य का विषय नहीं क्योंकि चैतन्य का विषय न हो तो चैतन्य का व्यवहार संगत नहीं होगा। अतः स्वप्रकाश से क्या अभिप्राय है?

उत्तर है: स्वप्रकाश का मतलब है अवेद्य अर्थात् चैतन्य का अविषय। यह जो कहा कि इसमें असंभव दोष होगा क्योंकि चेतन समेत सभी कुछ चेतनका विषय है, वह ग़लत कहा। चैतन्य एक है अतः वह खुद का विषय हो नहीं सकता। कल्पित भेद के सहारे विषयता हो जाये तो भी उससे वास्तविक वेद्यता नहीं सिद्ध होगी, कल्पित वेद्यता ही सिद्ध होगी।

प्रश्न होता है: आत्मा यदि उक्तरीति से अवेद्य है तो उसका व्यवहार होना संभव नहीं क्योंकि स्वका व्यवहार स्वको विषय करने वाले चैतन्य से ही संभव होता है। वृत्ति से भी आत्मव्यवहार संपन्न हो सके इसकी भी संभावना नहीं क्योंकि वृत्ति तो घटादि कुछेक व्यवहारों में अपेक्षित हुआ करती है, वह व्यवहारमात्र के प्रति हेतु नहीं कारण कि इच्छादि का व्यवहार वृत्तिजन्य नहीं क्योंकि इच्छादि केवल साक्षी के भास्य माने गये हैं। अतः अवेद्य होने पर व्यवहार कैसे?

न। व्यवहारसामान्ये व्यवहर्तव्यज्ञानत्वेन ज्ञानं न हेतुः, गौरवात्, किन्तु ज्ञानत्वेन। न चैवमतिप्रसङ्गः, अनात्मव्यवहारे व्यवहर्तव्यज्ञानस्याऽपि हेतुत्वात्। आत्मव्यवहारे तु तदभिन्नप्रकाशो हेतुः, न तु तद्विषयः, तदसम्भवस्योक्तत्वात्। न च – ज्ञानजन्यव्यवहारविषयश्चेदात्मा तर्हि ज्ञानविषय एव, तस्यैव तत्त्वाद् – इति वाच्यम्; औपचारिकज्ञानविषयत्वसत्त्वेऽपि व्यवहारविषयत्वातिरिक्तज्ञानविषयत्वस्य घटादिवदात्मन्यसत्त्वात्। एतेन वस्तुत्वाद् इति वेद्यत्वानुमानं निरस्तम्।

चित्सुखीया स्वप्रकाशतानिरुक्तिः

अथवा – अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं स्वप्रकाशत्वम्। तत्र च अवेद्यत्वम् इन्द्रियजन्यवृत्त्यभिव्यक्तचैतन्याऽविषयत्वम्। साक्षिमात्रभास्यान्तःकरणतद्धर्मशुक्तिरूप्यादौ न तद् योग्यम्। तद्योग्याधिष्ठानाभेदादेव

उत्तर है: व्यवहारानुपपत्ति नहीं है। व्यवहारसामान्य के प्रति ज्ञानरूप से ही ज्ञान कारण है, न कि जिसका व्यवहार करना हो उसके ज्ञान के रूप से, क्योंकि वैसा मानने में गौरव है। यदि ऐसा हो तो घटज्ञान से पटव्यवहार क्यों नहीं? इसलिये कि अनात्मा के व्यवहार में जिसका व्यवहार करना है तद्विषयक ज्ञान भी हेतु पड़ता है। आत्मा के व्यवहार में तो आत्मा से अभिन्न ज्ञान ही हेतु होता है, आत्मविषयक ज्ञान नहीं क्योंकि बता चुके हैं कि ज्ञान आत्मा को विषय करे यह संभव नहीं। ज्ञान से जन्य व्यवहार का विषय होने पर आत्मा ज्ञान का विषय कैसे नहीं जबकि ज्ञानविषय होने का मतलब यही है कि ज्ञानजन्य व्यवहार का विषय होना? व्यवहारविषयता को ज्ञानविषयता कहो तो वह ज्ञान की औपचारिक (गौण) विषयता ही होगी। वह आत्मा में भले ही रहे लेकिन उससे अन्य जो ज्ञान की मुख्य विषयता घटादि में रहती है वह तो आत्मा में हो नहीं सकती। क्योंकि ज्ञानविषयता के बिना कोई विसंगति नहीं इसलिये वस्तुता को हेतु बनाकर वेद्यता को सिद्ध करने वाला अनुमान भी गलत सिद्ध हो गया।

चित्सुखाचार्य ने स्वप्रकाश को यों परिभाषित किया है: जो अवेद्य रहते हुये अपरोक्ष व्यवहार के योग्य हो उसे स्वप्रकाश कहते हैं। यहाँ अवेद्य का मतलब है इन्द्रिय से जन्य वृत्ति में अभिव्यक्त चैतन्य का विषय न होना। केवल साक्षी के भास्य अन्तःकरण और उसके धर्म तथा प्रातिभासिक रजतादि में

तेषु अपरोक्षव्यवहारस्य अन्यथासिद्धत्वेन तद्योग्यतायां मानाभावात्। घटादिकं च अपरोक्षप्रमाणगम्यत्वात् तद्योग्यम्।

न चाऽत्र साध्याऽप्रसिद्धिः। वेद्यत्वं किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, धर्मत्वाद्, रूपवत्। प्रमेयत्वादेरपि स्ववृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वान्न

स्वप्रकाशता होना योग्य (उचित) नहीं है क्योंकि स्वप्रकाश होने योग्य अधिष्ठान चेतन से अभेद होने के कारण ही जब उनका अपरोक्ष व्यवहार उपपन्न है तब उन्हें स्वप्रकाश होने योग्य मानने में कोई प्रमाण नहीं (कारण कि जो अन्यथा सिद्ध न हो ऐसा व्यवहार ही योग्यता का कल्पक होता है)। घटादि तो अपरोक्ष प्रमाणों के विषय होने से फलव्याप्ति के योग्य हैं अत: उनकी व्यावृत्ति के लिये अवेद्य कहना जरूरी है।

स्वप्रकाशतानुमानों में साध्यभूत स्वप्रकाशता की अप्रसिद्धि को दोष नहीं कह सकते क्योंकि अनुमान से उसे सामान्यत: प्रसिद्ध किया जा सकता है: वेद्यता किसी न किसी में रहने वाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगी है, क्योंकि एक धर्म है , जैसे रूप। (जिसमें उसका अत्यंताभाव रहेगा वह अवेद्य होगा अत: प्रसिद्धि स्पष्ट है। अथवा यह प्रयोग है: अपरोक्ष व्यवहार की विषयभूत अनुभूति, संवित् को विषय नहीं करती, क्योंकि अनुभूति है, व्यतिरेकी दृष्टान्त है घट जो न संविद्विषयक है, न अनुभूति है। इस प्रकार अपरोक्ष कही जाने वाली, अभिवदनव्यवहार की विषय, अनुभूति संविद्विषयक न होने से संवित् अनुभूतिका अविषय अर्थात् अवेद्य है यह प्रसिद्ध हो जाता है। वस्तुतस्तु पूर्वोक्त श्रुति से ही स्वप्रकाशता प्रसिद्ध होने से साध्याप्रसिद्ध नहीं है।) यह नहीं कह सकते कि प्रमेयत्व धर्म है जब कि उसका कहीं अत्यन्ताभाव नहीं अत: धर्मत्व हेतु व्यभिचारी है; कारण कि तार्किक लोग प्रमेयत्व में प्रमेयत्व नहीं मानते जिससे प्रमेयत्व भी खुद में रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है ही। अत: ठीक ही कहा कि 'अपरोक्ष' ऐसे कथनरूप व्यवहार की विषयभूत अनुभूति अवेद्य है क्योंकि अनुभूति है, व्यतिरेक से घटकी तरह। इस प्रकार अपरोक्षव्यवहारयोग्य में अवेद्यता सिद्ध हो जाने पर 'अनुभूति स्वप्रकाश है, अनुभूति होने से, जो स्वप्रकाश न हो वह अनुभूति नहीं होता जैसे घड़ा' इस व्यतिरेकी प्रयोग से स्वप्रकाश संवित् के आकार की प्रतीति – अर्थात् संवित् स्वप्रकाश है यह ज्ञान – सिद्ध हो जाती है।

व्यभिचारः। ततश्च – अपरोक्षव्यवहारविषयाऽनुभूतिः, अवेद्या, अनुभूतित्वाद्, व्यतिरेकेण घटादिवद् – इति विशिष्टसाध्यसिद्धौ वर्णितव्यतिरेकिणा तदाकारप्रतीतिसिद्धेः उपायान्तरेण आत्मापरोक्ष्याऽसिद्धेश्च।

अनुव्यवसायाऽसंभवः

अनुव्यवसायस्तु न सम्भवति, मनसो बहिर्विषयाऽसम्बन्धेनोपायाभावात्। ज्ञानस्याऽपि पूर्वमननुभूतज्ञानवैशिष्ट्ये तस्मिन्नप्रत्यासत्तित्वात्। एकस्मात् संयोगादनेकज्ञानाभ्युपगमेऽनुव्यवसायधाराया अविरमप्रसङ्गात्। संयोगभेदे च विनष्टज्ञानस्य तदनुपपत्तेः। धाराकालीनात्मनि तदसम्भवाच्च।

आत्मा की अपरोक्षता और किसी उपाय से सिद्ध होती भी नहीं अत: पारिशेष्यन्याय से भी स्वप्रकाशता स्वीकार्य है। (विषयज्ञान के आश्रयरूप से आत्मा सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञान अपने विषय से इतरत्र कुछ सिद्ध नहीं करता। आत्मा को सिर्फ ज्ञानाश्रय मानने वाले (प्राभाकर) उसे सिद्ध कह भी नहीं सकते क्योंकि निर्विषय सिद्धि हो नहीं सकती! इसी प्रकार ज्ञानधर्मी आत्मा मानने वाले (तार्किक) उस ज्ञान से आत्मा की सिद्धि नहीं कह सकते क्योंकि यह उन्हें भी मान्य है कि क्रिया का कर्ता उसी क्रिया का कर्म नहीं हो सकता और धात्वर्थतालक्षण क्रिया ज्ञान भी है ही। मन प्रमाणों का सहकारी होने से स्वयं प्रमाण है नहीं कि आत्मा की अपरोक्ष प्रमा मन से ही हो सके। यह कह नहीं कह सकते कि आत्मा नित्य अनुमेय ही है क्योंकि उसकी अपरोक्षता अनुभव में आ रही है। अत: अन्य कोई व्यवस्था संभव न होने से यही एक संभावना बचती है कि आत्मा स्वप्रकाश है। श्रुतिके जब यह अनुकूल है तब इसे ही स्वीकारना उचित है।)

अनुव्यवसाय असंभव ही है क्योंकि बाह्य विषय से मन का सम्बंध होने का कोई उपाय नहीं। (इंद्रियसम्बंध से घटज्ञान उत्पन्न होकर घटज्ञान-विषयक जो ज्ञान होता है उसे अनुव्यवसाय कहते हैं। यह अनुव्यवसाय घटज्ञान को विषय करने से घटको विषय करने वाला माना जाता है। क्योंकि विशिष्ट के ज्ञान में विशेषण से संनिकर्ष कारण हुआ करता है इसलिये इसका घट से संनिकर्ष बताना पड़ेगा। अनुव्यवसाय इंद्रियकरणक नहीं क्योंकि इसका विषय

शोधिततत्वमर्थः

तस्मात् स्वप्रकाशचैतन्यानन्दात्मकः कर्त्रादिविलक्षण आत्मेति सिद्धम्।

औपाधिको जीवपरभेदः

स चात्मा परस्मान्न भिद्यते, इति वक्ष्यते। भेदस्तूपाधित एव, नियमेनोपाधिप्रतिसन्धान एव तत्प्रतीतेः, तादृशस्य च भेदस्य घटाकाशादिभेदस्येवौपाधिकत्वात्।

ज्ञान है जो ऐंद्रिय नहीं, अतः मनउपायक है और मनका बाह्य घट से संनिकर्ष होता नहीं।) ज्ञान स्वयं ही प्रत्यासत्ति अर्थात् संनिकर्ष या संबंध हो यह असंभव है यह कह ही चुके हैं। यदि मान लें तो भी जिस विषय का वैशिष्ट्य ज्ञान में पहले अनुभूत नहीं हो गया उस विषय में ज्ञान प्रत्यासत्ति हो नहीं सकता। (ज्ञान में वैशिष्ट्य ही तो अनुव्यवसाय से पता चलना है। जब तक यह पता न चले तब तक ज्ञान प्रत्यासत्ति नहीं होगा क्योंकि ज्ञात के साथ ही ज्ञान की प्रत्यासत्ति मानी जाती है। एवं च अनुव्यवसाय जिस ज्ञान से संभावित है वह खुद अनुव्यवसाय ही है अर्थात् आत्माश्रय दोष है।) किं च यदि एक मनःसंयोग से ही व्यवसाय और अनुव्यवसाय यों अनेक ज्ञान उत्पन्न हो सकें तो अनुव्यवसाय की शृंखला चलती ही रहनी चाहिये! इससे बचने के लिये मानो कि व्यवसायजनक मनःसंयोग से अनुव्यवसायजनक मनःसंयोग अलग होता है, तब यह असंभव हो जायेगा कि अनुव्यवसायका विषय व्यवसाय बने क्योंकि अनुव्यवसायोत्पादक संयोग के लिये व्यवसायोत्पादक संयोग समाप्त होना पड़ेगा तथा तार्किक प्रक्रिया से जब तक नया संयोग नये ज्ञान को, अनुव्यवसाय को, उत्पन्न करेगा तब तक पूर्व ज्ञान , व्यावसाय, समाप्त हो चुकेगा। किं च अनुव्यवसाय के लिये संयोगान्तर मानने पर जब आत्मा में घटज्ञान की धारा चल रही होगी तब प्रथमादि ज्ञानों का अनुव्यवसाय संभव नहीं रहेगा क्योंकि अनुव्यवसायोचित कालमें घटज्ञान ही उपस्थित रहेगा तथा युगपत् दो ज्ञान आत्मा में हो नहीं सकते।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि कर्ता आदि से विलक्षण आत्मा स्वप्रकाश ज्ञान आनन्दरूप है। (विचारारम्भ हुआ था कि आत्मा ब्रह्म कैसे हो सकता है। ब्रह्म होने योग्य आत्मा है यह अब तक सिद्ध किया।)

जीवभेदोऽप्यौपाधिकः

एवं जीवानामपि परस्परभेद औपाधिक एव, एकस्येवेतरेषामपि प्रविष्टब्रह्मस्वभावत्वात्।

नानाजीववादे – i) जीवभेदाक्षेपः

ननु – नास्त्येव जीवभेदः। विवादास्पदानि शरीराणि ममैव भोगायतनानि शरीरत्वाद् मच्छरीरवत्। न चैवमस्मिंछरीर इव अन्यस्मिन्नपि

पूर्वोक्त आत्मा परमेश्वर से अलग नहीं है, यह आगे समझायेंगे। जीव-ईश्वर का भेद उपाधि से ही है क्योंकि नियमतः उपाधि-उल्लेख होने पर ही उनका भेद भासता है। जो भेद केवल उपाधिसापेक्ष होता है वह उपाधिका ही होता है जैसे घटाकाशादि का भेद, अतः जीव-ईश्वर की भी उपाधियों का ही भेद है, उनमें कोई भेद नहीं।

जीवब्रह्मभेद की तरह जीवों का आपसी भेद भी उपाधिपरामर्श के बिना उल्लेख के अनर्ह होने से उपाधिभेद ही है न कि जीवभेद। किं च जैसे एक जीव मनआदि में प्रवेश किये हुये ब्रह्म के स्वभाव वाला है अर्थात् उपाधि में प्रविष्ट ब्रह्म ही जैसे एक जीव है वैसे ही अन्य जीव भी वही है अतः जैसे प्रतिबिम्बों का भेद वास्तव में दर्पणभेद से अन्य नहीं है या घटाकाश करकाकाशादि का भेद घटकरकादिके भेद से अन्य नहीं है वैसे जीवभेद भी उपाधिभेद से अन्य नहीं है। जीव क्योंकि ब्रह्म है इसलिये भी जीवमात्रका अभेद है कारण कि नियम है कि तदभिन्नाऽभिन्न को तत् से भी अभिन्न होना पड़ता है जैसे ग्रन्थ से अभिन्न पुस्तक और उससे अभिन्न किताब तो ग्रंथ से भी किताब अभिन्न होती है। जीव से अभिन्न ब्रह्म से अभिन्न जीव (=जीवान्तर) भी जीव से अभिन्न ही हो सकता है।

(औपाधिक जीवभेद का वर्णन होने पर) शंका उठती है: (औपाधिक भी) जीवभेद हो नहीं सकता। इसमें यह अनुमान है – मेरे शरीर से अन्य भी सब शरीर, मुझ जीव के ही भोगायतन हैं, शरीर होने के कारण, मेरे शरीर की तरह। यदि ऐसा है तो जैसे इस शरीर में 'मैं सुखी' ऐसा अनुभव होता है वैसे अन्य शरीर में भी 'मैं सुखी' यों अनुभव क्यों नहीं होता? एक ही जीव, सुखादि की अवच्छेदक उपाधियों से परिच्छिन्न हुआ सुखादि का अनुभव करता है अतः तत्तत् परिच्छेद में परिच्छेदान्तर के सुखादि का अनुभव संभव नहीं जैसे

सुखीत्यनुभवप्रसङ्गः; पादाद्यवच्छिन्नस्येव शिरआदिगते, उपाधिभेदाद्, अभिमानाभावेनोपपत्तेः। अज्ञानभेदाभावेन तदुपाधिकस्य अनेकत्वाऽयोगाच्च। न चान्तःकरणमेव जीवोपाधिः, सुषुप्त्यादौ तदभावप्रसङ्गाद; – इति चेत्?

ii) परिहारे - अनुमानप्रदर्शनम्

न। चैत्रशरीरवृत्त्यात्मा मैत्रात्मप्रतियोगिकभेदवान्, तद्गतदुःखाननुसन्धातृत्वाद्, घटवत्। न चैवं तद्वदेव स्वाभाविकभेदप्रसङ्गः; अप्रयोजकत्वात्। न चैवं शिरःपाण्याद्यवच्छिन्ने व्यभिचारः; साध्यस्यापि तत्र सत्त्वात्।

एक ही देवदत्त के सिर में पीडा होने पर पैर से अवच्छिन्न वही देवदत्त उस पीडा का अनुभव नहीं कर पाता। (पादादि से अवच्छिन्न देवदत्त को शिरआदि में अभिमान नहीं क्योंकि अवच्छेदक उपाधि बदल गयी अत: शिरआदि में होने वाले सुखादि में भी पादावच्छिन्न को अभिमान – 'मैं सुखी' ऐसी प्रतीति – नहीं होता।)

किञ्च जीवकी उपाधि जो अज्ञान वह अभिन्न है इसलिये भी अज्ञान उपाधि वाले जीव की अनेकता असंगत है। अंत:करण ही जीव की उपाधि हो यह उचित नहीं क्योंकि तब सुषुप्ति आदि में जीवका अभाव होने लगेगा जिससे सोते ही कैवल्यलाभ होने का सौभाग्य सुलभ होना चाहिये जो है नहीं। इसलिये उपाधिप्रयुक्त जीवभेद कैसे समझा जाये?

औपाधिक जीवभेद असंगत नहीं है। इसके लिये यह अनुमान है: चैत्र के शरीर में विद्यमान आत्मा में ऐसा भेद रहता है जिसका प्रतियोगी मैत्रदेहवर्ती आत्मा है क्योंकि मैत्रात्मगत दु:खादि का अनुसंधान चैत्रात्मा में नहीं होता, जहाँ मैत्रात्मगत दु:खादि का अनुसन्धान नियमत: न हो वहाँ मैत्रात्मप्रतियोगिक भेद रहा करता है जैसे घट में। (यदि इस अनुमान से सिर्फ शरीररूप उपाधियों का भेद सिद्ध होता प्रतीत हो तो सुषुप्त्यवस्थापन्न चैत्रात्मा को पक्ष समझना चाहिए और सौषुप्तमैत्रात्मप्रतियोगिक भेद को साध्य समझना चाहिये। उस अवस्था में शरीरादि से प्रयुक्त भेद तो रहेगा नहीं अत: अविद्याप्रयुक्त भेद ही सिद्ध होने से नाना जीवों की सिद्धि हो जायेगी।)

iii) श्रुत्या जीवभेदः

'तद्यो यो देवानाम्' (बृ. १. ४. १०) इत्यादिश्रुतेश्च जीवभेदः।

iv) अर्थापत्त्या जीवभेदः

अन्यथैकमुक्तौ सर्वमुक्तिप्रसङ्गः। न चेष्टापत्तिः, विवेकिनां बहूनां श्रवणादावप्रवृत्तिप्रसङ्गात्, फलस्यैकप्रवृत्त्यापि सिद्धेः। शुकादेर्मुक्तत्वेनेदानीं संसारानुपलम्भप्रसङ्गात्। महत्तमानामप्यमुक्तौ अर्वाचीनानां तत्र को विस्रम्भः!

यदि घटादिकी तरह चैत्रात्मा मैत्राद्यात्मभेद वाला है तो इनका भेद वास्तविक ही क्यों न माना जाये? इसलिये कि अन्य के दु:खादि के अननुसंधान के लिये जब व्यावहारिक भेद ही पर्याप्त है तब भेद को वास्तविक अर्थात् पारमार्थिक नहीं माना जा सकता। घट में भी पारमार्थिक भेद अस्वीकार्य है। उक्त अननुसंधान भेदपारमार्थिकत्व सिद्ध करने में सक्षम नहीं।

तद्गतदु:खादि का अनुसंधाता न होना–यह जो हेतु है वह सिर हाथ आदि से अवच्छिन्न आत्मा में व्यभिचारी हो ऐसा भी नहीं क्योंकि सिर आदि से अवच्छिन्न आत्मा में अवच्छिन्नात्मान्तर से भेद अर्थात् साध्य भी है ही। (सिर आदि से उपलक्षित मैत्रादि को लें तो उसमें अननुसंधानरूप हेतु भी नहीं है क्योंकि उसे सिर के दु:ख और पैर के आराम दोनों का पता चलता है।)

'देवताओं में जिस-जिसने उसे समझा वही तद्रूप हो गया' आदि श्रुतिवचन भी जीवभेद के समर्थक हैं। (भगवान् मधुसूदन ने गूढार्थदीपिका में संक्षेप में एकत्व-अनेकत्व बोधक वाक्यों का अभिप्राय बताया है 'यद्यप्यविद्याप्रतिबिम्ब एक एव जीव: तथापि अविद्यागतानाम् अंत:करणसंस्काराणां भिन्नत्वात् तद्भेदेन अन्त:करणोपाधे: तस्य भेदव्यपदेश:' (७.१४)।)

जीव अनेक न हो तो एक का मोक्ष होने पर सभी को मुक्त हो जाना चाहिये जो होता नहीं। (अत: एक के मुक्त होने पर भी बाकी के बद्ध रहने की अन्यथानुपपत्ति से जीवबहुत्व सिद्ध है।) यह नहीं कह सकते कि एक के मोक्ष से सबका मोक्ष मान ही लेंगे; क्योंकि तब विवेकी बहुतेरे लोग श्रवणादि में तत्पर नहीं होंगे कारण कि किसी एक के प्रयास से भी मोक्षरूप फल

v) तत्रैव सम्प्रदायानुपपत्तिर्मानम्

गुरुशिष्यादिव्यवस्थानुपपत्तेश्च। न ह्यविद्वान् गुरुर्भवति, 'श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' (मुं. १. २. १२) इति गुरुविशेषणश्रवणात्। न चैवं शिष्यादिभेदाप्रतीतेः न तस्योपदेशादिप्रवृत्तिः स्यादिति वाच्यम्; प्रारब्धकर्मप्रयोजकलेशवशात्तदुपपत्तेः।

vi) जीवभेदोपपत्तयेऽज्ञानभेदसमर्थनम्

न चोपाध्यैक्याज्जीवभेदानुपपत्तिः; स्वस्वानुभवसिद्धाज्ञानस्य दुःखादिवद् भेदात्। एकस्याऽज्ञाननिवृत्तावपि अन्यस्य तत्र तद्दर्शनात्।

vii) अज्ञानबहुत्वे श्रुतिः

'इन्द्रो मायाभिः' (बृ. २. ५. १९) इत्यादिश्रुत्या च तद्बहुत्वम्। न चाऽत्राऽवस्थाऽज्ञानमादाय तद्बहुत्वमुपपादनीयम्; 'रूपं रूपं प्रतिरूपो

सर्वसाधारण्येन उपलब्ध हो जायेगा। किं च शुक वामदेवादि कोई मुक्त हुये या नहीं? यदि हुये मानो तो अब बंधन उपलब्ध नहीं होना चाहिये। यदि कहो वे मुक्त नहीं हुये तो जब उन जैसे महात्माओं में श्रेष्ठ ही मोक्ष नहीं पा सके तो उनसे अत्यधिक पिछड़े हुये आधुनिक किसी का मोक्ष होगा इसे किस विश्वास से माना जाये!

जीवभेद न मानने पर शिष्य विद्वान् गुरु से उपदेश ग्रहण करे आदि मर्यादा असंगत हो जायेगी। श्रुति ने गुरु के लिये 'ब्रह्मनिष्ठ' विशेषण दिया है अतः आत्मवेत्ता ही मोक्षप्रयोजक ज्ञान के जनक उपदेश का कर्ता हो सकता है, अज्ञानी नहीं। विद्वान् को शिष्यादि भेद प्रतीत न होने से वह उपदेशादि कैसे करेगा? प्रारब्धकर्म से प्रयुक्त अविद्यालेश के आधार पर भेदोपलंभ तथा उपदेशादि सब उपपन्न हैं।

उपाधिभूत अज्ञान एक है तो जीव अनेक कैसे? जैसे अपने-अपने अनुभव से सिद्ध दुःखादि अलग-अलग हैं ऐसे ही अज्ञान भी विभिन्न हैं। एक व्यक्ति का अज्ञान मिट जाने पर भी अन्यों का उसी विषय में अज्ञान देखा जाता है इससे भी अज्ञानभेद सिद्ध होता है।

'परमात्मा मायाओं के द्वारा अनेक रूप धरता है' आदि श्रुति भी मायाशब्दित अज्ञानों के नानात्व में प्रमाण है। यहाँ अज्ञान की अवस्थाओं का भेद ही विवक्षित हो ऐसा नहीं क्योंकि 'हर रूप में अर्थात् हर शरीर में वह

बभूव' (तत्रैव) इति प्रतिपन्नजीवभावहेत्वज्ञानस्यैव बहुत्वधर्मित्वात्। न चावस्थाऽज्ञानं तथा। न चान्तःकरणस्यापि स्पष्टजीवविभागनिमित्तत्वाद् बहुत्वमत्र प्रतिपाद्यते; शब्दान्तरार्थे तस्मिन् मायाशब्दाऽयोगात्। तस्य 'युक्ता ह्यस्य हरयः' इति (तत्रैव) वाक्यशेषावगतेन्द्रियाद्यहेतुत्वाच्च।

viii) तत्र श्रुतिविरोधपरिहारः

न च 'अजामेकाम्' (श्वे. ४. ५) इत्यादिना मायैकत्वनिश्चयः; तस्या 'अजो ह्येको जुषमाणोनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः' इति

प्रतिबिम्बित हो गया' कहकर बताया कि जीवभावका हेतुभूत अज्ञान यहाँ कहा जा रहा है अतः उसे ही 'मायाओं के द्वारा'-पदसे बहुत्व का धर्मी अर्थात् अनेक कहा गया है। अज्ञान की अवस्थायें जीवभाव के प्रति पर्याप्त हेतु नहीं हैं। जीवों के विभजन को स्पष्ट करने वाले अंतःकरणों का बहुत्व यहाँ कहा जा रहा क्यों न मान लें? इसलिये कि मनआदि अन्य शब्दों का अर्थ जो अंतःकरण उसे 'माया' शब्द से कहा जाये यह हेतुविशेष के बिना असंगत है और मायापद अपने मुख्यार्थ को छोड़े इसमें कोई हेतु है नहीं। 'इसकी इन्द्रियाँ (विषयभोगार्थ वैसे ही) जुती हुई हैं (जैसे कहीं जाने के लिये रथ में घोड़े जुतते हैं)' यह वाक्यशेष है जिससे ध्वनित होता है कि इंद्र का, परमात्मा का, इंद्रियों से तादात्म्यरूप संबंध है; यह सम्बन्ध माया अर्थात् अज्ञान से ही संभव है, अंतःकरण से नहीं अतः 'मायाभिः' में अंतःकरणों का उल्लेख नहीं अज्ञानों का ही उल्लेख है। ('इन्द्रियादि' शब्द से इंद्रियतादात्म्य समझना चाहिये। पूरणीकार ने बताया है 'युक्ता ह्यस्येति वाक्यस्य ब्रह्मण इन्द्रियादितादात्म्यलक्षणयोगो मायाकृत इत्येवमर्थकत्वादिति भावः।' एवं च 'युक्ताः' का अर्थ कर लेना चाहिये 'आत्मतादात्म्यलक्षणयोगसम्पन्नाः'। अनुवाद भाष्यानुसारी है। प्रकृतानुसार कहना चाहिये 'इसकी अनंत इंद्रियाँ इससे जुड़ी हुई हैं'; 'जुड़ना' तादात्म्यरूप है यह प्रसिद्ध ही है।)

'न पैदा होने वाली एक' इत्यादि से माया की एकता निश्चित हो ऐसा नहीं क्योंकि उस श्रुति का तात्पर्य यह बताने में है कि हर जीव के संसरण का मूल कारण एक अज्ञान ही होता है अर्थात् प्रतिजीव संसरणहेतु विभिन्न नहीं बल्कि हरेक के अज्ञान ही हरेक के संसारमूल हैं। ऐसा समझने में कारण है

वाक्यशेषावगतविद्वदविद्वज्जीवसम्बन्धानुसारेण प्रतिपुरुषं संसारमूलाज्ञानैकत्वपरत्वात्। न ह्येकैवाविद्याऽविदुषा भुज्यतेऽन्येन त्यज्यते। एवं 'तरत्यविद्याम्' (विष्णुपु. ५. १७. १५) इत्येकवचनमपि द्रष्टव्यम्।

ix) नानाजीववादोपसंहारः

तस्मादविद्याकल्पितजीवभेदे बाधकाभावात् तदभेदे च तत्सत्त्वात्, जीवा भिद्यन्त इति नानाजीववादिनः।

एकजीववादे– i) अनुमानप्रदर्शनम्

अपरं मतम्– अविद्याप्रतिबिम्बात्मा तत्प्रतिबिम्बप्रतियोगिकभेदवान्न भवति, एकबिम्बैकोपाधित्वाद्, यदेवं तदेवम्, यथैकस्मिन् दर्पणे एकस्य मुखप्रतिबिम्बः।

कि उसी मंत्र में कहा है 'एक अजन्मा आत्मा–बद्ध जीव – न पैदा होने वाली एक माया का सेवन करते हुये उसके अनुसार सोया रहता है – मोहपरवश रहता है–जबकि दूसरा अजन्मा आत्मा, मुक्त पुरुष, जो अब माया के उपभोग को छोड़ चुका है वह इसे छोड़ देता है, माया से परे हो जाता है।' इससे पता चलता है कि श्रुति अविद्वान् जीव का मायासंबंध और विद्वान् का उससे असंबंध बता रही है। ऐसा तो है नहीं कि एक ही अविद्या अविद्वान् द्वारा भोगी जाये और विद्वान द्वारा छोड़ी जाये, क्योंकि विद्वान् की अविद्वद्दशामें अनुभूत अविद्या विद्यादशामें बाधित होती है, जीर्ण पट की तरह उससे वियुक्त होकर कहीं पड़ी नहीं रहती। इसी प्रकार 'अविद्या तर जाता है' आदि पुराणों में अविद्या का एकवचनान्त उल्लेख हर जीव की एक ही अविद्या है इस अभिप्राय से है यह समझना चाहिये।

इसलिये अनेक जीव स्वीकारने वालों का कहना है कि अविद्या से कल्पित जीवभेद का कोई बाधक नहीं जबकि जीव को अभिन्न मानने में शब्द व तर्क रूप बाधक है अतः जीव विभिन्न हैं।

औपनिषदों द्वारा आदृत सभी वृद्धों का संमत एक जीववाद भी समझ लेना चाहियेः अविद्या में प्रतिबिंबित आत्मा ऐसे भेद वाला नहीं है जिस भेद का प्रतियोगी अविद्या में प्रतिबिम्बित आत्मा हो क्योंकि बिम्ब और उपाधि एक हैं, जहाँ एक बिम्ब का एक उपाधि में प्रतिबिम्ब पड़ता है वहाँ उस प्रतिबिम्ब

देवदत्तशरीराभिमानी जीवो, न यज्ञदत्तशरीराभिमानिभेदवान् सर्वज्ञत्वानधिकरणत्वे सति चेतनत्वात्, तद्वत्; किञ्चिज्ज्ञत्वादिति वा।

न चैवं मनआदेरप्यभेदानुमानम्; बाधानवतारदशायामिष्टत्वात्।

ii) अज्ञानैक्यम्

न चाद्यानुमान एकोपाधिकत्वमसिद्धमिति वाच्यम्; अज्ञानस्य जीवोपाधेर्भेदे प्रमाणाभावात्। अनुभवस्य एकाज्ञानविषयत्वेन अप्युपपत्तेः। न च–देवदत्तेन 'न जानामि' इति स्वज्ञाननिवर्त्यत्वेन

में उसी बिम्ब के उसी उपाधि में पड़े प्रतिबिम्बका भेद नहीं रहा करता जैसे एक दर्पण में पड़ा एक मुख का प्रतिबिम्ब।

देवदत्तशरीर में 'मैं' ऐसा अभिमान रखने वाला जीव ऐसे भेद वाला नहीं जिसका प्रतियोगी यज्ञदत्तशरीर में अभिमान रखने वाला हो क्योंकि वह सर्वज्ञ न होते हुए चेतन है, जैसे यज्ञदत्तात्मा। यहाँ 'एक बार में थोड़ा ही जानने वाला होने से'– यह भी हेतु समझा जा सकता है।

इसी तरह मनआदि के भी अभेदका अनुमान क्यों न किया जाये; देवदत्त का मन यज्ञदत्त के मन से भिन्न नहीं, मन होने से, यज्ञदत्त के मन की तरह – ऐसा प्रयोग क्यों न कर लें? इसलिये मत करो कि इसका बाध हो जाता है क्योंकि मनोग्राहक उसे मनोऽन्तरवैलक्षण्येन ही ग्रहण करता है। यदि बाध की प्राप्ति न होती हो तो भले ही करो! मनोबाहुल्य में हम अद्वैतियों को कौन – सा आग्रह है कि इस अनुमान पर अंकुश लगायें।

एकजीववाद के लिये दिये पहले अनुमान में हेतु दिया था कि प्रतिबिम्ब संपन्न करने वाली उपाधि अर्थात् अविद्या एक है। अविद्या एक है यह कैसे मानें? जीव के उपाधिभूत अज्ञान के नानात्व में प्रमाण न होने से उसे एक ही माना जा सकता है। अज्ञान के सभी अनुभव एक ही अज्ञान को विषय करें इसमें कोई असंगति नहीं।

देवदत्त को अपने अज्ञानका यही अनुभव होता है 'मैं नहीं जानता' अर्थात् वह अज्ञानको ऐसी वस्तु समझता है जो उसे होने वाले ज्ञान से हट जायेगी। उस अज्ञान को यज्ञदत्त के ज्ञान से निवृत्ति होने वाला कैसे माना जाये, जो एकाज्ञानवाद में मानना पड़ेगा? ऐसा अनुभव नहीं होता है कि मूलाज्ञान सिर्फ

अनुभूयमानमज्ञानं कथमन्यज्ञाननिवर्त्यं स्याद्–इति वाच्यम्; मूलाज्ञाने स्वमात्रवृत्तिज्ञाननिवर्त्यत्वस्य अननुभवात्। स्ववृत्तिज्ञाननिवर्त्यत्वस्य तस्मिन्नन्यज्ञाननिवर्त्यत्वेऽपि अविरोधात्।

न च चैत्रस्याज्ञाननिवृत्तिदशायामपि मैत्रस्य तस्मिन्नज्ञानदर्शनेन तद्भेदः; तस्य जीवभेदसिद्ध्युत्तरकालीनत्वात्! घटाद्यज्ञानबहुत्वेऽपि न काचित् क्षतिः; जीवैक्येऽपि अहङ्कारभेदेन व्यवहर्तृभेदस्य वक्ष्यमाणत्वात्।

iii) अज्ञानैक्ये श्रुतिविचारः

'मायया त्वन्यदिव' (नृ० उत्त. ९) इति श्रुत्या चाविद्यैक्यं सिद्ध्यति। न च 'मायाभिः' (बृ. २. ५. १९) इति तद्बहुत्वम्; लाघवानुगृहीततदेकत्वश्रुतिविरोधेन अन्यपरवाक्यात् तदसिद्धेः। अत एव

मुझमें रहने वाले ज्ञान से निवृत्त हो सकता है क्योंकि मुझमें रहने वाले ज्ञान से निवृत्त होना उस मूलाज्ञान में तब भी उपपन्न है यदि वह यज्ञदत्तादि किसी में रहने वाले ज्ञान से भी निवर्तनीय हो। (मेरे ज्ञान से निवृत्त होगा – इतनामात्र इसके लिये पर्याप्त है कि मैं उसके निवर्तक ज्ञान को संपन्न करूँ। इसके लिये अन्य के ज्ञान से निवृत्त होना विरोधी नहीं बनता।)

चैत्र के अज्ञानकी निवृत्ति होने पर भी मैत्रका उसी विषय में अज्ञान देखा जाता है तो दोनों के अज्ञान भिन्न क्यों न हों? इसलिये कि अज्ञानभेद तब सिद्ध हो जब जीवभेद सिद्ध हो जबकि अभी वही सिद्ध नहीं हो पाया है। (अतः चैत्रका ब्रह्माज्ञान नष्ट होने पर मैत्रनामक जीवका अज्ञान रहता है यह कहना ही अनर्गल है।) यदि सिर्फ घटाद्यज्ञानों को – तूलाज्ञानों को अनेक मानना चाहो तो कोई हानि नहीं क्योंकि जीव एक होने पर भी अहंकारों के भेद से व्यवहारकर्ता (प्रमाता) विभिन्न होना उपपन्न है यह बतायेंगे।

'माया से अन्य की तरह'–यह श्रुति भी अविद्या की एकता सिद्ध करती है। पूर्वदर्शित 'मायाभिः' इस बहुवचनान्त श्रुति से माया का बाहुल्य नहीं सिद्ध होता क्योंकि यह वाक्य आत्मा की सर्वात्मता में तात्पर्य वाला है, मायाभेद में तात्पर्य वाला नहीं अतः लाघव तर्क से उपोद्बलित जो मायाकी एकता बताने वाली श्रुति उससे विरोध रहते मायानेकत्व में तात्पर्य न रखने वाली श्रुति मायानेकत्व नहीं सिद्ध कर सकती।

'अजामेकाम्' (श्वे. ४. ५) इत्येकत्वश्रुतिरपि न प्रतिपुरुषम् अजैकेति व्याख्येया। वाक्यशेषश्च यो विद्वान् परिपूर्णः स तां त्यजति, अन्यस्तु सङ्घाताभिमानदशायां भुङ्क्ते इति नास्मिन्मते प्रतिकूलः।

श्रीभगवानपि 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायमेतां तरन्ति ते' (गी. ७. १४) इत्येकस्यैवाज्ञानस्य बहुतर्तव्यत्वं दर्शयन्नविद्यैक्यमाह। तस्माद् न अविद्योपाध्यैक्याऽसिद्धिः।

iv) अन्तःकरणस्य न जीवभेदकता

ननु –अन्तःकरणमेव जीवभेदकम्, अहमिति तस्यैवोपाधित्वानुभवात्। न च सुषुप्तौ जीवाभावप्रसङ्गः; तदापि अन्तःकरणस्य

क्योंकि माया की एकता तर्कसंगत श्रुति से सिद्ध है इसलिये 'न जन्मने वाली एक' आदि श्वेताश्वतरश्रुति का अभिप्राय ऐसा नहीं लगाना चाहिये कि हर जीवकी उपाधिभूत एक-एक अनादि माया है (क्योंकि इस कल्पना में गौरव और एकत्वबोधक श्रुतियों का विरोध है।) वाक्यशेष तो एकजीववाद में भी संगत है कि जो विद्वान् होकर परिपूर्ण हो जाता है वह उसे छोड़ देता है, जो विद्वान् नहीं वह संघात में अभिमान रहते भोग करता है। (एक पुरुष की ही विद्यादशा और विद्याविहीनदशा का वर्णन मानने से संगति हो सकने से उपक्रमगत 'एकाम्' श्रुतिका और 'एनाम्' इस परामर्श का विरोध कर अर्थ करना गलत होगा।)

श्री भगवान् ने भी कहा 'जो मेरी प्रपत्ति करते हैं वे इस माया से तर जाते हैं' अतः वे भी यही बता रहे हैं कि अज्ञान एक ही है जिसे बहुतेरे लोग पार कर जाते हैं। (पार करना अर्थात् उसे निवृत्त करना। 'लोगों' से पूर्वसूचित प्रमाता समझने चाहिये।) इसलिये प्रथमानुमान में हेतु की गयी अविद्योपाधिकी एकता असिद्ध नहीं है।

शंका है: अन्तःकरणभेद ही जीवभेद का नियामक है क्योंकि 'मैं' इस अनुभव में उसी का उपाधिरूप से उल्लेख होता है। ऐसा मानने पर सुषुप्ति में जीव न रहे ऐसा नहीं क्योंकि सुषुप्ति में भी अनिर्वचनीय सूक्ष्मरूप से अन्तःकरण रहता है। यदि न रहे तो असत् हुए उसकी आगे जाग्रदादि में उत्पत्ति संभव नहीं। अंतःकरण में रहने वाले जो कर्म-ज्ञान-आदि के संस्कार

अनिर्वचनीयसूक्ष्मरूपतासत्त्वात्, अन्यथाऽग्रेऽसत उत्पत्त्यनुपपत्तेः, अन्तःकरणाश्रितकर्मज्ञानादिवासनाविरहप्रसङ्गाच्च। 'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः' (शुकर. २. १२) इति श्रुतेश्च। – इति चेद्?

न। प्रमात्रुपाधिभेदाभिप्रायत्वादस्य वाक्यस्य। अहमित्यनुभवेनापि स एवानुभूयते। एकस्मिन्नपि जीवे लौकिकवैदिकव्यवस्थितव्यवहाराय प्रमातृकर्तृभोक्तृभेदस्य आवश्यकत्वात्। तत्र च अन्तःकरणातिरिक्तोपाध्यसम्भवात्।

'तद्भावभावमापन्नस्ततोऽसौ परमात्मना। भवत्यभेदो भेदश्च तस्याऽज्ञानकृतो भवेत्।' (विष्णुपु. ६. ७. १५) इति स्मृतेश्च। अत एव न तत्र उपाध्यन्तरमाशङ्कनीयम्। इति न जीवो भिद्यते।

उनका भी अभाव होने का अनिष्ट प्रसंग हो जायेगा यदि अंत:करण सुषुप्ति में समाप्त हो जाया करे। अत: यावज्जीवभावी मन ही जीवोपाधि होने से जीव बहुत मानने चाहिये। उपनिषद् भी कहती है 'इस जीव की उपाधि है कार्य (मन) और ईश्वर की उपाधि है कारण (माया)'। इससे भी मनकी उपाधिता सिद्ध है। अत: जीवानेकता क्यों न मानी जाये?

समाधान है: उक्त ढंग से न मन जीवोपाधि है, न जीवानेकत्व है। उद्धृत उपनिषद्वाक्य प्रमाताओं की उपाधियों के भेद को बताने से गतार्थ है। (क्योंकि जीवशब्द से प्राणधारी कहा है जो अंत:करणविशिष्ट ही होता है।) 'मैं' इस अनुभव से भी अविवेकदशा में प्रमाता ही समझा जाता है। जीव एक होने पर भी लौकिक व वैदिक व्यवस्थाओं के लिये अर्थात् सर्वसंमत कर्तृत्वभोक्तृत्वसामानाधिकरण्यादि के लिये प्रमाताओं के – कर्ताओं के, भोक्ताओं के – भेद को अवश्य माना जाता है। इस भेद में अंत:करण से अन्य कोई उपाधि संभव नहीं।

पुराण भी कहता है कि यह जीव ब्रह्मभाव के साक्षात्कार वाला होने पर परमात्मा से अभिन्न होता है क्योंकि परमात्मा से जीवका भेद अज्ञान से ही है। इसलिये जीवभाव में अज्ञानभिन्न मनआदि को उपाधि नहीं मान सकते। अतएव जीव अनेक नहीं।

चैत्र मैत्र नहीं है यह अनुभव जीवभेद का साधक क्यों नहीं? इसलिये

v) प्रतीतेर्भेदासाधकत्वम्

न चैवं चैत्रो न भवति मैत्र इति प्रतीतिर्भेदसाधिका; एवं शङ्कमानस्य तव देहात्मवादप्रसङ्गात्! न च चैत्रात्मा न भवति मैत्रात्मा – इति प्रत्यक्षा प्रतीतिः संभवति।

vi) अनुमितेस्तदसाधनम्

ननु– आनुमानिकीयं प्रतीतिः। एकस्मिन्नेव समये चैत्रश्चेष्टते न मैत्र इति तावत् सिद्धम्। एवं तयोर्विरुद्धा चेष्टा दृश्यते। तदुभयाश्रयात्मनि तत्तन्निमित्तप्रयत्नतदभावौ विरुद्धप्रयत्नौ च विना न सङ्गच्छत इति सिद्धो विरुद्धधर्मवत्त्वादात्मनो भेदः – इति?

मैवं; सिद्ध्यत्वेवं निखिलशरीरसम्बन्धः; तद्भेदस्तु नैव सिद्ध्यति। एकस्मिन्नपि प्रयत्नतदभावविरुद्धप्रयत्नादीनाम् अनेकावच्छेदेनोपपत्तेः। प्रयत्नादेरन्तःकरणतद्विशिष्टधर्मत्वाच्च।

कि यह शंका उसे ही उठ सकती है जो देह को आत्मा (जीव) मानता हो! यह अनुभव तो हो सकता नहीं कि चैत्रका आत्मा मैत्रका आत्मा नहीं है, क्योंकि आत्मा ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं और अन्यात्मा में मनकी भी विषयता नहीं।

जीवभेद अनुमानसिद्ध क्यों न हो : एक ही समय में चैत्र सचेष्ट तथा मैत्र निश्चेष्ट या दोनों विरुद्ध चेष्टाओं वाले दीखते हैं जो तभी संभव है जब चेष्टाश्रय शरीरके आत्माओं में उन चेष्टाओं के निमित्तभूत प्रयत्न, प्रयत्नाभाव या विरुद्ध प्रयत्न हों अत: उनके आत्मा विरुद्ध धर्मों वाले होने से विभिन्न हैं। यह शंका है।

समाधान है कि यों आत्मा का अनेकत्व सिद्ध नहीं होता। इस तरह तो इतना ही सिद्ध हो सकता है कि सभी शरीरों का आत्मा से संबंध है लेकिन आत्मा की विभिन्नता इससे असिद्ध है क्योंकि अनेक शरीरों के अवच्छेदों से एक आत्मा में भी प्रयत्न, प्रयत्नाभाव, विरुद्ध प्रयत्न आदि धर्म युगपत् रह सकते हैं। किं च वास्तव में प्रयत्नादि केवल आत्मा के धर्म हैं ही नहीं, वे तो अन्त:करण और उससे विशिष्ट हुये आत्मा के धर्म हैं अत: उन्हीं का भेद सिद्ध कर पायेंगे, प्रकृत आत्मा का नहीं।

इसीलिये यह भी निराकृत हो गया कि श्रुतिविहित कर्मकाण्ड की

vii) कर्मकाण्डो नात्मभेदे मानम्

अत एव कर्मकाण्डबलाज्जीवभेद इति प्रत्युक्तम्। तस्य अन्तःकरणविशिष्टकर्तृभोक्त्रादिभेदसाधकत्वेऽपि अविद्याप्रयुक्तजीवभेदे उदासीनत्वात्।

viii) श्रुतिर्न जीवभेदपरा

न च 'तद्यो य' (बृ. १. ४. १०) इति वाक्यं जीवभेदे प्रमाणम्, तस्यान्यतः सिद्धभेदानुवादेनानियतोपाधिविदुषो ब्रह्मभावमात्रे तात्पर्यात्।

ix) अन्यसुखाद्यननुसन्धाननियमो नात्मभेदसाधकः

न चैवं चैत्रस्य मैत्रदृष्टसुखाद्यनुसन्धानप्रसङ्गः; शरीरभेदेन जन्मान्तरीयवत्तदुपपत्तेः। न च बालादिशरीरेऽप्यनुसन्धानं दृश्यत इति तत्र

अन्यथानुपपत्ति से आत्मभेद सिद्ध होता है क्योंकि कर्मकाण्ड की कर्तृभोक्तृव्यवस्था से अन्तःकरणविशिष्ट कर्ताओं का व भोक्ताओं का भेद सिद्ध हो सकने पर भी अविद्या से प्रयुक्त जो जीव उसका भेद सिद्ध नहीं हो सकता।

'जिस-जिसने परमात्मा को जाना' आदि वाक्य भी जीवभेद में प्रमाण नहीं क्योंकि लोकसिद्ध भेदका अनुवाद कर इतना ही बताने में उसका तात्पर्य है कि जिस शरीर से अवच्छिन्न आत्मा में ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाता है तभी जीव ब्रह्म हो जाता है, ऐसा कोई नियम नहीं कि उत्कृष्ट हिरण्यगर्भशरीर में स्थित होने पर ही आत्मा ज्ञान से मुक्ति पा सके। अनियत अर्थात् चाहे जिस उपाधि में जो विद्वान् हो गया वह तभी ब्रह्म है।

यदि जीवभेद नहीं है तो मैत्रानुभूत सुखादि का चैत्र को स्मरणादि क्यों नहीं होता? शरीरों का भेद होने से नहीं होता जैसे चैत्र को ही पूर्वजन्म में भोगे सुखादि का स्मरणादि नहीं होता। बालकावस्था के शरीर से वार्द्धक्यका शरीर अलग है फिर बाल्यानुभूत का वृद्ध को स्मरण होता है अतः शरीरभेद कैसे प्रयोजक कहा? बाल्यादिके भेद रहने पर भी 'यह वही शरीर है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा रहने के कारण अनुभूयमान शरीरैक्य है ही, शरीरों का आत्यंतिक भेद नहीं है। शरीरोत्पादक प्रारब्ध रहते शरीर नष्ट नहीं होता तथा पहले (बाल्यके) शरीर के रहते नया शरीर उत्पन्न हो यह भी संगत नहीं क्योंकि शरीरकारणतया सर्वमान्य हेतु - शुक्रशोणितसंबंधादि - उपस्थित नहीं होते।

तत्र प्रयोजकमिति वाच्यम्; तत्राऽपि शरीरप्रत्यभिज्ञादर्शनात्। तदारम्भकादृष्टे सति तद्विनाशाऽयोगात्, प्रथमशरीरे क्लृप्तकारणाभावेन तदारम्भानुपपत्तेश्च। जातिस्मृतिमतः शरीरभेदेऽपि स्मरणं दृश्यत इति चेद्? न, अदृष्टविशेषरहितस्याननुसन्धाने शरीरभेदस्य प्रयोजकत्वात्, अन्यथा तद्वदेव त्वन्मतेऽन्यः किमिति न स्मरेत्? यदन्तःकरणोपहितसाक्षिणा यदनुभूयते तस्यैव तत्स्मरणमिति नातिप्रसङ्गः।

x) एकजीववादे बहूनां श्रवणप्रवृत्त्युपपत्तिः

न चैवं बहूनां युगपच्छ्रवणादौ प्रवृत्त्यनुपपत्तिः। क) किं बहव एव न सन्तीति तदनुपपत्तिः? ख) सन्तोऽपि वा युगपन्मुमुक्षवो न भवान्ति, परस्य मुमुक्षयैव मोक्षसिद्धेः? ग) किं वा फलाभावनिश्चयात्?

जो जातिस्मर होते हैं उन्हें शरीर बदल जाने पर भी अर्थात् अगले जन्म में भी पूर्वजन्म की स्मृति होती है तो शरीरभेद अस्मरण का प्रयोजक कैसे? उन्हें जो जन्मान्तरस्मरण होता है वह इसलिये नहीं कि दोनों जन्मों में आत्मा एक रहा क्योंकि तब तो सभी को जातिस्मर होना चाहिये, बल्कि इसलिये होता है कि वैसा होने के लिये उनका कोई कर्मविशेष रहता है (दुःखस्मरण होने के लिये पाप तथा सुखस्मरण होने के लिये पुण्य आवश्यक होने से जिन कर्मों का फल जन्मांतरीय स्मरण से ही भोगा जा सकता है वे कर्म जातिस्मरता में हेतु बनते हैं। जो योगी आदि साधन से वह सामर्थ्य पाते हैं उनका तो ऐहिक प्रयत्न से साध्य अदृष्ट ही कारण स्पष्ट है।) अतः शरीरभेद को अस्मरण के प्रति प्रयोजक उसी के लिये कह रहे हैं जिसका ऐसा कोई अदृष्ट नहीं है। जिस अंतःकरण से उपहित साक्षी जिसका अनुभव करता है उसे ही उसकी याद आती है अतः चैत्रदृष्टका मैत्रको स्मरण हो इसकी संभावना ही नहीं क्योंकि एक जीव होने पर भी मन तो अनन्त हैं।

जीव एक है तो बहुतेरे साधक इकट्ठे ही श्रवणादि में प्रवृत्ति कैसे करते हैं? इस प्रश्न के तीन अभिप्राय संभव हैं: क) बहुतेरे हैं ही नहीं कि प्रवृत्ति कर सकें; ख) बहुतेरे हैं लेकिन इकट्ठे ही मोक्षेच्छुक नहीं हो सकते क्योंकि हरेक सोचेगा कि दूसरे की मुमुक्षा ही मोक्ष सिद्ध कर देगी; ग) जब महान् शुकादि मुक्त नहीं हुये तो हम लोगों का मोक्ष कैसे होगा-यों फल न होने के निश्चय से प्रवृत्ति नहीं होगी।

क) नाद्यः; बहुजीवप्रवृत्तेरभावात्। ननु दृश्यत इति चेद्? ननूक्तं देहात्मवाद्यसीति! एकस्यैव जीवस्य अनेकान्तःकरणावच्छेदभेदेन भिन्नस्य युगपदेकप्रवृत्तौ किं बाधकम्?

ख) नापि द्वितीयः; स्वसम्बन्धिदुःखस्य असह्यस्वभावतया परस्येव स्वस्याऽपि तन्निवृत्तिकामनासंभवात्। लोके ह्यन्यायत्ततया निश्चितेऽपि विलम्बमसहमाना: प्रवर्तमाना दृश्यन्ते, अत्र तु नान्यायत्तत्वनिश्चयः। न हि बाह्यचेष्टामात्रं तत्त्वज्ञाने सामग्री , किन्तु ईश्वरानुग्रहतदेकोपायलभ्यशुद्धि-विवेकवैराग्यशमदमाचार्यप्रसादादि। तच्च परस्मिन् दृष्टजातिवेषादिना न

क) इसमें प्रथम विकल्प ठीक नहीं क्योंकि बहुत जीवों की प्रवृत्ति मानी ही नहीं जाती। मानोगे क्यों नहीं जब दीख रही है? इसका तो जवाब दे ही दिया कि तुम देहात्मवादी हो तभी आँखों से आत्मभेद देख लेते हो! एक ही जीव अनेक अन्तःकरणरूप अवच्छेदकों के भेद से भिन्न हुआ इकट्ठे ही एक श्रवणादि कर्म में प्रवृत्ति करे तो क्या विरोध है जो जीवभेद का आग्रह रख रहे हो?

ख) द्वितीय विकल्प भी ठीक नहीं। अपने से संबद्ध दुःख स्वभावतः ही असह्य होता है अतः दुःखनिवृत्ति के लिये जैसे किसी और की इच्छा हो सकती है ऐसे अपनी भी हो ही सकती है। लोक में देखा गया है कि जहाँ यह निश्चय हो कि अमुक कार्य कोई दूसरा कर लेगा वहाँ भी विलंब सहन न होने पर लोग खुद उस कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं। प्रकृत में तो यह निश्चय है भी नहीं कि कोई दूसरा व्यक्ति मोक्षोत्पादक ज्ञान प्राप्त कर ही लेगा। बाहरी कोशिशें ही तत्त्वज्ञान के लिये पर्याप्त कारण हैं नहीं कि देखकर पता लगे कि कोई मेहनत कर रहा है तो फल पा लेगा। तत्त्वज्ञान के लिये तो ईश्वर की कृपा, उस कृपा से ही मिलने वाली शुद्धि, विवेक, वैराग्य, शम, दम आचार्य की कृपा आदि बहुत सी सामग्री जरूरी होती है। इन सबके बारे में दूसरे के जाति वेष आदि को देख कर निश्चय हो नहीं सकता। इनका पता तो तभी लग सकता है जब इनसे संभव होने वाला तत्त्वज्ञानरूप कार्य हो जाये। इसीलिये उस कार्य के संपन्न होने तक सभी मुमुक्षु ज्ञानार्थ श्रवणादि में प्रवृत्ति करें यह संगत है। यदि किसी को किसी तरह यह निश्चय हो जाये कि किसी अन्य साधक में तत्त्वज्ञान की पुष्कल सामग्री उपस्थित है तो उसकी श्रवण में प्रवृत्ति भले ही

निश्चेतुं शक्यम्, किन्तु कार्यैकसमधिगम्यम्, इति ततः प्राक् सर्व एव मुमुक्षवः प्रवर्तेरन्। यदि कथंचित् कश्चित् पुरुषान्तरेऽपि विद्यासामग्रीं निश्चिनुयात्, मा भूत्तस्य प्रवृत्तिः, का नो हानिः! सोऽपि प्रवर्तत इति चेत्? तर्ह्यसौ जीवतत्त्वे भ्रान्तः। नहीदं संभवति–देवदत्तस्य एतज्जन्मन्येव ज्ञानं भविष्यति तच्च समूलं संसारं निवर्तयिष्यति, स्वयं च दृष्टसुखविमुखः श्रवणादौ प्रवर्तते – इति।

xi) शास्त्रफलं प्रयोक्तरीति न्यायविरोधपरिहारः

एतेनेदं निरस्तम्– मुनिर्मनुते, मूर्खो विमुच्यत इत्येतत् 'शास्त्रफलं प्रयोक्तरि' (जै. सू. ३. ७. ८) इति न्यायविरुद्धम्। तथा च आभाणको लोके 'काचिन्निषादी तनयं प्रसूते कश्चिन्निषादस्तु कषायपायी!' – इति।

न हो, इससे हमें क्या हानी है! और यदि उक्त निश्चय वाला भी प्रवृत्त होता रहता है तो अवश्य उसे यह भ्रम है कि जीव अनेक हैं। यह तो संभव नहीं कि देवदत्त का यह निश्चय हो कि यज्ञदत्त के प्रयास से मुझे इसी जन्म में तत्त्वज्ञान होगा जो सकारण संसार समाप्त कर देगा और फिर भी देवदत्त दृष्ट सुखों से विमुख होकर श्रवणादि में प्रवृत्ति करे।

एकजीववादी का यह मानना कि चाहे किसी मने में तत्त्वज्ञान होने से जीवमात्र मुक्त हो जायेगा इस न्याय से विरुद्ध है कि शास्त्रीय चेष्टा से प्राप्य फल उसे ही होता है जो उस चेष्टा का कर्ता है। अन्यथा तो यही बात होगी–किसी निषादस्त्री को प्रसव हुआ और कोई दूसरा ही निषाद पुरुष दवा आदि पीने लगा! यह आक्षेप है।

समाधान है: हम यह मानते ही नहीं कि मननशील द्वारा निष्पादित श्रवणादि वैध चेष्टा का फल साक्षात्कार उससे अन्य किसी मूर्ख को होता है, कि उक्त आक्षेप का कोई औचित्य हो। साक्षात्कार का फल जो अविद्यानिवृत्ति वह मुनि के प्रत्यगात्मा में ही होगी, या 'मुनि के' यह भी कहना व्यर्थ है, सिर्फ कह सकते हैं कि प्रत्यगात्मा में ही होगी; मूर्ख में अविद्यानिवृत्ति मान्य ही नहीं है। किं च ज्ञान का अविद्यानिवृत्तिरूप फल अन्वय–व्यतिरेक से सिद्ध है अतः उसे वैध फल कह भी नहीं सकते कि यह नियम हो कि वह कर्ता में ही होगा; दृष्ट फल तो जैसा अनुभव हो वैसे ही संगत समझने पड़ते हैं। (चोरी एक जना

मुनिकर्तृकश्रवणादिविधिफलस्य साक्षात्कारस्य मूर्खेऽनभ्युपगमात्। तत्फलस्यापि अविद्यानिवृत्तेः मुनिप्रत्यङ्मात्रगततया, तावन्मात्रगततया वा,मूर्खनिष्ठत्वाभावात्। दृष्टफलानां च यथादर्शनमुपपत्तेश्च।

xii) प्रमात्रन्तरहितोपाये प्रवृत्त्युपपत्तिः

एतेनैतत्परास्तम्– यो यस्यानर्थमिच्छति स एव तस्यानर्थनिवृत्त्यर्थं कथं यतेत? – इति। निश्शेषं विगलितविषयद्वेषैरेव श्रवणादावधिकारात्। अपि च परस्य हितमपि स्वयं तदेकहितोपायः करोत्येव; न हि दहनसन्दीप्तवेश्मान्तर्गतः शत्रोर्हितं भवतीति न निर्गमनोपायं रचयति!

xiii) ज्ञानाज्ञानैकाधिकरण्यनियमभंगनिरासः

अत एवेदमपि निरस्तम् – ज्ञानस्य स्वसमानाधिकरणाज्ञाननिवर्तकत्वात् कथं प्रमात्रन्तरसमवेतं ज्ञानम् अन्यप्रमात्रज्ञानं निवर्तयेद्? – इति। अज्ञानैकत्वस्योक्तत्वात्।

करे तो भी उसके सारे परिवार को कई बार पिटायी खानी पड़ती है या पुत्र कोई खास उपलब्धि करे तो पिता की भी कीर्ति हो जाती है।)

वैराग्यवान् मुमुक्षु को अन्य पुरुषों मे ममत्व नहीं होता अतः विषयद्वेषकी तरह बुभुक्षु, पापी आदि अन्यों का वह अनर्थ चाहता है; वही उनके संसाररूप अनर्थ की निवृत्ति के लिये – जो कि मुमुक्षु के ज्ञान से अवश्य सिद्ध होनी है क्योंकि तत्त्वज्ञान जीव को मुक्त करेगा तो देहान्तरनिरूपित जीव भी मुक्त हो ही जायेगा– कैसे प्रयास करेगा?

यह प्रश्न इसलिये गलत है कि द्वेषयुक्त का श्रवण में अधिकार नहीं बल्कि दृश्यमात्र के प्रति उदासीन – राग द्वेष से वर्जित – पुरुष का ही श्रवणमें अधिकार है। अतः मुमुक्षु में पुरषांतर के अनर्थ की इच्छा असंभव है। किं च यदि अपने हित का वही एक उपाय हो तो भले ही वह दूसरों का भी हित करे, उसे संपन्न करने में प्रवृत्ति होती ही है: जलते मकान में शत्रु के साथ फसने पर 'शत्रु भी बचकर निकल जायेगा' ऐसा सोचकर कोई अपने भी निकलने का रास्ता न बनाये यह नहीं हुआ करता। (जो अपनी हानि करके भी दूसरें का अहित करे वह अतिनिकृष्ट आसुरी संपत् वाला होने से मोक्षमार्ग का पथिक ही नहीं है।

शुकादिमोक्षविचारे – i) तस्य ब्रह्मलोकलाभपक्षनिषेधः

नन्वेवं शुकादेर्मुक्तत्वादिदानीं संसारानुपलम्भप्रसङ्गः? इति।

अत्र केचित् – न हि शुकस्य परममुक्तिरासीत्, तस्य पुराण आदित्यादिमार्गश्रवणात्, न हि परममुक्तेर्मार्गोऽस्ति, 'अत्र ब्रह्म समश्नुत' इति (क. ६. १५) श्रुतेः; किन्तु ब्रह्मलोक एव। तत्रापि दुःखाभावेनोपचाराद् मुक्तिशब्दोपपत्तेः – इति।

नियम है कि जिस आश्रय में ज्ञान होगा उसी आश्रय में विद्यमान अज्ञान को वह हटायेगा अतः एक प्रमाता को हुआ ज्ञान दूसरे प्रमाताओं के अज्ञान को कैसे मिटायेगा?

जब अज्ञान की एकता स्थापित हो गयी तब यह प्रश्न ही निरर्थक हो गया। (प्रमातृभेद से अज्ञानभेद होता तभी यह शंका बनती। जब अज्ञानभेद है नहीं तब शंका ही गलत है। स्वप्नदृष्टांत से ये शंकायें सहज ही मिट जाती हैं।)

(पूर्व में (X के अंतर्गत) फलाभावनिश्चय से प्रवृत्त्यनुपपत्ति यह तृतीय (ग) विकल्प था। फलाभाव की संभावना इससे थी कि शुकादि का मोक्ष एकजीववाद में असंभव है। अतः उस विकल्प के निरासार्थ अब शुकादि के मोक्ष का विचार कर रहे हैं:)

उक्त प्रकार से यदि एकजीववाद सही हो तो शुकादि मुक्त हो चुकने के करण अब संसार उपलब्ध नहीं होना चाहिये। हो रहा है अतः या एकजीववाद गलत है और या शुकादि मुक्त नहीं हुये और जब उन जैसे ही मोक्ष से वंचित रह गये तो हम हीं श्रवणादि से क्या प्रयोजन सिद्ध कर पायेंगे!

इस प्रसंग में कुछ लोग कहते हैं: शुकदेव को कैवल्य मोक्ष नहीं मिला क्योंकि पुराण (महाभारतादि) में बताया गया है कि वे (उत्तरायणादि) मार्ग से आदित्यलोक को प्राप्त हुये जबकि कैवल्य में कोई मार्ग होता नहीं क्योंकि श्रुति ने कहा है कि यहीं ब्रह्मरूपता पा जाता है। शुकदेव को ब्रह्मलोक ही प्राप्त हुआ है। वहाँ भी दुःख न होने से उसे गौणी वृत्ति से मोक्ष कह देते हैं।

किंतु यह मत गलत है। शुकदेव को आत्मसाक्षात्कार हुआ यह भी शास्त्रोक्त है और यह मान लेने पर उनका मार्गविशेष से गमन और लोकविशेष में भोग मानना असंगत है। यह क्यों न मान लें कि पहले मार्ग से वहाँ पहुँचे

तन्न। तस्यात्मसाक्षात्काराभ्युपगमे मार्गभोगयोरयोगात्। तत्र गमनानन्तरोत्पन्नसाक्षात्कारेण जीवन्मुक्तस्य भोग इति चेत्? तर्हि अज्ञानावरणस्य नष्टत्वेन तस्येवान्यस्यापि ब्रह्मतत्त्वावरणाऽयोगात्। अत एव वामदेवादयोऽपि इहैव जीवन्मुक्ता एव तिष्ठन्तीति प्रत्युक्तम्।

ii) तत्र भर्तृप्रपंचकल्पनाविधूननम्

अपरे तु विदुषो भोगमसहमाना इत्थं कल्पयन्ति–शुकादिः किलोत्पन्नसाक्षात्कारत्वादत्यन्तं निवृत्तकामकर्माशयः केवलाविद्याप्रतिबिम्बात्मनावतिष्ठते। कारणे सत्यपि कार्यनिवृत्तेर्दर्शनाद्। दर्शनानुसारेण चरमजीवज्ञानस्यैवाऽविद्यानिवर्तकत्वात्। तस्यां चावस्थायां दुःखाभावात्

और बाद में साक्षात्कार हुआ तथा जीवन्मुक्तावस्था में भोग कर रहे हैं? ऐसा मानने पर भी साक्षात्कार से अज्ञानरूप आवरण तो नष्ट मानना ही पड़ेगा तो जैसे शुकदेव के लिये ब्रह्मतत्त्व ढका नहीं है ऐसे किसी के लिये भी ढका नहीं रहना चाहिये। अत एव वामदेवादि यहीं जीवन्मुक्त हुये विद्यमान हैं (या रहे थे) यह भी नहीं माना जा सकता।

अन्यों को यह सहन नहीं होता कि तत्त्ववेत्ता प्रारब्ध का उपभोग कर सकता है अतः वे ऐसी कल्पना करते हैं:

शुकादि को तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो गया जिससे उनके काम-कर्म का आशय, आश्रयभूत लिंगशरीर (और स्थूल देह भी) तो निवृत्त हो गया लेकिन सिर्फ अविद्या बच गयी जिसमें प्रतिबिम्बरूप से वे विद्यमान हैं। कारण (अविद्या) रह जाने पर भी कार्य (काम-कर्मादि) निवृत्त होता देखा जाता है (अतः उनका जन्मान्तर नहीं हो रहा)। क्योंकि अभी अविद्या हमें भास रही है इसलिये मानना चाहिये कि आखिरी जीव का ज्ञान ही अविद्या को निवृत्त करेगा। शुकादि की जो पूर्वोक्त अवस्था है उसमें दुःख न होने से वह मोक्ष है क्योंकि श्रुति ने कहा है कि आत्मज्ञानी को शोक नहीं होता, किन्तु अविद्यारूप व्यवधान बचा रहने से वह ब्रह्मभावरूप मोक्ष नहीं, वह तो चरमजीव के साक्षात्कार के बाद ही हो सकेगा। कामना,कर्म शरीरादि का आत्यंतिक नाश हो जाने से वह अवस्था सुषुप्ति से विलक्षण है।

तरति शोकमात्मवित्' (छा. ७. १) इति श्रुतिप्रतिपन्ना मुक्तिः अविद्याव्यवधानसत्त्वाद् न ब्रह्मभावरूपा। कामकर्मशरीरादेश्च आत्यन्तिकविनाशात् सुषुप्तेर्विशेषः–इति।

तन्न। क्व शिक्षितेयमन्तरालावस्था 'निवृत्तकामकर्मापि द्वैतोपासनतः पुमान्। अद्वैतोपास्तिविरहाद् अज्ञो नैति परं पदम्॥' इति या भर्तृप्रपञ्चैरुत्प्रेक्षिता? अविद्यासमानविषयज्ञानाभ्युपगमे तन्निवृत्तेरावश्यकत्वाच्चरमज्ञानत्वेनाऽहेतुत्वात्। न चेदानीं प्रतिबन्धादनिवृत्तिः; ज्ञानसमानाधिकरणस्य तस्याऽभावात्, व्यधिकरणस्य चाप्रतिबन्धकत्वात्; 'ब्रह्म वेद' (मुं. ३. २. ९) इति ब्रह्मप्राप्तिलक्षणमुक्तेरपि ज्ञानसमानकालत्वश्रवणात्। कारणे सति कार्यस्य आत्यन्तिकनिवृत्त्यनुपपत्तेः। एवंविधाविद्यायां प्रमाणाभावाच्च।

यह कल्पना अनुचित है। यह बीच की स्थिति कहाँ प्रतिपादित है? इसमें श्रुतिप्रमाण नहीं है। यह तो भर्तृप्रपंच की मनगढन्त व्यवस्था है कि सविशेष हिरण्यगर्भोपासना से कामना-कर्म से रहित हो जाने पर भी अद्वैत-उपासना न की होने से व्यक्ति अज्ञान का साथ नहीं छोड़ पाता और परम पद से वंचित रहता है। जब मान लिया कि जिस विषय का अज्ञान है उस विषय का ज्ञान हो गया तब यह आवश्यक हो जाता है कि वह अज्ञान समाप्त हो जाये। यह कहना कि चरमजीवका ज्ञान या जीवका चरमज्ञान (अंतिम ज्ञान) ही अविद्यानिवर्तक है, प्रमाणरहित है। यह भी नहीं कि अब प्रतिबंधकवशाद् अज्ञान निवृत्त नहीं हो रहा क्योंकि जहाँ ज्ञान है वहाँ प्रतिबंधक नहीं अन्यथा ज्ञान पैदा ही न होता, और अन्यत्र प्रतिबंधक होने पर भी ज्ञान को अविद्या हटाने से रोक नहीं सकता। 'ब्रह्म जानता है तो ब्रह्म होता है' यह श्रुति ज्ञान होते ही ब्रह्मप्राप्ति रूप मोक्ष का लाभ कहती है अतः शोकहानिलक्षण मोक्ष हो गया ब्रह्मरूप मोक्ष बाद में होगा यों ज्ञान का विरम्य व्यापार मानना श्रुतिविरुद्ध है। यह जो कहा कि कामनादि की आत्यंतिक निवृत्ति हो जाने से सुषुप्तिवैलक्षण्य है वह भी गलत है क्योंकि जब तक कारणरूप अविद्या है तब तक कार्यरूप कामनादि की आत्यंतिक निवृत्ति असंगत है। अपरोक्ष निश्चय होने पर भी न हटने वाली अविद्या अप्रामाणिक – अननुभूत – भी है।

iii) अज्ञानांशनिवृत्त्योपपत्तिस्तत्र दोषश्च

अन्ये तु तत्त्वसाक्षात्कारादविद्यानिवृत्तिर्न इत्यसङ्गतमिति मन्वाना इत्थं कल्पयन्ति – यदन्तःकरणे साक्षात्कार उत्पद्यते तदन्तःकरणोपहितसाक्षिणं प्रति ब्रह्मस्वरूपावरणतदन्तःकरणादिविक्षेपशक्तिमदज्ञानांशो निवर्तते। अनिर्वचनीयाज्ञानेंऽशकल्पनोपपत्तेः। ततश्च तदन्तःकरणोपहितसाक्षिणो ब्रह्मभावः संसारनिवृत्तिश्चोपपद्यते। पुरुषान्तरेऽविद्यादर्शनं च – इति।

वार्तमेतत्। अज्ञानानुभवस्य सर्वपुरुषनिष्ठस्य एकाऽज्ञानतदावरणविषयतयाऽऽवरणशक्तिभेदे प्रमाणाभावात्। तस्याश्च एकज्ञानाद् निवृतौ अन्येषामावरणतदनुभवायोगात्, अनिवृत्तौ च पूर्वस्य ब्रह्माभेदाऽयोगात्। अखण्डाज्ञानप्रतिबिम्बात् तदवयवप्रतिबिम्बस्य अन्यत्वेन अनेकजीववादप्रसङ्गाच्च।

कुछ विचारक मानते हैं कि तत्त्वसाक्षात्कार होने पर अविद्यानिवृत्ति न होना अनुचित है अतः यों प्रक्रिया रचते हैं – जिस अंतःकरण में साक्षात्कार उत्पन्न होता है उस अंतःकरण से उपलक्षित साक्षी के लिये अज्ञान का वह अंश नष्ट हो जाता है जो अब तक उसके लिये ब्रह्मस्वरूप का आवरण किये हुये था और जिसमें उस अन्तःकरणादि विक्षेप की सामर्थ्य थी। अनिर्वचनीय अज्ञान हिस्से वाला माना जाये तो भी हानि नहीं। इसलिये उस अन्तःकरण से उपहित साक्षी ब्रह्मभाव पा जाता है, उसका संसरण निवृत्त हो जाता है। उससे अन्य लोगों के लिये अविद्या बनी भी रहे यह भी संगत हो जाता है क्योंकि सब अपने-अपने हिस्से की अविद्या का अनुभव करते हैं।

यह व्यवस्था निःसार है। सब प्रमाताओं को होने वाला अज्ञानानुभव एक अज्ञान और उसके आवरकत्वको विषय करे तब भी कोई अनुपपत्ति नहीं अतः विभिन्न आवरणशक्तियाँ मानने में कोई प्रमाण नहीं। वह आवरण शक्ति एक ज्ञान से ही निवृत्त हो जायेगी तो दूसरों को आवरण का अनुभव होना कैसे संगत है? और यदि ज्ञान से न हटे तो जिसे साक्षात्कार हो गया उसका भी ब्रह्म से अभेदरूप मोक्ष नहीं हो सकता। अखण्डाज्ञान में–पूरे अज्ञान में–जो प्रतिबिम्ब है उससे अज्ञानांशों में पड़े प्रतिबिम्ब यदि अलग हैं तब तो यह अनेकजीववाद ही हो गया!

iv) सिद्धांताभिप्रायाविष्करणम्

अस्मदीयास्तु केचिद् – मुक्तदृष्ट्या कोऽपि भेदो न विषयीक्रियत इत्येको जीवः, एकमुक्त्या सर्वमुक्तिरित्यस्याभिप्रायः – इत्याहुः। तच्चाविद्यकनानाजीववादाद् न विशिष्यते।

कथं तर्हि शुकादिमुक्त्यनन्तरमपि संसारोपलब्धिरिति चेद्? न। शुकादिमुक्तिसद्भावे प्रमाणाभावात्! प्रपञ्चोपलम्भविरोधेनार्थवादमात्रात् तदसिद्धेः। न चान्यत् तत्सत्त्वे प्रमाणमस्ति।

v) शुकादिमोक्षेऽविरुद्धं मतान्तरम्

अस्तु वा शुकादिरपि व्यासशङ्करभगवत्पादादिवद् विष्णोरेवांशावतारः, शुकवामदेवादेः गर्भ एव ज्ञानैश्वर्यादिश्रवणात्। तेषां श्रवणादिव्यापारस्तु श्रीकृष्णादेरिव गुरुकुलवासोप्यन्यथोपपद्यते, इति नैतावता तेषु बंधः कल्पयितुं शक्यते।

कुछ अद्वैताचार्य कहते हैं कि मुक्त किसी भेदको विषय करता नहीं अतः एक ही जीव है, एक के मोक्ष से ही बद्धरूप से समझे जा रहे सभी मुक्त हो जाते हैं। (बद्धों को भेद प्रतीत होता है किन्तु वे अज्ञ होने से उनका अनुभव प्रामाणिक नहीं। अज्ञानरहित का ही अनुभव श्रद्धेय होता है। निवृत्ताविद्यको भेद सत्य हुआ दीखता नहीं। बद्धावस्था में बहुतेरे बद्ध प्रतीत भले ही हों, मुक्तावस्था में जब कोई भिन्न ही नहीं तो परिशिष्ट बद्ध कहाँ रहेंगे! अतः एकजीववाद ही सिद्धांतकोटि है।) यह व्याख्या आविद्यक नानाजीववाद से हटकर नहीं है, उसी वाद को कहने का एक ढंग है।

तब शुकादि के मोक्ष के बाद भी हमें संसार कैसे दीख रहा है? यह प्रश्न व्यर्थ है। शुकादि मुक्त हुए इसमें कोई प्रमाण नहीं है! प्रपंच की उपलब्धि है जो शुकादि को मोक्ष प्राप्त हुआ होता तो हो नहीं सकती अतः प्रत्यक्षकी अन्यथानुपपत्ति से बाधित शुकादिमोक्षबोधक श्रुति अभूतार्थवाद ही है। शास्त्रवचन से अन्य कोई प्रमाण शुकादिमोक्ष में है नहीं।

या मान सकते हैं कि व्यास जी, भाष्यकार श्री शंकराचार्य भगवान् आदि की तरह शुकादि भी ईश्वर के ही अंशावतार थे क्योंकि यह शास्त्रप्रसिद्ध है कि शुक, वामदेवादि को गर्भ में ही ज्ञान हो गया, उनका महान् ऐश्वर्य था इत्यादि

vi) हिरण्यगर्भो न तत्त्ववित्

हिरण्यगर्भस्तु कर्मफलत्वाज्जीवः, सर्वज्ञोऽपि सृष्टौ सर्वज्ञः, न तत्त्ववित्, तत्र मानाभावात्। अशनायादिश्रवणाच्च। 'स हायमीक्षां चक्रे' (बृ. १. ४. ४) इत्येतत्तु विवेकमात्रतयाप्युपपद्यत इत्यतो नेदानीं प्रपंचानुभवविरोधः।

vii) मुमुक्षुमोक्षोपपत्तिः

यत्तु – हिरण्यगर्भस्यापि दुर्लभं ज्ञानमर्वाचीनानां भविष्यतीति का प्रत्याशा? – इति; तन्न। निरतिशयकर्मफलभोगाशावशीकृतस्य नानाविधसृष्टिव्यापारविक्षिप्तचित्तस्य ज्ञानाभावेऽपि, विरक्तस्य शान्तिदान्त्यादिसम्पन्नस्य ज्ञाने बाधकाभावात्। न ह्यन्धो रूपं न पश्यतीति चक्षुष्मतः सुन्दरदिदृक्षा न भवेत्! तव वाऽनादिपरम्परायाम् अमुक्तस्य

जबकि संसारी को गर्भ में तत्त्वज्ञान होना मुमकिन नहीं। जो तो यह कहा है कि उन्होंने भी श्रवणादि किया वह उसी तरह समझना चाहिये जैसे नित्य सर्वज्ञ श्रीकृष्ण ने सान्दीपनीके आश्रम में विद्यार्जन किया। यह लीला अन्यथा अर्थात् लोकसंग्रह प्रयोजन वाली होने से ही उपपन्न है अत: इसके (श्रवणादि करने के) कारण उन्हें बद्ध नहीं मान सकते।

अश्वमेध आदि उपासना सहकृत कर्म के फलस्वरूप हिरण्यगर्भ बना हुआ तो जीव ही है। वह सर्वज्ञ है लेकिन उसकी सर्वज्ञता सृष्टिविषयक ही है, ब्रह्मतत्त्व के बारे में नहीं क्योंकि ऐसा होने में कोई प्रमाण नहीं बल्कि उसे भूख आदि वाला कहकर वेद ने उसे बद्ध दर्शाया है। 'उसने सोचा' आदि तो इतना बताकर भी गतार्थ माना जा सकता है कि वह विवेकशील है। अत: तत्त्व-साक्षात्कार हुआ यह मानना अनावश्यक होने से उपलभ्यमान प्रपंच संगत है।

हिरण्यगर्भ को ही जो ज्ञान दुर्लभ रहा वह हमें मिलेगा इसकी क्या आशा?– यह प्रश्न गलत है। सर्वश्रेष्ठ कर्म के फल के भोग की आशा से परवश

इदानीं कथं मुमुक्षा? न ह्यनादिपूर्वजन्मसु त्वमतिप्राकृत एव, इदानीम् एधमानजातिशीलैश्वर्यस्याऽऽकस्मिकत्वप्रसङ्गात्। अज्ञस्य विवेकवैराग्यादिसम्पन्नस्य तत्त्वज्ञानान्मोक्ष इति शास्त्रप्रामाण्यविश्वासात्तवेदानीं मुमुक्षा, साऽन्यत्रापि समाना।

viii) गुरुशिष्यव्यवस्थायां परोक्षज्ञानी गुरुः

नन्वेवं गुरोर्विद्यया निखिलमुक्तौ शिष्यो न विद्यार्थं यतेत। न चाज्ञानाद्गुरोः कश्चिद्विद्यां प्रार्थयत इति चेत्?

मैवम्; परोक्षादपि ज्ञानादुपदेशादिसम्भवात्। तत्त्वनिर्णयः खलूपदेशेऽपेक्ष्यते, न तु साक्षात्कारोऽपि, धर्मादेरनुपदेशप्रसङ्गात्।

हुए तथा विविध सृष्टियों के व्यापारों में संलग्न चित्त वाले हिरण्यगर्भ को ज्ञान न हो सकने पर भी वैराग्यवान्, शमदमादि साधनों से संपन्न को ज्ञान होने में रुकावट नहीं। अन्धे को रूप नहीं दीखता तो क्या आँखों वाला भी भगवान् सुन्देश्वर के दर्शन की इच्छा छोड़ दे?

आखिर अनादि काल से तुम भी (वादी भी; नानाजीववादी भी) संसार मे प्रवहित हो रहे हो, इतने कल्पों में मोक्ष नहीं पा सके तो अब किस बल पर मोक्ष की आशा बाँध रहे हो? ऐसा तो है नहीं कि अब तक तुम सर्वथा जंगली प्राणी थे इसलिये मुक्त नहीं हो सके क्योंकि अब तो तुम्हारा उत्तम वर्ण, शील, ऐश्वर्यादि है वह निर्हेतुक तो है नहीं अत: तदनुकूल कर्म करने के योग्य अच्छे ही वर्णादि वाले तुम पहले भी कभी न कभी रहे ही होगे। अत: यही कहोगे कि अज्ञानी भी विवेक वैराग्यादि से सम्पन्न हो तत्त्वज्ञान से मोक्ष पाता है इस शास्त्रवचन के प्रमाण्य में विश्वास से तुम अब मोक्ष की आशा रख रहे हो। यह बात एकजीववादी प्रमाता भी कह ही सकता है।

यदि एकजीव ही है तो गुरु के साक्षात्कार से सभी प्रमाता मुक्त हो जाने से शिष्य विद्या के लिये प्रयत्न क्यों करेगा? अज्ञानी गुरु से तो कोई विद्या की आशा रखेगा नहीं अत: विज्ञानी गुरु चाहिये ही। तब गुरुशिष्यभाव पर आश्रित विद्या कैसे संभव है?

एकजीववाद में गुरुशिष्यभाव असंभव नहीं है। परोक्षज्ञान के बल पर भी उपदेश संभव है। उपदेश के लिये वास्तविकता का निर्णय चाहिये न कि

ब्रह्मनिष्ठता च परोक्षज्ञानिनोऽपि कृतसन्न्यासस्य तदेकव्यापारतारूपा संभवति। 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन' इत्यत्राऽपि (गी. ४. ३४) ज्ञानं युक्त्याद्युपकरणविषयं, तत्त्वदर्शनं तु ब्रह्मनिर्णय इति न ततोप्युपदेष्टुरपरोक्षज्ञानापेक्षा। एतच्च शिष्यो जानन्नपि अप्रतिबद्धापरोक्षज्ञानं स्वयं सम्पादयिष्यामीति आचार्यमुपसर्पति। गुरुरपि एकजीवत्वं जानन्नपि स्वस्मिन्नपरोक्षज्ञानाभावदर्शनात् तदर्थं मुख्यमधिकारिणं प्राप्योपदिशतीति न कोऽपि दोषः।

एतेन फलाभावनिश्चयादिति पक्षोऽपि निरस्तः।

साक्षात्कार, अन्यथा जिनका साक्षात्कार साधारण अध्यापकों को संभव नहीं ऐसे धर्मादि का उपदेश ही असंभव हो जायेगा। 'ब्रह्मनिष्ठम्' श्रुति ने जो ब्रह्मनिष्ठा कही है वह तच्चिन्तनादि एकपरतारूप भी संभव है जो परोक्षज्ञानी सर्वकर्मसंन्यासी कर ही सकता है। 'तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुम्हें उपदेश देंगे' यह गीतावचन भी गुरु में जिस ज्ञान को कह रहा है-वह समझाने के उपकरणरूप युक्ति आदि के बारे में जानकारी रूप है और तत्त्वदर्शन है ब्रह्म के बारे में परोक्ष निर्णय। अत: इस गीता से भी उपदेष्टा अपरोक्ष ज्ञानी हो यह नियम नहीं सिद्ध होता। शिष्य भी समझता है कि गुरु परोक्ष ज्ञानी है लेकिन उसे उत्साह है कि मैं अप्रतिबद्ध अपरोक्ष ज्ञान पा लूँगा इसलिये आचार्य की उपसत्ति करता है। गुरु भी एकजीवता समझते हैं अत: जब स्वयं में अपरोक्ष ज्ञान का अभाव देखते हैं तो अपरोक्ष ज्ञान की उपलब्धि के लिये योग्य अधिकारी पाकर उपदेश कर देते हैं (क्योंकि शिष्य आदि चाहे जिस प्रमाता को साक्षात्कार हो, मोक्ष तो प्रमातृमात्र का होना ही है)। इस प्रकार एकजीववाद मे सम्प्रदायपरंपरा में कोई अनुपपत्ति नहीं।

इसलिये जो यह शंका थी (एकजीववाद में X (ग) कि फलाभाव के निश्चय के कारण बहुतेरों की श्रवणादि में प्रवृत्ति नहीं होगी, उसका समाधान हो गया।)

कुछ लोग वर्णन करते हैं कि शिष्य ही अपनी अविद्या से तत्त्वज्ञानीरूप से गुरु की कल्पना कर लेता है, कोई तत्त्वविद् गुरु स्वतंत्र व्यक्ति नहीं हुआ करता। वह शिष्यकल्पित गुरु ही उसे उपदेश देता है।

ix) तत्रैव शिष्यकल्पितगुरुरितिपक्षन्यक्कारः

केचित्तु अनुत्पन्नतत्त्वज्ञान एव गुरुः शिष्येण तद्वत्त्वेन कल्पित इति शिष्याविद्याकल्पितो गुरुः शिष्यमुपदिशतीति वर्णयन्ति। तदन्यथाप्युपदेशोपपत्तेरयुक्तम्। एकजीवत्वं जानतः शिष्यस्य स्वस्मिन्नज्ञानानुभवविरोधेन तस्मिन् विद्याकल्पनाऽयोगात्। कल्पनेऽपि च वैयर्थ्यनिश्चयेन प्रवृत्त्ययोगात्। तद्वत्तयाऽपि कल्पितस्य गुरोः स्थाणुपुरुषवद् उपदेशायोगात्।

ननु स्वप्ने कल्पितो गुरुः मन्त्रमुपदिशति, तेन च फलमित्येवमादिकं दृश्यत इति चेत्? तत्राऽपि प्राक्तनजन्मानुभूतमन्त्रविशेषस्मरणम्, उपदेशस्तु भ्रममात्रम्। न चेह तथा संभवति।

किन्तु यह व्यवस्था असंगत है क्योंकि पूर्वोक्त रीति ज्यादा युक्तियुक्त है। जो शिष्य जानता है कि जीव एक है वह खुद में अज्ञान का अनुभव करते हुये अज्ञानविरोधी ज्ञान की कल्पना कर सके यह कैसे संभव है? (अर्थात् निश्चय पर्यंत ज्ञान गुरु में चाहिये, चाहे परोक्ष ही हो, किंतु निश्चय जितने ज्ञान की कल्पना की सामग्री शिष्यके पास नहीं बल्कि दृढ अज्ञान उस निश्चय का विरोधी है जो वैसी कल्पना होने नहीं देगा।) किं च शिष्यकल्पित ज्ञान गुरुमें रहते हुए शिष्यमें अविद्या बनी रहने पर शिष्य को निश्चय होगा कि मुझसे कल्पित विद्या मेरी अविद्या न मिटा सकने से व्यर्थ है अत: गुरूपसत्ति के लिये प्रवृत्त नहीं होगा। ज्ञानीरूप से कल्पित गुरु वैसे ही उपदेश में अक्षम रहेगा जैसे ठूँठ में कल्पित पुरुष कोई बात समझाने में समर्थ नहीं होता।

स्वप्न में कल्पित गुरु सफल उपदेश देता है तो प्रकृत मे वैसा क्यों नहीं होगा? स्वप्न में भी पूर्वजन्मादि में अनुभूत मंत्रादि का ही स्मरण होता है,' अभी उपदेश मिला' यह भ्रम से लगता है। प्रकृत में ब्रह्मतत्त्व पूर्व में अनुभूत न होने से स्मृति संभव नहीं।

या यह व्यवस्था श्रद्धेय है: शिष्य के पुण्य के कारण परमेश्वर ही ज्ञानी गुरु का शरीर ग्रहण कर उपदेश देते हैं। जाग्रत् में अपरोक्ष ज्ञानी ही ब्रह्मतत्त्वका सफल उपदेष्टा हो सकता है, परोक्ष ज्ञानी नहीं यह नियम स्वीकारना उचित है और शास्त्र ने भी बताया कि जिसे आचार्य मिले वही

x) गुरोरीश्वरावतारत्वपक्षः

अथवा तस्य पुण्यवशात् परमेश्वर एव तथा विग्रहं परिगृह्योपदिशतीति कल्प्यताम्। जाग्रत्यपरोक्षज्ञानिन एवोपदेश इति नियमे 'आचार्यवान्' (छा. ६. १४. २) इति शास्त्रानुरोधेन परमेश्वर एव विग्रहं परिगृह्योपदिशतीति स्त्रीशरीरेण कबन्ध आथर्वण इव शिष्यविश्वासास्पदं शरीरविशेषं परिगृह्य तच्छरीरेणोपदिशतीत्यनवद्यम्।

एकजीववादनिगमनम्

तस्मादेक एक एव जीवः।

प्रतिबिम्बवादे – i) प्रमाणोपन्यासः

स चाविद्योपाधिक इत्युक्तम्। औपाधिकभेदश्च

व्यक्ति जान सकता है, कोई प्रमाता ज्ञानी हो तो शिष्याज्ञान संभव न होने से जीवकोटि का ज्ञानी आचार्य उपलब्ध हो नहीं सकता और सर्वथा गुरु की अनुपलब्धि मानें तो 'आचार्यवान्' 'आचार्याद्ध वै' 'अभिगच्छेत्' आदि वचन अनर्थक होंगे अतः यही कल्पना ठीक है कि सदा निरविद्य ईश्वर ही देहविशेष से आरोपित तादात्म्य रखकर उपदेश दे देते हैं। जैसे कबन्ध आथर्वण ने स्त्रीशरीर द्वारा पतंजल काप्य को सूत्र-अन्तर्यामी का उपदेश दिया था यह शतपथ में (बृ. ३. ७. १) प्रसिद्ध है ऐसे ही शिष्य को विश्वास हो सके ऐसे किसी शरीर को ग्रहण कर (कम से कम उपदेशकाल में उस शरीर में आहार्य अभिमान कर) ईश्वर उपदेश करते हैं यह निर्दोष प्रक्रिया है। (सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह में (२५४) भी बताया है 'जन्मानेकशतैः सदादरयुजा भक्त्या समाराधितो भक्तैर्वैदिकलक्षणेन विधिना सन्तुष्ट ईशः स्वयम्। साक्षाच्छ्रीगुरुरूपमेत्य कृपया दृग्गोचरः सन् प्रभुस्तत्त्वं साधु विबोध्य तारयति तान् संसारदुःखार्णवात्॥')

इसलिये श्रुति-युक्ति संमत यही समझना ठीक है कि जब तक अविद्याप्रतीति है तब तक मिथ्याज्ञानवश कल्पित हुआ एक ही जीव है जो विभिन्न प्रमाताओं के रूप में संसारव्यवहार संपन्न करता प्रतीत हो रहा है।

पूर्वोपपादित जीव की निरूपक उपाधि अविद्या है यह बता चुके हैं। उपाधिप्रयुक्त जीव-ईश्वर-भेद उसी तरह है जैसे बिंबप्रतिबिम्बका आपसी भेद होता है न कि उस तरह जैसे घड़े से घिरे आकाश का बिना घिरे आकाश

बिम्बप्रतिबिम्बरूपेण, न त्ववच्छिन्नाऽनवच्छिन्नरूपेण। 'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्। उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा॥' (   ) 'एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्' (ब्रह्मबिं. १२) इत्यादिप्रतिबिम्बादित्यचन्द्रदृष्टान्तश्रुत्या दर्शितजीवभेदस्य घटाकाशकल्पत्वायोगात्।

ii) अवच्छेदपक्षे दोषः

अवच्छेदकस्यावच्छिन्नस्य वाऽभावविशिष्टत्वानवच्छिन्नत्वस्य अव्याप्यवृत्तितया तद्विशिष्टस्य सर्वगतत्वायोगात्। तथा च सर्वज्ञत्वा-

से भेद होता है। शास्त्र में कहा 'जैसे यह प्रकाशात्मक सूर्य एक रहते हुए ही विभिन्न जलराशियों में बहुत प्रकार से अनुगत होता हुआ रहता है जिससे उपाधिवश वह विभिन्न रूपों वाला कह दिया जाता है वैसे ही यह अज आत्मदेव क्षेत्रों में (शरीरों में अनुगत होकर अनेक बना उपलब्ध हो जाता है)।' 'प्राणियों का आत्मा एक ही है जो प्रतिप्राणि व्यवस्थित है। वह एकरूप रहते हुए ही बहुत दीखता है जैसे एक चंद्र जलराशियों में प्रतिफलित होकर बहुत दीखता है।' ये वचन जीवभेद को प्रतिबिम्बित सूर्य व चंद्र के उदाहरणों से व्यक्त कर रहे हैं अतः वैसा मानना जैसे घड़े से सीमित आकाश होता है, गलत होगा।

(अवच्छेदवाद में ईश्वर को ठीक से समझाया नहीं जा सकता क्योंकि ईश्वर को जीव से व्यावृत्तरूप वाला बताना जरूरी है, सिर्फ सर्वत्र अनुगत अखण्ड चैतन्य को ईश्वर कहना युक्त नहीं क्योंकि 'जो विज्ञान में रहता है' आदि श्रुति ईश्वर को जीव से अलग कर बता रही है और सर्वज्ञता अर्थात् विशेषेण सब जानकारी होना आदि विशेषतायें अखण्ड चैतन्य में समझाना मुश्किल है। घटादि दृष्टांत के अनुसार जब जीव से अलग हुये ईश्वरस्वरूप को उपपन्न करोगे तब) अनवच्छिन्नता का मतलब या कहोगे अवच्छेदकाभावविशिष्ट होना, या अवच्छिन्नाभावविशिष्ट होना; हर हालत में अनवच्छिन्नता व्यापक होकर नहीं रह सकेगी, अवच्छिन्न को छोड़कर ही रह पायेगी। अनवच्छिन्नता से विशिष्ट जो होगा वह जीवानुगत न होने से सर्वगत नहीं कहा जा सकेगा। एवं च सर्वज्ञतादि गुण वाले ब्रह्मका, सविशेषका, सबसे सम्बन्ध न होने के कारण वह न सबका नियामक हो सकता है और न सबका उपादान। इसलिये अवच्छेदवाद हेय है।

दिगुणकस्य ब्रह्मणः सर्वसम्बन्धाभावात् सर्वनियन्तृत्वसर्वोपादानत्वा-ऽसम्भवः। बिम्बत्वं तु लोके स्वरूपं व्याप्यैव दृष्टमिति न बिम्बब्रह्मणः सर्वगतत्वाद्यनुपपत्तिः।

iii) प्रतिबिम्बवादे जीवब्रह्मभेदप्राप्तिशङ्का

ननु – जीवस्य प्रतिबिम्बत्वे ब्रह्मणो भेदप्रसङ्गः? लोके हि बिम्ब-प्रतिबिम्बयोः 'इमौ चैत्र-तत्प्रतिबिम्बौ' इति भेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्; स्वाभिमुखत्वादिविरुद्धधर्मैस्तदनुमानाच्च। न चाऽभेदे मानमस्ति। न च 'ममेदं मुखम्' इति ग्रीवास्थमुखाभेदानुभव इति वाच्यम्; 'दर्पणे मुखच्छायां पश्यामि' इत्यनुभवेन प्रत्यङ्मुखत्वदर्पणस्थत्वभेदाना-मनेकेषामनुभवेन च मुखत्वसंसर्गाभेदानुभवद्वयस्याप्रामाण्यकल्पनात्। अस्तु वा मुखान्तरं, न तदेव तद्।–इति।

लोक में बिम्बता तो स्वरूप को – मुखादिको – व्याप्त करके ही देखी गयी है जिससे बिंबेश्वरवाद में बिम्बस्थानीय ब्रह्म की सर्वव्यापकता आदि संगत रहते हैं। (यद्यपि मुखादि सांश पदार्थों का सर्वांशप्रतिबिंब नहीं पड़ सकता क्योंकि पिछले या अन्दरूनी हिस्सों का प्रतिबिम्ब न पड़ने से वे बिम्बता से रहित रह जाते हैं तथापि ये अंश मुक्तोपसृप्यस्थानीय मानने से संगति बन जाती है अथवा रूपादि नीरूप, निरंश वस्तुओं को दृष्टांत बनाने से उपपत्ति हो जाती है।)

शङ्का होती है कि जीव यदि प्रतिबिम्बस्थानीय हो तो उसे ब्रह्म से भिन्न समझना होगा। लोक में प्रतिबिम्बको बिम्ब से अलग ही समझा और बताया जाता है, चैत्र और उसके प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष ही अलग दीखते हैं। बिंब की अपेक्षा विपरीत दिशा की ओर मुख करना आदि विरुद्ध धर्मों से दोनों के भेद का अनुमान भी हो जाता है। उनके अभेद में कोई प्रमाण है भी नहीं। 'यह मेरा मुख है' यों भले ही अभेदानुभव कहा जा सके लेकिन 'दर्पण में मुँह की छाया देख रहा हूँ' यह भेदानुभव ही प्रबल होता है। उलटी ओर मुँह करना, दर्पण में स्थित होना आदि अनेक भेद अनुभव में आते हैं। अतः यही कल्पना होती है कि छाया में मुखत्वसम्बन्ध का अनुभव और अध्यस्तमुखत्वसंसृष्ट छाया के ग्रीवास्थमुख से अभेद का अनुभव अप्रमाण हैं। या यह भी माना जा सकता है कि प्रतिबिम्ब मुख की अपेक्षा पदार्थान्तर है (जो अनिर्वचनीय सर्प की तरह उत्पन्न होता है)। हर हालत में मुख ही तो प्रतिबिम्ब नहीं है।

iv) तत्समाधानम्

मैवम्। 'दर्पणे मुखं पश्यामि' इत्यनुभवेन तस्मिन् मुखत्वसंसर्गस्य 'ग्रीवास्थमेवेदम्' इति तस्मिन् ग्रीवास्थत्वतदाश्रयभेदयोः 'नास्ति दर्पणे मुखम्' इति तदभाववैशिष्ट्यस्य चानुभवेन त्वत्पक्षेप्यनेक-प्रत्ययाऽप्रामाण्यात्। एवं विजातीयानेकाकारदन्तकेशादिप्रत्ययानामप्रा-माण्यप्रसङ्गः। धर्मिकल्पनागौरवं च। अनेकदूरदेशस्थतया प्रतीयमान-नक्षत्राभ्रादिप्रतिबिम्बोत्पत्तिज्ञप्तिकारणाभावाच्च। तस्मात् स्पष्टदन्तादिना प्रसिद्धछायाविलक्षणत्वात् तच्छायारहितादित्यादेरपि प्रतिबिम्बदर्शनाच्च बिम्बचेष्टाधीनचेष्टतया छायाशब्दो गौणः।

उक्त शंका ठीक नहीं। 'दर्पण में मुख देख रहा हूँ' यों प्रतिबिम्ब में मुखत्वसंसर्ग अनुभूयमान है; 'यह वही है जो मेरी गर्दन पर है' यों दोनों का अभेद स्पष्ट अनुभूत होता है; 'दर्पण में कोई मुँह नहीं है' यों दर्पणस्थ मुख का अभाव भी अनुभव में आता है; शंकावादीके मतानुसार इन सब अनुभवों को अप्रामाणिक कहना पड़ेगा जो उचित नहीं। इसी तरह परस्पर विजातीय जो अनेक आकारों वाले दाँत, केश आदि पदार्थ उनके जो ज्ञान दर्पण में देखने से होते हैं उन्हें भी अप्रमाण मानना पड़ेगा (जबकि 'मैंने दाँत या बाल नहीं देखा' यों उनका बाध नहीं होता और न ही दाँतादि की जो जानकारी हुई वही गलत निकलती है)। किं च पदार्थान्तर मानने पर धर्म–धर्मी दोनों की कल्पना मानने से गौरव भी है। बहुत दूर स्थित रूप से प्रतीयमान नक्षत्र,बादल आदि के प्रतिबिम्बों की उत्पत्ति और उनके ज्ञानकी कोई सामग्री भी नहीं है। दर्पण में अपने दाँत आदि स्पष्ट दीखते हैं जबकि छाया या परछाई में अवयवों की कोई स्पष्टता नहीं होती अतः प्रतिबिम्ब छाया नहीं है। किं च स्वयम्प्रकाश आदित्यादि की छाया होती भी नहीं फिर भी प्रतिबिम्ब उनका दर्पणादि में दीखता ही है इसलिये भी प्रतिबिम्ब छायारूप नहीं। उसे कभी छाया कह देते हैं वह इसलिये कि वह छाया की तरह बिम्बक्रिया का अनुसरण करता है, अर्थात् वह गौण प्रयोग है।

पूर्वदर्शित युक्ति से ही प्रतिबिम्ब को अन्य मुख भी नहीं मान सकते। इसलिये बिम्बमुख पर ही दर्पणस्थता, भिन्नता, विपरीत दिशा को मुँह करना आदि का आरोप कर 'दर्पण में मुख है' आदि अनुभव लौकिक जन कर लेता है।

v) अनिर्वचनीयमुखोत्पत्तिनिरासः

उक्तयुक्त्यैव न मुखान्तरमपि। इति बिम्बमुख एव दर्पणस्थत्वं, भिन्नत्वं, स्वाभिमुख्यं चारोप्य 'दर्पणे मुखम्' इत्याद्यनुभवति।

न च प्रतीत्यनुरोधेन दर्पणे शुक्तौ रजतवद् मुखान्तरमस्तु इति वाच्यम्; प्रतीतेरन्यथाप्युपपत्तेः। 'दर्पणे ग्रीवास्थमेव मुखं पश्यामि, नात्र मुखम्' इति संसर्गं प्रतिषिध्य प्रसिद्धमुखाभेदानुभवात्। अन्यथा नेदं रजतमितिवन्नेदं मुखमित्यनुभूयेत। न चैवं पार्श्वस्थमुखादिप्रतिबिम्बेऽधिष्ठानेन्द्रियसन्निकर्षाभावात् कथमपरोक्षभ्रम इति वाच्यम्; परावृत्तनायनरश्मिभिस्तदुपपत्तेः। दर्पणसंनिकर्षमात्रमेव कारणं, यन्निष्ठतया भ्रमः प्रतीयते तत्संसर्गस्य हेतुत्वादिति केचित्।

vi) प्रतिबिम्बवादोपसंहारः

तस्माल्लौकिकप्रतिबिम्बमिवाऽज्ञानेऽपि जीवप्रतिबिम्बं बिम्बाद् ब्रह्मणो न भिद्यत इति।

सीप में चाँदी की तरह दर्पण में बिम्ब से अन्य ही एक अध्यस्त मुख क्यों न मान लिया जाये जब प्रतीति भेदादि की होती ही है? इसलिये कि वह प्रतीति तो प्रकारान्तर से भी उपपन्न है और मुखान्तरोत्पत्ति मानने में गौरव है। 'दर्पण में कोई मुख नहीं; ग्रीवास्थ मुखको ही दर्पण में देख रहा हूँ' यों दर्पणमुखसम्बंध का निषेध कर प्रसिद्ध मुखसे अभेदेन अनुभव होता है (न कि सामने रजत की तरह 'वहाँ' मुख दीखता है)। यदि रजततुल्य होता तो 'यह रजत नहीं' की तरह 'यह मुख नहीं' यों बाधानुभूति होनी चाहिये थी।

अपने पीछे कोई खड़ा हो तो उसका प्रतिबिंब अपने सामने रखे दर्पण में दीख जाता है। वहाँ पीछे वाले के मुखादि से तो संनिकर्ष होता नहीं तो अपरोक्ष भ्रम कैसे हो जाता है? दर्पण पर पड़ी नयन की रश्मियाँ पलटकर पीछे वाले के मुख को विषय कर लेती हैं अतः अपरोक्ष भ्रम संगत है। कुछ लोग मानते हैं कि जिसमें स्थित रूप से भ्रम दीखे उसका संबंध ही भ्रमहेतु होता है अतः दर्पण का इंद्रियसंबंध ही वहाँ पर्याप्त कारण है। (इस तरह भी वह भ्रम संगत है। किन्तु यह मत ठीक नहीं यह ग्रंथकार ने दीपन में बताया है। सर्वथापि बिम्ब ही प्रतिबिम्ब होने से जीव-ब्रह्म में भेद होने की संभावना नहीं।)

अज्ञानवादे- i) लक्षणशङ्का

ननु-किमिदमज्ञानं नाम? क) न तावज्ज्ञानाभावो भ्रान्त्यादिकं वा। तस्य प्रतिबिम्बाद्युपाधित्वाऽयोगाद्, भ्रान्त्यादेरज्ञानजन्यत्वाच्च। ख) नापि ज्ञाननिवर्त्यं तत्; भ्रान्तिज्ञानस्याऽपि तथात्वात्। ग) न च अनादित्वे सति ज्ञाननिवर्त्यं तत्; प्रागभावेऽपि तत्सत्त्वात्। भावत्वेन विशेषणे चासंभवः, अनादिभावस्य आत्मवद् अनिवर्त्यत्वात्। अविद्यासम्बन्धादावतिव्याप्तेश्च।

ii) प्रमाणशङ्का

नापि तत्र प्रमाणं पश्यामः। न जानामीत्यनुभवस्य मतद्वय-

अतः लोकसिद्ध प्रतिबिम्बकी तरह अज्ञान में पड़ा जीवरूप प्रतिबिम्ब भी बिम्बभूत ब्रह्म से अलग नहीं है।

जीवोपाधि अज्ञान क्या चीज़ है? न इसका संगत लक्षण है, न इसमें प्रमाण है।

अज्ञान के संभावित लक्षण सदोष हैं: क)ज्ञानका अभाव अज्ञान है या भ्रान्त्यादि अज्ञान है - यह कहना गलत है। अभाव प्रतिबिम्बादि के लिये अनुकूल उपाधि नहीं बन सकता और भ्रांति आदि तो खुद अज्ञानजन्य हैं अतः अज्ञान नहीं हो सकते। ख) जो ज्ञान से हट सके वह अज्ञान है - यह भी कथन ठीक नहीं क्योंकि भ्रांतिज्ञान भी ज्ञान से हटता है जबकि वह अज्ञान नहीं। ग)अनादि होते हुये ज्ञान से हटने वाला हो वह अज्ञान है- यह भी असंगत है क्योंकि ज्ञानका प्रागभाव भी ऐसा ही है जबकि उसे वेदांती अज्ञान नहीं मानता। इसी लक्षण में हटने वाले का विशेषण दो कि वह भावरूप होना चाहिये तो असंभव दोष है क्योंकि अनादि भाव पदार्थ वैसे ही ज्ञाननिवर्त्य नहीं होता जैसे आत्मा। किंच अविद्यासम्बंध, जीवत्व आदि भावरूप अनादि पदार्थ ज्ञाननिवर्त्य हैं जिससे लक्षण अतिव्याप्त है।

अज्ञान में कोई प्रमाण भी समझ नहीं आता। 'नहीं जानता' यह अनुभव तो उस ज्ञानाभावरूप अज्ञान को विषय करने से भी संगत है जिसे दोनों वादी मानते हैं। यह अनुमान कुछ लोग दिखाते हैं: भ्रमका जो विषय नहीं उसे विषय करने वाला घटादि ज्ञान, अज्ञान को निवृत्त करता है, क्योंकि प्रमाणज्ञान है, जैसे भ्रम के विषय को विषय करने वाला ज्ञान। किन्तु यह अनुमान भी यही सिद्ध

सम्प्रतिपन्नाज्ञानविषयत्वेनोपपत्तेः। भ्रमाविषयविषयकघटादिज्ञानम् अज्ञाननिवर्तकं, प्रमाणज्ञानत्वाद्, भ्रमगोचरविषयज्ञानवद्—इति सिद्धान्ताभिमताज्ञानसिद्धिरिति चेद्? न; प्रागभावनिवृत्त्याऽर्थान्तरत्वात्। न च तदन्याज्ञाननिवर्तकमिति साध्यम्; दृष्टान्ते साध्याभावात्। भ्रान्तिज्ञानस्य जानामीत्यनुभवगोचरस्याज्ञानत्वाऽयोगात्।—इति।

iii) समाधाने—लक्षणनिरूपणम्

उच्यते। अनाद्युपादानत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानम्। निखिलप्रपञ्चोपादानं ब्रह्मगोचरमेवाज्ञानमिति नाऽव्याप्तिः। नाप्यसंभवः; अनादित्वेऽपि अभाववद् भावस्यापि निवृत्तौ बाधकाभावात्। न चैवमात्मनोऽपि

कर पाता है कि ज्ञान अपने प्रागभाव को निवृत्त करता है! अभीष्ट अज्ञान की निवर्तकता इससे सिद्ध नहीं होती। यदि साध्य बनाओ 'प्रागभाव से भिन्न अज्ञान को निवृत्त करता है' तो दृष्टांत साध्यविकल हो जायेगा क्योंकि वहाँ ऐसा कुछ प्रसिद्ध नहीं। भ्रांतिज्ञान तो अज्ञान कहा नहीं जा सकता क्योंकि उसका अनुभव 'जानता हूँ' यों होता है न कि 'नहीं जानता'; अत: भ्रांतिज्ञाननिवर्तकता से दृष्टान्तोपपत्ति संभव नहीं।

(इस प्रकार अज्ञान का लक्षण व प्रमाण क्या हैं?— यह शंका है।)

समाधान बताते हैं: जो अनादि उपादान होते हुए ज्ञान से निवृत्त होने वाला हो वह अज्ञान है। (अविद्यासम्बंधादि की व्यावृत्ति के लिये 'उपादान होते हुये' कहा। शुक्तिका आदि की व्यावृत्ति के लिये अनादि कहा।) ब्रह्मविषयक अज्ञान ही समस्त प्रपंचका उपादान है अत: अव्याप्ति नहीं। (घटादिका अज्ञान जो किसी भ्रमादि के प्रति उपादान न बन पाया हो उसमें अव्याप्तिकी शंका थी जिसे हटाया। घटादि ज्ञान से अज्ञान नहीं हटता सिर्फ तत्कृत उतना सा आवरण हटता है अत: घटज्ञानसे मोक्ष नहीं।) यह लक्षण असंभव भी नहीं क्योंकि अनादि अभावकी तरह अनादि भाव की भी निवृत्ति मानने में कोई विरोध नहीं। तब आत्मा क्यों निवृत्त नहीं होता? क्योंकि उसको निवृत्त करने में कोई समर्थ नहीं है! (अर्थात् भावत्व या अभावत्व अनित्यत्वका प्रयोजक नहीं।) अज्ञानकी निवृत्ति ज्ञान से होती है यह लौकिक अन्वय-व्यतिरेक से और श्रुति से सिद्ध है। ('तरति शोकमात्मवित्' आदि श्रुति, 'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः'

निवृत्तिप्रसङ्गः त्वत्पक्षेऽत्यन्ताभावस्यापि तत्प्रसङ्गात्। निवर्तकाभावादनिवृत्तिस्तु अस्मन्मतेऽपि समाना। अज्ञाने त्वन्वयव्यतिरेकसिद्धस्य श्रुतिसिद्धस्य च ज्ञानस्य सत्त्वात्। न चाज्ञानस्याप्यनादित्वे तव मिथ्यात्वानुपपत्तिः, मिथ्यावस्तुनो दोषजन्यत्वादिति वाच्यम्; कार्यमिथ्यावस्तुन एव तन्नियमात्।

iv) लक्षणान्तरम्

ज्ञानत्वेन स्वजन्यानपेक्षज्ञाननिवर्त्यं वाऽज्ञानम्। न चैवं परोक्षज्ञानादपि अविद्यानिवृत्तिप्रसङ्गः; अविद्याप्रयुक्तावरणलक्षणप्रतिबन्धकस्य अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् अपरोक्षवृत्तिनिवर्त्यतया तदभावदशायां तदयोगात्। न चैतावता ज्ञानत्वेन तस्य निवर्तकत्वं हीयते; प्रतिबंधकदशायां तृणाद्यदाहकस्यापि वह्नेस्तद्दाहकत्वानपायात्। न च संशयसाधारणज्ञानत्वं

आदि स्मृति यहाँ समझनी चाहिये।) अनादि है तो अज्ञान मिथ्या कैसे, दोषजन्य ही मिथ्या होता है? जो कार्य होते हुए मिथ्या हों वे ही दोषजन्य होना आवश्यक हैं, मिथ्यामात्र को नहीं।

अपने से जन्य की अपेक्षा के बिना जो ज्ञानरूप से ज्ञाननिवर्त्य हो वह अज्ञान है – यह भी लक्षण संगत है। (यहाँ ज्ञानरूप से जनकता विवक्षित है अत: साक्षात्काररूप वृत्ति की अपेक्षा होने पर भी असंभव नहीं है क्योंकि वह वृत्ति ज्ञानरूप ब्रह्म से जन्य होने पर भी ब्रह्म उसका ज्ञानत्वेन जनक नहीं। नाम-रूप आदि कार्यों की ज्ञान से निवृत्ति होती है लेकिन स्व (=ज्ञान) से जन्य जो अविद्यानिवृत्ति उसकी अपेक्षा से ही होती है, साक्षात् नहीं अत: स्वजन्यानपेक्ष कहा।)

तब परोक्ष ज्ञान से अविद्या क्यों नहीं हटती? अन्वयव्यतिरेक से निश्चित होता है कि अविद्या से प्रयुक्त जो आवरण कहलाने वाला प्रतिबंधक है वह अपरोक्षवृत्ति से हटता है अत: उस वृत्ति के बिना आवरण नहीं हट पाता (जिससे अविद्यानिवृत्ति प्रतिबद्ध हो जाती है अर्थात् प्रतिबंधक रूप आवरण रहते ज्ञान अविद्या नहीं हटा पाता।) इतनेमात्र से ज्ञानत्वेन निवर्तकता में कमी नहीं आ जाती। प्रतिबंधक रहते तिनका भी न जला सकने वाली आग भी रहती तो तिनके की दाहक अग्नि ही है। संशय भी ज्ञान ही है अत: ज्ञानमात्र

कथमविद्यानिवृत्तिप्रयोजकमिति वाच्यम्; निखिलवृत्त्यधिष्ठानतया ज्ञानात्मकचैतन्यस्यैकत्वात्। तस्य प्रतिबंधकाभावदशायामज्ञाननिवर्तकत्वात्। भ्रमादेर्ज्ञानानिवर्त्यत्वाच्च न तत्रातिव्याप्तिः। उत्पन्नभ्रमादिनिवृत्तेर्ज्ञानं विनाऽपि भावात्।

v) प्रमाणप्रदर्शनम्

नाऽपि तत्र प्रमाणाभावः, न जानामीत्यनुभवस्य सत्त्वात्। न तावद् मिथ्याज्ञानादिकं तस्य विषयः; तस्य अज्ञानान्वयव्यतिरेकानुविधायितया ततो भेदानुभवात्, यावद्विशेषज्ञानमनुभूयमानस्य मिथ्याज्ञानत्वानुपपत्तेश्च। ज्ञानं विनापि तस्य नाशात्। मिथ्याज्ञानस्याज्ञानत्वानधिकरणत्वाच्च न तद्गोचरत्वम्।

अविद्यानिवृत्ति का प्रयोजक कैसे? सभी वृत्तियों का अधिष्ठान होने से ज्ञानरूप चेतन एक है, प्रतिबंधक न रहने पर वही अज्ञाननिवर्तक है। (संशयदशा में प्रतिबंधक रहता है अत: अविद्यानिवृत्ति नहीं। सिद्धांत में तो संशय ज्ञान है ही नहीं, वृत्त्यन्तर है यह स्मर्तव्य है।) भ्रमादि ज्ञान से ही निवृत्त होते हों ऐसा नहीं अत: अतिव्याप्ति नहीं; बिना ज्ञान के भी जन्य भ्रमादि समाप्त हो जाते हैं। (साँप देख कर आगे चला जाये तो भी भ्रम रहता नहीं है।)

अज्ञान में प्रमाण न हो यह बात नहीं। 'नहीं जानता' यह अनुभव अज्ञान में प्रमाण है। इसका विषय मिथ्या ज्ञान अर्थात् भ्रम नहीं क्योंकि भ्रम अज्ञान रहते होता है, अज्ञान न रहने पर नहीं होता अत: अज्ञान से अलग है यह प्रसिद्ध है। जब तक विशेषज्ञान न हो तब तक अनुभव में आने से 'नहीं जानता' के विषयभूत अज्ञान को भ्रमरूप नहीं कह सकते (क्योंकि भ्रम तो विशेषज्ञान के बिना भी हट जाता है, कोई कह दे 'यह चाँदी नहीं' इतने से भी भ्रम हट जाता है लेकिन 'क्या है' यह पता न लगने तक अज्ञान बना रहता है)। भ्रम के बारे में 'नहीं जानता' न लगकर 'जानता हूँ' ही लगता है अत: भ्रम अज्ञान नहीं है। इसलिये 'नहीं जानता' अनुभव भ्रमको नहीं विषय करता, अज्ञान को विषय करता है।

'नहीं जानता' ज्ञानके अभाव को विषय नहीं करता। अत्यन्ताभाव को वह इसलिये विषय नहीं करता कि तार्किक ज्ञानाधिकरण आत्मा में उसे मानते ही नहीं अत: जब मुझ में ज्ञानात्यन्ताभाव है नहीं तो 'मुझमें अज्ञान है'

vi) 'न जानामी'त्यस्य नाभावो विषयः

नाऽपि ज्ञानाभावो विषयः। तत्र न तावदत्यन्ताभावस्तद्विषयः, परमते ज्ञानाधिकरणे तदभावात्। मन्मते चाऽसङ्गस्यात्मनोऽज्ञानं विना तत्सम्बन्धाभावात्। नापि ध्वंसः, अतीन्द्रियसंस्कारातिरिक्तध्वंसाभावात्, पूर्वं तत्र ज्ञानाभावाच्च। नाऽपि प्रागभावः, तस्य क्वाप्यभावात्। भविष्यतीत्यादिबुद्धेरन्यथाप्युपपन्नत्वेन प्रमाणाभावात्। एतच्चान्यत्रोपपादितम्। न चैतस्मादेवानुभवात् तत्कल्पनम्; लाघवेनैतस्यानुभवस्य भावविषयत्वस्योचितत्वात्। यद्विषये कदापि ज्ञानं न भविष्यति तत्रापि न जानामीत्यनुभवात्। तत्र च प्रागभावासंभवात्।

vii) अज्ञानं ज्ञानसामान्यविरोधि

किञ्च न जानामीति ज्ञानसामान्यविरोध्यनुभूयते। तद्विरुद्धं च यद्यभावात्मकं किञ्चिद्वक्तव्यं तर्हि तव सामान्याभाव एव वक्तव्यः,

से उसे कैसे कहें? वेदांतमत में असंग आत्मा में अज्ञान से अतिरिक्त ज्ञानाभव रहे यह अमान्य है। 'नहीं जानता' ज्ञानध्वंसविषयक अनुभव भी नहीं है क्योंकि अतींद्रिय जो संस्कार – सूक्ष्मरूप से बचा होना – उससे अन्य ध्वंस है नहीं, संस्कार प्रत्यक्षगोचर होता नहीं जबकि 'नहीं जानता' प्रत्यक्ष है अत: उसे विषय नहीं कर सकता। ज्ञान होने से पहले ध्वंस रहेगा नहीं लेकिन तब भी 'नहीं जानता' अनुभव होता ही है अत: वह ध्वंसविषयक नहीं। प्रागभाव उसका विषय हो यह संभव नहीं क्योंकि प्रागभाव पदार्थ तो कहीं भी नहीं हुआ करता। 'होगा' ('इस मिट्टी में घट बनेगा') आदि ज्ञान बिना प्रागभाव माने भी संगत है अत: प्रागभाव में प्रमाण नहीं। इस विषय को ग्रंथांतर में (प्रकृतग्रंथ की स्वोपज्ञ टीका दीपन में भी) समझाया गया है। 'नहीं जानता' इसी अनुभव से प्रागभाव सिद्ध हो यह भी संगत नहीं क्योंकि यह अनुभव भावरूप अज्ञान पदार्थ को विषय करे यही उपपन्न है। जिसके बारे में कभी भी ज्ञान नहीं होगा उसके बारे में भी 'नहीं जानता' यह अनुभव हो जाता है अत: यह प्रागभाव को विषय करे यह संभव नहीं क्योंकि वहाँ प्रागभाव है ही नहीं।

यदि 'नहीं जानता' अभावविषयक हो तो ज्ञानसामान्याभाव को ही इसका विषय कहना होगा क्योंकि ज्ञानसामान्यका विरोधी ही इस अनुभव से समझा

विशेषाभावानां प्रतियोगिसजातिसामानाधिकरण्यात्। न चाज्ञानानुभवकाले आत्मनि ज्ञानसामान्याभावानुभवोऽस्त; धर्मिप्रतियोगिज्ञानेन तस्य ततोऽपि व्यावर्तितत्वात्, स्वप्रकाशधर्मिप्रतियोगिज्ञानानुभवविरोधेन तदनुभवासम्भवाच्च। अस्मन्मतसिद्धाज्ञानं च ज्ञानसामान्यविरोधीति तदेव 'न जानामि' इत्यनुभवविषयः।

viii) तत्रानुमानम्

अनुमानमपि— घटध्वंसाऽजनकघटापरोक्षप्रमाणज्ञानं घटमहं न जानामीत्यनुभवविषयनिवर्तकम्, घटापरोक्षप्रमाणज्ञानत्वात्, घटध्वंसजनकप्रतियोगिघटप्रत्यक्षवत्। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां च प्रतियोगिप्रत्यक्षं

जाता है। विशेषाभाव तो प्रतियोगिजातीय से समानाधिकरण रहते हैं अतः ज्ञानसामान्य के विरोधी होते नहीं यह तुम्हे मान्य है। किंतु अज्ञानका जब अनुभव हो रहा है उस समय आत्मा में ज्ञानसामान्य का अभाव है नहीं क्योंकि अनुयोगीका तथा प्रतियोगीका ज्ञान बना रहता है, ज्ञान रहते ज्ञानसामान्याभाव हो नहीं सकता। 'मैं अपने को नहीं जानता' यहाँ धर्मी और प्रतियोगी स्वप्रकाश आत्मा हैं जिनका ज्ञान तो बना रहता है अतः ज्ञानसामान्याभाव होगा ही नहीं तो उसे उक्तानुभवका विषय कैसे कहा जाये? हम वेदांतियों के मत में प्रसिद्ध जो अज्ञान है वह ज्ञानसामान्य का प्रतिबंधक की तरह विरोध कर लेता है अतः उसे ही 'नहीं जानता' अनुभव का विषय मानना चाहिये। इसलिये यह प्रत्यक्षानुभव अज्ञान में प्रमाण है।

अज्ञान में अनुमान भी प्रमाण है: घटध्वंस का अनुत्पादक जो घटका अपरोक्ष प्रमाणभूत ज्ञान, वह 'मैं घटको नहीं जानता' इस अनुभव के विषय को समाप्त करता है, क्योंकि घट का अपरोक्ष प्रमाणभूत ज्ञान है, जैसे घटध्वंसका उत्पादक प्रतियोगिभूत घटका प्रत्यक्ष प्रमाण ज्ञान। अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध है कि ध्वंस के प्रति प्रतियोगिप्रत्यक्ष कारण होता है अतः दृष्टांत में साध्य मौजूद है। (क्योंकि वह ज्ञान घट को समाप्त करता है। पक्ष में 'मैं घट जान रहा हूँ' इससे घट निवृत्त होना नहीं यह पक्ष में दिये विशेषण से पता चलता है, 'मैं' अर्थात् आत्मा नित्य है अतः इससे हटना नहीं, अतः भावरूप अज्ञान ही इससे निवर्तनीय सिद्ध होता है।) उक्त पक्षभूत ज्ञान अपना प्रागभाव समाप्त

ध्वंसे कारणमिति न साध्यवैकल्यम्। न च प्रागभावनिवर्तकतयाऽर्थान्तरता; तस्य सत्त्वेऽपि ज्ञानस्य तन्निवृत्तिरूपतया तदनिवर्तकत्वात्। अत्र च निवर्तकत्वयोग्यता साध्येति न धारावाहिकद्वितीयादिप्रत्यक्षे बाधो व्यभिचारो वा। अथवा, स्वसामग्रीकाले स्वसमानाधिकरणज्ञानाविषयविषयत्वं पक्षस्य, जन्यसविकल्पकाजन्यत्वं च हेतोर्विशेषणम्।

ix) धारावाहिकनिरासः

वस्तुतस्तु धारावाहिकबुद्धिरेव नास्ति, प्रमाणाभावात्। एकस्यापि

करता है अतः तदतिरिक्त अज्ञान इससे कैसे सिद्ध हुआ? अव्वल तो प्रागभाव हुआ ही नहीं करता यह कह चुके हैं किन्तु हो तो भी उसकी निवृत्ति ही तो ज्ञान है अतः ज्ञान को उसका निवर्तक नहीं कह सकते। यहाँ साध्य में निवर्तकता की योग्यता विवक्षित है अतः धारावाहिक प्रत्यक्षों में द्वितीय आदि ज्ञानों में बाध या व्यभिचार की संभावना नहीं। (द्वितीय आदि प्रत्यक्ष साक्षात्कार होने से इस योग्य हैं कि अविद्याको निवृत्त करें लेकिन उनके समान विषय का अज्ञान है नहीं—क्योंकि पहले ज्ञान ने ही उसे हटा दिया है—इसलिये वे निवृत्त करते नहीं। इससे उन ज्ञानों में बाध की संभावना प्राप्त थी। या धारास्थलीय द्वितीयादि को पक्षमें रखा ही न जाये तो व्यभिचार भी संभव नहीं।)

अथवा पक्ष के लिये यह विशेषण भी जोड़ना चाहिये कि 'स्व' की (घटापरोक्ष प्रमाकी) सामग्री रहते 'स्व' के ही अधिकरण (देवदत्तादि) में रहने वाले ज्ञान के अविषय को विषय करने वाला (जो 'स्व' अर्थात् घटध्वंसाजनक घटापरोक्ष प्रमा)। इससे धारावाहिक ज्ञान व्यावृत्त हो गये क्योंकि वे पूर्वज्ञानके विषय को ही विषय करते हैं। हेतु में भी विशेषण देना चाहिये – जन्य जो सविकल्पक उससे अजन्य (घटापरोक्ष प्रमा होने के कारण)। सविकल्पकका विशेषण 'जन्य' इसलिये कि तार्किक सभी को ईश्वरज्ञान से जन्य मानता है, यदि 'जन्य' न कहें तो कोई ज्ञान मिलेगा ही नहीं क्योंकि ईश्वरज्ञान से सभी जन्य होंगे। पक्ष निर्विकल्पक से जन्य है अतः सविकल्पकाजन्य कहा। धारा के द्वितीयादि ज्ञान तो प्रमादिसे जन्य हैं अतः उनकी व्यावृत्ति हो गयी।

वास्तविकता तो यह है कि धारावाहिक ज्ञान होते ही नहीं क्योंकि उनके होने में कोई प्रमाण नहीं। जैसे विनाशहेतु न होने पर घड़ा बना रहता है

ज्ञानस्य यावद्विनाशकसमवधानं घटादिवत् स्थित्युपपत्तेः। न च द्वितीयादिज्ञानसामग्र्यां सत्यां तत् केन वारणीयमिति वाच्यम्; प्रथमज्ञानसामग्रीव्यतिरिक्तसामग्र्या अभावात्। तस्याः कार्यद्वयाजनकत्वात्, प्रागभावाऽभावेन तद्घटितसामग्रीभेदाऽभावात्। भावे वा प्रथमज्ञानसमय एव द्वितीयादेरुत्पत्तिः केन वारणीया? न च द्वितीयादिज्ञाने प्रथमादिज्ञानमपि कारणम्। विशेषणविधया कारणं चेत्, तदपि प्रागस्त्येवेति किं तेन? प्रथमज्ञानत्वेन कारणत्वे न किंचित् प्रमाणम्। ज्ञानक्रमसिद्धेः पूर्वं प्राथम्याद्यसिद्धेश्च। ततश्च सामग्रीभेदाभावादेकैवेति न पक्षहेत्वोर्विशेषणम्। न वाऽप्रयोजकत्वम्; घटज्ञानेनाज्ञानं निवृत्तमित्यनुभवस्य विना बाधमप्रामाण्याऽयोगात्।

ऐसे एक ही ज्ञान तब तक बना रहता है जब तक उसे नष्ट करने की सामग्री कार्योन्मुख न हो। यदि धारापतित द्वितीयादि ज्ञानों की उत्पादिका सामग्री उपस्थित है तो वे उत्पन्न क्यों नहीं होंगे? इसलिये कि प्रथम ज्ञान की जो सामग्री है उससे विलक्षण कोई सामग्री द्वितीयादि ज्ञानों की है ही नहीं। और वह सामग्री दो कार्य–प्रथम तथा द्वितीयादि ज्ञान–उत्पन्न नहीं कर सकती। प्रागभावको सामग्री में गिनकर तत्तत् ज्ञानों का सामग्रीभेद नहीं दिखाया जा सकता क्योंकि प्रागभाव ही असिद्ध किया जा चुका है। यदि मान लें तो भी प्रथम ज्ञान की उत्पत्ति के समय ही सारी सामग्री रहते द्वितीयादि सब ज्ञान क्यों उत्पन्न नहीं हो जाते? यदि कहो कि द्वितीयादि के प्रति प्रथमादि ज्ञान भी कारण हैं इसलिये प्रथम के जन्मकाल में द्वितीयादि के जन्म की प्रसक्ति नहीं तो भी बताओ कि प्रथम ज्ञान द्वितीय ज्ञान के प्रति कारण कैसे हैं? द्वितीय ज्ञान विशिष्ट ज्ञान होने से उसके प्रति विशेषणज्ञान कारण होगा अतः विशेषणज्ञान रूप से प्रथम ज्ञान द्वितीय के प्रति कारण हो, यह संभव नहीं क्योंकि प्रथम ज्ञान भी विशिष्ट ज्ञान ही है अतः उसके प्रति जो कारण पड़ा वही द्वितीयादि को भी पैदा कर सकता है, प्रथमादि की उस तरह जरूरत क्यों पड़ने लगी? पहला ज्ञान होने मात्र से अर्थात् इसी रूप से वह कारण हो इसमें कोई प्रमाण नहीं। किं च द्वितीय के प्रति प्राथम्येन हेतु होने के लिये जो प्रथमता चाहिये वह तभी सिद्ध होगी तब क्रम की अर्थात् द्वितीयादि की सिद्धि हो क्योंकि द्वितीयकी अपेक्षा से ही पहला कहा जा सकता है अतः अन्योन्याश्रय स्पष्ट है। इसलिये द्वितीयादि की कोई विलक्षण सामग्री न होने से एक ही ज्ञान यथासंभव

x) मूलाज्ञाने प्रयोगः

मूलाज्ञाने तु प्रयुज्यते – सर्गाद्यकालीनं कार्यं जडोपादानम्, कार्यत्वाद्, घटवत्। तच्च लाघवादेकमिति, अनादि एकं भावरूपं जडोपादानं सिद्ध्यति, तदेवाज्ञानं तदन्यस्मिन् प्रमाणाभावात्।

अनादिभावत्वं, ज्ञाननिवर्त्यवृत्ति, जडवृत्तित्वात्, घटत्वादिवद्–इति वा पराभ्युपेतजडोपादाननिवृत्तिः।

xi) अध्यासानुपपत्तिरज्ञाने मानम्

अध्यासानुपपत्तिरपि तत्र प्रमाणम्। तथा हि – शुक्तिकाद्यज्ञानं रजताद्युपादानं, तस्मिन् सत्येव तद्दर्शनात्। न च अज्ञानम्

स्थायी रह सकता है जिससे धारावाहिककी व्यावृत्ति के लिये पक्ष तथा हेतु में विशेषणनिवेश अनावश्यक है।

हेतु को अप्रयोजक नहीं कह सकते क्योंकि यह सार्वजनिक अनुभव है कि 'घटज्ञान से अज्ञान हटा' और इसका बाध न होने से इसे अप्रमा कहना बनता नहीं।

यों भावरूप अज्ञान सिद्ध हो जाने पर मूलाज्ञान की सिद्धि के लिये भी प्रयोग संभव है: सृष्टि के आरंभ में होने वाला कार्य क्योंकि कार्य है इसलिये वैसे ही किसी जड उपादान वाला है जैसे घड़ा। लाघवानुरोध से (चेतनकारण ईश्वर की तरह) वह जड कारण एक ही है। प्रथमकार्य के प्रति भी हेतु होने से अनादि है तथा उपादान होने से भावरूप है। जड तो है ही जैसे घटहेतु मिट्टी जड है। इस तरह जो पदार्थ सिद्ध हुआ वही अज्ञान है क्योंकि इन विशेषताओं वाली वस्तु अज्ञान से अन्य कोई हो इसमें प्रमाण नहीं।

सांख्यादि वादी जो प्रकृत्यादि जड उपादान मानते हैं उनकी असंभवता केलिये यह अनुमान भी है: अनादिभावता उसी में रहती है जो ज्ञान से निवर्तनीय हो क्योंकि जड में रहने वाली खासियत है जैसे घटत्वादि। (दृष्टांतसिद्धि के लिये समझना चाहिये कि सभी सामान्य रजतत्व सर्पत्वादि की तरह मिथ्यावृत्ति ही होते हैं।)

अध्यास भी अज्ञान के बिना असंगत होने से उसे सिद्ध कर देता है। शुक्ति आदि का अज्ञान ही रजतादि का उपादान है क्योंकि शुक्ति आदिका अज्ञान रहते ही रजतादि दीखते हैं।

अध्यासप्रतिबन्धकतत्त्वज्ञानाभावतया निमित्तम्, अन्यथासिद्धं चेति वाच्यम्; सामग्रीकालीनकार्यानुत्पादप्रयोजकं हि प्रतिबन्धकं तादृश एव तद्व्यवहारात्, व्यवहारानुसारेण व्यवहर्तव्यलक्षणस्य वक्तव्यत्वात्। न चाध्याससामग्रीभूतदोषदशायां तत्त्वज्ञानं संभवति।

xii) उपादानान्तराप्रसिद्धेरज्ञानमुपादानम्

तदन्यस्योपादानत्वाऽसंभवाच्च। न हि सत्यस्य मिथ्या परिणामः सम्भवति, परिणामस्य परिणामिसमानसत्ताकत्वात्। नियमेन अज्ञान-दशायामेव अनुभूयमानस्य तदुपादानकत्वस्यैव वक्तव्यत्वाच्च।

xiii) अज्ञानादध्यासोपजनिः

ततश्च इदमाकारवृत्त्युपहितमिदमंशावच्छिन्नचैतन्यस्य अन्तःक-

अध्यास का प्रतिबंधक है तत्त्वज्ञान, उसका अभाव है अज्ञान, अतः वह रजतादि अध्यासका निमित्त ही हो सकता है, उपादान कैसे? प्रतिबंधकाभाव का संपादक होने से उसे अन्यथासिद्ध भी कह सकते हैं, उपादान हेतु कैसे मानें? यह प्रश्न है।

उत्तर है: प्रतिबंधक वह होता है जो सामग्री रहते कार्य के अनुत्पाद का प्रयोजक हो क्योंकि ऐसे ही मणि आदि को प्रतिबंधक कहते हैं और व्यवहार के अनुसार ही व्यवहार्य को परिभाषित करना उचित है। अध्यास की सामग्री में दोष गिना जाता है और उस के रहते तत्त्वज्ञान संभव ही नहीं कि सामग्रीकाल में उपस्थित होकर कार्य की अनुत्पत्ति का प्रयोजक अर्थात् प्रतिबंधक बने। जब वह प्रतिबंधक नहीं तब प्रतिबंधकाभावतया अज्ञान को निमित्त या प्रतिबंधकाभावसंपादक या अन्यथासिद्ध कहना गलत है।

अज्ञान से भिन्न कोइ वस्तु उपादान हो सकती भी नहीं। सत्य पदार्थ का मिथ्या परिणाम (कार्य) होता नहीं क्योंकि परिणाम अर्थात् उपादेयभूत कार्य और परिणामी अर्थात् उपादान की सत्ता समान ही हुआ करती है। नियमतः अज्ञान रहते ही अध्यास अनुभव में आता है, यह नियम उपादान और कार्य में ही देखा गया है अतः उसे ही उपादान मानना योग्य है।

तेज़ रोशनी व चाकचिक्य के कारण स्पष्ट न होने वाली सीप का 'यह' ऐसा ही ज्ञान हो पाता है। 'यह' आकार की वृत्ति से उपहित जो 'यह' अंश से

रणावच्छिन्नसाक्ष्यभेदेन अभिव्यक्तौ सत्याम् अधिष्ठानसामान्यज्ञान-दोष-संस्कारसहितेदमंशाभिव्यक्तसाक्षिनिष्ठा विशेषांशगोचराऽविद्या तस्मिन् साक्षाद् रजताकारेण विवर्तते।

xiv) अध्यासप्रकाशव्यवस्था

तच्च रजतं जायमानदशायामपि साक्षिसम्बद्धमिति स्वाकारवृत्तिं विनैव साक्षिणानुभूयत इति तत्प्रातीतिकमेव। एतच्चान्यत्रोपपादितम्।

केचित्तु तत्राप्यविद्यावृत्तिमिच्छन्ति।

xv) अज्ञानवादोपसंहारः

एवमहङ्काराध्यासानुपपत्त्याऽपि मूलाज्ञानसिद्धिः।

अवच्छिन्न चैतन्य है उसका अंतःकरणावच्छिन्न साक्षी से अभेद हो जाता है। यों अधिष्ठान का सामान्य ज्ञान उपलब्ध हो जाने पर करणदोष और संस्कार का साहित्य होने से जो इदमंशावच्छिन्न अभिव्यक्त साक्षिचैतन्य में रहने वाली शुक्तित्वादि विशेषांशको विषय करने वाली अविद्या है वह खुद ही रजत के आकार में परिणत हो जाती है।

वह रजत उत्पन्न होता हुआ ही साक्षीसे सम्बद्ध रहता है अतः अपने (रजत के) आकार की वृत्ति के बिना ही साक्षी द्वारा अनुभव कर लिया जाता है। यों उत्पन्न और प्रतीत हुआ रजतादि प्रतीतिकालमात्र अवस्थायी होता है। यह सब ग्रंथान्तरों में विस्तार से बताया गया है।

तत्त्वदीपनकार श्रीमान् अखण्डानन्द मुनि रजतादि स्थल में भी अविद्यावृत्ति स्वीकार लेते हैं। (तब भी प्रातीतिकता तो यथावत् ही है। पूरणीमें यह व्यवस्था दी है: अविद्या में प्रतिबिंब हुआ चेतन साक्षी मानने पर अनिर्वचनीय रजतादि का साक्षी से संबंध हो इसके लिये वृत्ति चाहिये। जब अंतःकरण से उपहित को साक्षी मानते हैं तब क्योंकि वहीं रजतादि अध्यस्त हुए हैं इसलिये वृत्ति नहीं चाहिये। परोक्ष भ्रमों में तो सभी पक्षों में वृत्ति मान्य है। जब तो भानके लिये चैतन्य की तदाकारता भी जरूरी मानी जाये तब उसके संपादनार्थ अपरोक्ष भ्रम में भी अविद्यावृत्ति मानना आवश्यक होता है यह सिद्धांतबिंदु एवं रत्नावली में (पृ १०७-११०) स्पष्ट किया गया है।)

इस प्रकार अहंकाररूप अध्यस्त वस्तु की अन्यथा अनुपपत्ति से मूलाज्ञान

अज्ञानाश्रयविचारः

तच्चाज्ञानं चैतन्यमात्राश्रयविषयम्। दृश्यस्य सर्वस्य तत्कार्यतया तदाश्रयत्वाऽयोगात्। स्वतो जडतया आवृतस्वरूपस्य अज्ञानप्रयुक्तावरणे प्रमाणप्रयोजनयोरभावात्। घटं न जानामीत्यनुभवस्य तदवच्छिन्नचैतन्यावरणविषयतयाऽन्यथासिद्धत्वात्। एवमहङ्कारस्य अहमज्ञ इति प्रतीयमानाज्ञानाश्रयत्वमपि अज्ञानाश्रयस्य तेनापि अवच्छिन्नत्वाद् अन्यथा सिद्धम्।

चैतन्यस्याज्ञानाश्रयतोपपत्तिः

चैतन्यस्य स्वप्रकाशस्य कथमज्ञानाश्रयत्वमिति चेद्? न। किं

सिद्ध हो जाता है (आकाशादिका मूलभूत जो ब्रह्मविषयक अज्ञान है वही अहंकार का भी मूल है क्योंकि ब्रह्मविषयक तूलाज्ञान होने में कोई प्रमाण नहीं जिसका कार्य अहंकार हो सके। अतः यह अनुमान है—अहंकार ऐसी चीज़ है जिसका उपादान अज्ञान है क्योंकि अहंकार कल्पित है जैसे रजतादि।)

वह अज्ञान सिर्फ चैतन्य को आश्रित करता और उसे ही विषय करता है। सारा ही दृश्य अज्ञानका कार्य होने से उसका आश्रय हो नहीं सकता। वह उसका विषय हो यह भी अमान्य है क्योंकि दृश्य स्वतः ही जड होने से वह स्वरूपतः ही आवृत (अभासमान) रहता है अतः अज्ञानविषयता से होने वाले आवरण की न वहाँ जरूरत है न उसमें प्रमाण है। 'घड़े को नहीं जानता' यह अनुभव उस आवरण को विषय करता है जो घटावच्छिन्न चैतन्य पर है अतः इस अनुभव से दृश्यगोचर अज्ञान असिद्ध है। इसी तरह 'मैं अज्ञानी' यों अहंकार अज्ञानका आश्रय लगता है लेकिन वह सिर्फ इसलिये कि जो चेतन अज्ञान का आश्रय है वह अहंकार से भी अवच्छिन्न है; इतने से यह नहीं सिद्ध होता कि अहंकार आश्रय या आश्रयता का अवच्छेदक है। (इस विषय में सर्वज्ञाचार्य के विचार (२.१९२, २०८, ३.१५) अवश्य अनुसंधेय हैं।)

स्वप्रकाश चेतन अज्ञानका आश्रय कैसे? यहाँ प्रश्न का यदि अभिप्राय है कि स्वप्रकाश अज्ञान का आश्रय ही नहीं हो सकता तब तो बात ग़लत है क्योंकि जैसे घटादिज्ञान विषयांतरों के अज्ञानों के समानाधिकरण होता है वैसे ही ज्ञान को आत्मा मानने पर अन्य अज्ञानों का आश्रय आत्मा हो इसमें

स्वप्रकाशस्य अज्ञानाश्रयत्वमेव विरुद्धम्? किं वा स्वविषयाप्रकाशाश्रयत्वम्? नाद्यः; घटादिज्ञानस्य अन्याज्ञानसामानाधिकरण्यवत् ज्ञानात्मवादेऽन्याज्ञानाश्रयत्वाऽविरोधात्। द्वितीये च विषयत्वमेव विरुद्धमिति वक्तव्यं, नाश्रयत्वम्। न वा तदपि; स्वप्रकाशचैतन्यस्य अनाद्यनभिव्यक्तिलक्षणाविद्याप्रयुक्तावरणप्रतिबन्धस्य स्वसत्तानिश्चयत्वाभावेन अविद्याऽविरोधितया तद्विषयत्वोपपत्तेः। न चैवं ब्रह्मप्रकाशस्याऽभावप्रसङ्गः; स्वरूपस्य तदयोगात्।

अज्ञानकृत्यम्

किन्तर्हि अज्ञानकृत्यम्? अनभिव्यक्तिः। सा च स्वप्रकाशप्रत्यग्रूपतया 'अस्ति प्रकाशत' इति व्यवहारयोग्येऽपि 'नास्ति न प्रकाशत'

क्या अनुपपत्ति? (अर्थात् विषयभेद होने पर प्रकाश-अप्रकाश का विरोध अमान्य होने से आश्रयता में कोई असंगति नहीं।) यदि प्रश्न का अभिप्राय है कि अपने विषय में होने वाले अप्रकाश का आश्रय आत्मा नहीं हो सकता तब इतना ही कहना चाहिये कि आत्मविषयक अप्रकाश संभव नहीं; आश्रय होना असंभव नहीं कह सकते क्योंकि सभी वादी आत्मा को अज्ञानी मानते ही हैं और लोग भी यह स्वीकारते ही हैं। वस्तुतः तो यह भी नहीं कह सकते कि आत्मविषयक अप्रकाश असंभव है। अनादि अनभिव्यक्तिरूप अविद्या से प्रयुक्त आवरण से प्रतिबद्ध जो स्वप्रकाश चैतन्य वह अपनी सत्ता का निश्चय नहीं है इसलिये अविद्या का विरोधी नहीं होने से अविद्या का विषय हो इसमें कोई असंगति नहीं। (आत्मस्वरूप का प्रमारूप निश्चय ही अविद्याविरोधी है। वृत्तिविशेष से निरूपित आत्मा ही निश्चय है न कि आत्ममात्र। जो स्वाविद्या का विरोधी नहीं वह आराम से उसका विषय बन सकता है।) इससे यह नहीं समझना चाहिये कि ब्रह्मरूप प्रकाश ही नहीं रहा! स्वरूपभूत तो सनातन है, उसका कभी अभाव नहीं होता। यदि वही न रहे तो अज्ञान ही कैसे भासेगा? अतः स्वरूपतः प्रकाश रहता ही है।

तब अज्ञान करता क्या है? अनभिव्यक्ति कर देता है। ब्रह्म अनभिव्यक्त है यह इसी से समझ लेना चाहिये कि स्वप्रकाश प्रत्यग्रूप होने से ब्रह्म 'है, प्रकाशमान है' इस व्यवहार के योग्य होने पर भी उसके बारे में व्यवहार होता है '(ब्रह्म) नहीं है, (यदि है भी तो) भासमान नहीं है'। इस अनभिव्यक्ति की

इति ब्रह्मणि व्यवहारदर्शनोन्नेया। तद्योग्यता अस्तीति व्यवहारयोग्यता वा। तदन्यस्य नित्यप्रकाशे ब्रह्मण्यसंभवात्। सा चानादिसिद्धाऽपि कल्पितेति न वास्तवस्वरूपयोग्यताविरोधः।

चैतन्यानभिभवः

नन्वेवं कल्पितयोग्यतया पूर्णानन्दब्रह्मप्रकाशाभिभव इव चैतन्यप्रकाशोऽपि अभिभूयेतेति चेद्? नः चैतन्ये नास्तीति व्यवहारादर्शनेन तद्योग्यतालक्षणावरणाभावात्।

आश्रयविषयाभेदः

तस्माद् ब्रह्मविषयमेवाज्ञानं, तदावरकत्वादेव तदाश्रयं, तमोवत्।

योग्यता ब्रह्म में है या यों कह सकते हैं कि 'उक्त योग्यता है' इस व्यवहार की योग्यता ब्रह्म में है। प्रतिपादित अनभिव्यक्ति से अन्य जो आगंतुक ज्ञानाभावरूप अनभिव्यक्ति हो सकती है वह नित्य प्रकाशरूप ब्रह्म में होना संभव नहीं। वह अनभिव्यक्ति अनादिसिद्ध होने पर भी कल्पित होने से ब्रह्म की जो वास्तविक स्वरूपयोग्यता है उससे विरुद्ध नहीं। (ब्रह्म की अपरोक्षव्यवहारयोग्यता ब्रह्मस्वरूप है और अनभिव्यक्ति कल्पित है। यदि उक्त योग्यता भी कल्पित होती तो समानसत्ताक विरुद्ध योग्यताओं का युगपत् एक में रहना नामुमकिन था।)

पूर्ण-आनन्द-व्यापक स्वरूप के प्रकाश के अभिभव की तरह चैतन्य के प्रकाश का भी अभिभव क्यों नहीं जबकि कल्पित योग्यता है ही? क्योंकि चैतन्य में 'नहीं है' यह व्यवहार नहीं मिलता इसलिये उसमें उसकी योग्यतारूप आवरण न होने से चेतन आवृत नहीं। (ब्रह्म एक होने पर भी सत्, चित् आदि का व्यवहार विभिन्न है अतः उनसे निरूपित योग्यतायें भी अलग-अलग हैं। इसलिये व्यापकादि स्वरूप अवृत होने पर भी चिन्मात्ररूप आवृत नहीं है।)

इसलिये अज्ञान ब्रह्म को ही विषय करता है और क्योंकि उसे ढाँकता है इसलिये उसी पर आश्रित है जैसे अँधेरा। (यह अनुमान है- अज्ञान, अपने द्वारा आच्छादनीय पर आश्रित रहता है, आच्छादक होने के कारण, जैसे अँधेरा। किंच-अज्ञान सिर्फ चेतन पर आश्रित है, अन्यत्र अनाश्रित होते हुए आश्रित होने के कारण जैसे परमत में ज्ञानादि तथा स्वमत में जगत्कर्तृत्वादि। वेदान्त के

ब्रह्म नाज्ञम्

न चैवं ब्रह्मणोप्यज्ञत्वापत्तिः; अनादिज्ञाननिवर्त्याज्ञानाश्रयत्वेऽपि तस्यावृतस्वरूपत्वाभावेन अज्ञत्वाभावात्।

एकमेवाज्ञानम्

'घटं न जानामि' इत्यनुभूयमानमप्यज्ञानं तदेव, नान्यत्। योग्यतालक्षणमावरणं चाज्ञानकार्यं घटाद्यवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठमिति तन्निवृत्तिर्घटादिज्ञानेनानुभूयते, इति नानुभवविरोधो न वा वृत्तिवैफल्यं, नापि 'घटाज्ञानं निवृत्तम्' इति व्यवहारानुपपत्तिः।

एकदेशी आचार्य जीवाश्रित अज्ञान के समर्थक हैं किंतु प्रमुख सभी आचार्य; चिदाश्रितता ही संगत समझते हैं।)

अज्ञानाश्रय है तो ब्रह्म अज्ञ क्यों नहीं? क्योंकि उसका स्वरूप आवृत नहीं होता इसलिये! (उपाधि प्रतिबिंब पर असर दिखाती है, बिम्ब पर नहीं यही सार है। यहाँ 'ब्रह्म' से जीवव्यावृत्त स्वरूप ही विवक्षित हो सकता है अन्यथा जीवकी अज्ञता से अर्थान्तर होगा, और जीवव्यावृत्तस्वरूप में अर्थात् ईश्वर में आवरण माना गया ही नहीं है जो अज्ञानिताकी आपत्ति हो। संक्षेपशारीरक में (३.१४) यह भी बता दिया है।)

'घड़े को नहीं जानता' यों अनुभव में आता अज्ञान भी मूलाज्ञान ही है। अज्ञान का कार्य जो पूर्वोक्त योग्यतारूप आवरण वह घटादि-अवच्छिन्न चैतन्य में रहता है जिसकी निवृत्ति घटादिज्ञान से अनुभव में आती है। अतः अनुभव, वृत्ति और व्यवहार सभी संगत हैं। (मूलाज्ञान ही ब्रह्मस्वरूप का आवरण करता है और घटादि से अवच्छिन्न हुये चेतन पर उस आवरण की अपेक्षा अलग आवरण संभव करता है। घटादिज्ञानों से वे आवरण नष्ट हो जाते हैं न कि ब्रह्मस्वरूपका आवरण या खुद अज्ञान। यों अलग आवरण मानकर व्यवस्था दीपन में (पृ. ४९७) मनोरम हो गयी है 'तस्यैवाज्ञानस्य घटपटाद्यवच्छिन्नचैतन्ये आवरणान्तराभ्युपगमात्। .... घटादिज्ञानेन तत्तदावरणमात्रं निवर्तते'।)

'ज्ञान से अज्ञान निवृत्त हुआ' इस अनुभव को आवरणनिवृत्तिविषयक मानना क्लिष्ट लगे तो घटादि से अवच्छिन्न चैतन्य को विषय करने वाले घटादि-अज्ञान माने जा सकते हैं जो मूलाज्ञान के ही धर्मरूप हैं (अर्थात् उसके

अनेकतूलाज्ञानानीति पक्षः

अथ वा – मूलाज्ञानस्यैव धर्मरूपाणि घटाद्यवच्छिन्नचैतन्यगोचराणि अवस्थाशब्दवाच्यानि अन्यानि एव तदज्ञानानि, ज्ञानेन अज्ञानं निवृत्तमित्यनुभवात्। तानि चाज्ञानानि रजताद्युपादानानि शुक्त्यादिज्ञानैः सह कार्येण निवर्तन्ते, शुक्त्याद्यवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठानि च, अविद्यायाः स्वविषयाश्रयत्वनियमात्। न चैवं तस्य साक्षिसम्बन्धाभावाद् 'अहमिदं न जानामि' इत्यपरोक्षत्वानुपपत्तिः; तस्य कार्यैककल्प्यत्वाद्, अनुभवस्य च मूलाज्ञानगोचरत्वात्।

तूलाज्ञान एव मतान्तरम्

अथ वा – मूलाज्ञानस्य आश्रयविषयभेदाननुभवात् तदसम्भवाच्च भवतु चिन्मात्रं विषय एवाश्रयः। अन्यत्र 'अहमिदं न जानामि' इति

परतंत्र हैं) तथा 'अवस्था अज्ञान' कहे जाते हैं। ('मूलाज्ञानस्यैवावस्थाभेदा रजताद्युपादानानि' यह विवरण पृ. ५८ में कहा है।) वे अवस्थाऽज्ञान रजतादि के उपादान बनते हैं और शुक्ति आदि के ज्ञान से कार्यरूप रजतादि समेत निवृत्त हो जाते हैं। ये अज्ञान शुक्तिआदि से अवच्छिन्न चैतन्यपर रहते हैं क्योंकि अविद्या का नियम है कि अपने आश्रय को ही विषय करती है।

तब वह अज्ञान साक्षिसे तो संबद्ध रहा नहीं तो 'मैं घट को नहीं जानता' यों अपरोक्ष कैसे होता है? अवस्थाऽज्ञान अपरोक्ष नहीं हुआ करते क्योंकि कार्य से ही उनकी कल्पना है अर्थात् रजतादि अध्यास अथवा ज्ञान से अज्ञान हटा इस अनुभव की अन्यथानुपपत्ति से ही अवस्थाऽज्ञान सिद्ध है। अनुभव अर्थात् अपरोक्ष होने वाला तो सिर्फ मूलाज्ञान है।

अथवा मूलाज्ञान के आश्रय-विषय का भेद अनुभव में न आने से तथा संभव भी न होने से उसका विषय जो चिन्मात्र वही आश्रय भी है यह ठीक है। लेकिन आत्मेतर विषयों में 'नहीं जानता' यों अज्ञानाश्रय 'मैं' होता हूँ और विषय घटादि होते हैं और इन अनुभूयमान अवस्थाऽज्ञानों के विषय-आश्रय पृथक् होना असंभव भी नहीं। इसलिये अवस्थाज्ञान अहंकार से अवच्छिन्न चैतन्य में भी आश्रित मानने चाहिये और इनका विषय बाह्य अर्थात् घटाद्यवच्छिन्न चैतन्य मानना चाहिये। इस प्रकार अवस्थाऽज्ञान के

भेदानुभवात् तत्संभवाच्च अहङ्कारावच्छिन्नचैतन्याश्रयमज्ञानं बाह्यचैतन्यविषयम्। प्रतीयमानभेदस्य बाधकाभावात्। एवं च सति तस्यापरोक्ष्यमप्युपपद्यते। तच्च अनादि, अज्ञानत्वात्, कार्यस्य च रजतादिवद् अज्ञानत्वाऽयोगात्। अनादित्वे बाधकाभावाच्च।

न च एकघटज्ञानाद् निखिलाज्ञाननिवृत्तिप्रसङ्गः; आवारकस्यैव ज्ञानाद् निवृत्तेः। आवरकं त्वेकमेव, स्वभावात्। न च विनिगमकाभावः; तदभावेऽपि पराभिमतविशेषादर्शनवद् आवरकं निवर्तत इत्यभ्युपगमे बाधकाभावात्।

आश्रय-विषय का जो भेद प्रतीत होता है वह उपपन्न हो जाता है क्योंकि उसका बाधक न होने से उसे नकारना संगत नहीं। (असत्त्वापादक आवरण को साक्षिनिष्ठ मानना आदि सिद्धिकारों की प्रक्रिया यहाँ अनुसंधेय है।) इस रीति से अवस्थाऽज्ञान का अपरोक्ष मानना भी घट जाता है। अवस्थाऽज्ञान भी अज्ञान होने से अनादि हैं क्योंकि कार्य तो रजतादिकी तरह विपर्यय होते हैं, आवरणप्रधान अज्ञानरूप नहीं होते। अवस्थाऽज्ञान अनादि मानने का कोई विरोधी नहीं बल्कि सादि मानने पर उत्पत्त्यादि की कल्पना का गौरव अधिक है।

एक बार घटज्ञान होने से घटविषयक समूचा अज्ञान हट जायेगा तो व्यवहार में विरोध कैसे नहीं? यद्यपि अवस्थाऽज्ञान अनेक हैं तथापि एक बार एक ही अवस्थाऽज्ञान अपने विषय को आवृत करता है और जो आवृत कर रहा होता है वही ज्ञान से हटता है। एक बार में एक ही ढाँकता है – यह इन अज्ञानोंका स्वभाव ही है। कौन अज्ञान ढाँकेगा – इसके नियामक की चिंता व्यर्थ है क्योंकि जो भी ढाँक रहा होगा वही निवृत्त हो जायेगा। जैसे तार्किकों को स्वीकृत व्यवस्था में अनंत प्रागभाव होने पर भी कौनसा प्रागभाव प्रतियोगिका जनक होगा इसका कोई नियामक दिखायी नहीं देता, सिर्फ इतना कह सकते हैं कि प्रतियोगी से वही प्रागभाव निवृत्त होगा जो उसका जनक बना था, उसी तरह जो ढाँकता है वह ज्ञान से हट जाता है यह मानने में कोई विरोध संभव नहीं।

अन्य विचारक कहते हैं कि मूलाज्ञान भी अज्ञान होने से शुक्त्यज्ञानकी तरह जीवनिष्ठ है। जीवत्वादि विभाजन अनादि होने से अन्योन्याश्रयका प्रसंग

वाचस्पत्यमतम्

अन्ये तु – मूलाज्ञानमपि जीवनिष्ठम् अज्ञानत्वात्, शुक्त्यज्ञानवत्। न चैवमन्योन्याश्रयः; जीवत्वादिविभागस्यानादित्वात्। न च आश्रयविषयोरभेदे संभवति भेदो गौरवान्न कल्पनीय इति वाच्यम्; अन्यत्र तद्भेदस्य दृष्टत्वाद् – इत्याहुः।

चिदाश्रयत्वेऽविवादः

सर्वथापि उपपन्नमेव आत्माश्रयमात्मविषयमज्ञानमिति सिद्धमज्ञानं तत्प्रयुक्तो जीवपरविभागश्च।

परिच्छेदनिष्कर्षः

एवं दृग्रूप आत्मनि कर्तृत्वाद्यध्यासोऽपि अन्तःकरणोपाधिकः, अहं

नहीं। क्योंकि अवस्थाऽज्ञान स्थल में आश्रय-विषय का भेद लोकसिद्ध है इसलिये मूलाज्ञान में वही मानना चाहिये भले ही दोनों का अभेद संभव और लाघवयुक्त हो। ('नाविद्या ब्रह्माश्रया किन्तु जीवे' आदि भामती पृ. १२६ में यह मत स्पष्ट है।)

हर हालत में यह संगत है कि अज्ञान का आश्रय और विषय आत्मा है (क्योंकि जीव भी आत्मा ही है और घटावच्छिन्न चेतन भी आत्मा ही है।) यों सिद्ध हुए अज्ञान से ही जीव ईश्वर का विभाजन कल्पित है।

इस प्रकार ज्ञानरूप आत्मा पर कर्तृत्वादि का अध्यारोप भी अंतःकरण रूप उपाधि से है क्योंकि 'मैं करता हूँ' यह अनुभव है तथा 'अंतःकरण से तादात्म्य वाला होकर स्वप्न हुआ जीव इस लोक में संचरण करता है' आदि श्रुति ने भी यही कहा है।

करोमीत्यनुभवात्, 'सधीः स्वप्नो भूत्वा इमं लोकमनुसञ्चरति' (बृ. ४. ३. ७. द्रष्टव्या) इति श्रुतेश्च।

तस्माद् निरस्तसमस्तकर्तृत्वाद्यनर्थं निरतिशयानन्दात्मकचैतन्यं त्वंपदलक्ष्यजीवस्वरूपम् अविद्यया भिन्नमिव कर्तृत्वादियुक्तमिव च प्रतीयत इति सिद्धम्।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमज्जगन्नाथाश्रमपूज्यपादशिष्य-श्रीनृसिंहाश्रमविरचिते तत्त्वविवेके प्रथमः परिच्छेदः॥

अतः जीवका जो निजीरूप है, त्वम्पदका लक्ष्य है, वह निःसीम आनंदरूप चेतन है जिसमें कर्तृत्व आदि अनर्थ सर्वथा नहीं है। वही अविद्या से भिन्न की तरह और कर्तृत्वादि से संपन्न की तरह प्रतीत होता है यह सिद्ध हुआ।

पहला परिच्छेद पूर्ण



ॐ

द्वितीयः परिच्छेदः

प्रतिपाद्यप्रतिज्ञा

अथ तत्पदार्थो ब्रह्म निरूप्यते। पदार्थावगमस्य वाक्यार्थावगतिहेतुत्वात्। तच्चालौकिकमिति लक्षणप्रमाणाभ्यां निरूप्यते।

(वेदान्तों में प्रधान उपदेश है महावाक्य जो जीव-ब्रह्म का अभेद बताते हैं अतः जीव और ब्रह्म ही दो पदार्थ मुख्यतः विचारणीय हैं। यद्यपि दृग् व दृश्य यों विभाजन प्रसिद्ध है तथापि वह दृग् की जानकारी के लिये उपयोगी होने से ही ग्राह्य है, दृश्य को स्वतंत्र पदार्थ नहीं कह सकते। अतः वेदान्तसंमत दो ही पदार्थ हैं-जीव, त्वंपदार्थ तथा ब्रह्म, तत्पदार्थ। मोक्ष इन्हीं के अभेदज्ञान से होना है। अधिकारी रूप से, प्रत्यक्स्वरूप होने से तथा शास्त्रफलभूत मोक्ष पाने वाला होने से जीव पहले विचारणीय होता है अतः प्रथम परिच्छेद में उसका स्वरूप वर्णित किया। शोधित जीवस्वरूप ही जब दृश्येतर होने से क्लेशानास्पद है तो कापिलादि मतों की तरह उसी के प्रति जागरूकता वेदांत कहते होंगे इस संभावना की निवृत्ति के लिये आवश्यक है बताना कि उस त्वमर्थ का परमेश्वर से अभेद वेदान्तों का अभिप्राय है अतः विवेक पर्याप्त नहीं। आचार्य सूत्रकार ने श्रौतमार्ग की इसी विशेषता को व्यक्त करने के लिये शास्त्रारंभ ब्रह्म की जिज्ञासा से किया न कि जीवतत्त्व की मीमांसा से। अथ और अतः से अधिकारी आदि कहा गया है, वह पूर्व परिच्छेद में बता दिया; 'अतः' अर्थात् क्योंकि जीव भूखादि से रहित चेतनमात्रस्वरूप है इसलिये उसका ब्रह्म से अभेद संभव है अतः ब्रह्मजिज्ञासा मोक्षफलक होने से करनी चाहिये। उसी क्रम के अनुसार यह दूसरा प्रकरण रच रहे हैं -)

अब 'तत्' शब्द का अर्थ जो ब्रह्म उसका निरूपण किया जाता है। वाक्य का अर्थ तभी समझ आता है जब उसमें आये शब्दों के जो अर्थ अभिप्रेत हैं वे जान लिये जायें अतः महावाक्य के घटक तत् व त्वम् शब्दों के अर्थ जानना

ब्रह्मलक्षणम्

तल्लक्षणं च भगवान् सूत्रकार आह 'जन्माद्यस्य यत' इति। 'अस्य' प्रत्यक्षानुमानाभ्यामुपस्थितस्य जगतो, जन्मस्थितिभङ्गं 'यतो' भवति तद् ब्रह्मेति। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै. ३. १) इत्यादिवाक्ये जगत्कारणे ब्रह्मशब्दप्रयोगाद् इदं ब्रह्मलक्षणम्।

जन्मादीति समाहारविचारः

तच्च ब्रह्माऽद्वितीयमिति जन्मादिकारणत्वं प्रत्येकलक्षणमपि स्थित्यादिकारणत्वसमानाधिकरणमेव तद्, इति सूत्रे जन्मादीति समाहारः। अन्यथाऽद्वयब्रह्मधर्मत्वाऽसम्भवात्।

उचित है। ब्रह्म वस्तु दृष्ट व तन्मूलक प्रमाणों का अविषय है इसलिये लक्षण तथा शास्त्रप्रमाण से उसे बताया जाता है। (सूक्ष्म वस्तु का लक्षण न पता हो तो प्रमाण से किसे विषय किया जा रहा है यही पता चलता नहीं अतः लक्षण जरूरी है।)

(संभवरूप से समझ आयी वस्तु का ही स्वरूप प्रमित हो सकता है। अप्रमेय सदादिस्वरूप बुद्धि में एकाएक स्फुर नहीं सकता अतः ब्रह्म को संभवरूप से बुद्धिस्थ करने के लिये पहले तटस्थ लक्षण ही जरूरी है। यह जानकर) भगवान् बादरायण ने ब्रह्मका लक्षण बताया-प्रत्यक्ष-अनुमान से ज्ञायमान इस जगत् के जन्म-स्थिति-नाश जिससे, कारण से, होते हैं वह ब्रह्म है। इस लक्षण के बोधक सूत्रका मूल जो वेदवाक्य उसमें 'जिससे ही ये भूत पैदा होते हैं' आदि द्वारा जगत्कारण कहने के लिये ब्रह्मशब्द का प्रयोग किया है अतः सूत्र में न आया होने पर भी लक्ष्यार्पक ब्रह्मशब्द यहाँ समझना उचित है।

वह ब्रह्म अद्वितीय है इसलिये जन्मकारणता, स्थितिकारणता और भंगकारणता ये हर एक भी सही लक्षण हैं लेकिन एक-एक लेने पर भी बाकी दोनों कारणताओं से समानाधिकरण ही वे लक्षण होते हैं अतः सूत्रमें 'जन्मादि' यह शब्द समाहारसमास है। ऐसा न मानने पर अद्वय ब्रह्मका लक्षण संभव नहीं। (लक्षणवाक्यरूप सूत्र में विधेय जो ब्रह्मता उससे अन्वित होने योग्य जो अद्वैत कारण, ऐसा कारण जिसमें कारणनिरूपित द्वितीयता न हो,

ब्रह्मपदार्थः

लक्ष्यस्य चाद्वयत्वं ब्रह्मशब्दाद् अवगम्यते, तत्रैव ब्रह्मशब्दाभिधेयवृद्धिरूपबृहत्त्वस्य पर्यवसानात्। न च नदीपूरस्येव वृद्धिरवयवोपचयः, आकाशस्येव बृहत्त्वं परिमाणविशेषो वास्तु इति

उसे उपस्थित करने की सामर्थ्य त्रितयकारणताके कथन में है। स्थितिकारण, जन्मकारण और नाशकारण से भिन्न है यह शंका मिटाने के लिये तीनों कारणताओं का कथन जरूरी है। कारण के अभेद को समझे बिना वह सर्वात्मा है यह जाना नहीं जा सकता। ब्रह्मकी इष्ट जानकारी के उपयुक्त जो कारणता वही लक्षण होनी चाहिये। अतः तीनों कहे। जब एक भी लेंगे तो इतना समझना पड़ेगा कि स्थिति-भंगकारण होते हुए जो जन्मकारण या जन्म-भंगकारण होते हुये जो स्थितिकारण या जन्म-स्थितिकारण होते हुए जो भंगकारण वह ब्रह्म है। इसीलिये समाहार अर्थात् समूह बोधक समास सूत्रकार ने प्रयोग किया कि जन्मादि तीनों के समूह के प्रति कारणता समझ ली जाये। यदि तीनों कारणतायें मिलकर ब्रह्म में न रहें तो जो ब्रह्म स्वरूप से अद्वय है उसका वे धर्म बन नहीं सकती। तात्पर्य है कि तीन पृथक् धर्म मानने पर तत्तदवच्छिन्नों का परस्पर भेद होने से सद्वयताप्रसंग होगा, उसकी संभावना मिटाने के लिये त्रितयनिरूपित कारणता स्वीकारनी चाहिये। किं च एवंविध कारणता विवर्ताधिष्ठान में ही हो सकती है अतः इससे जो कारणभूत ब्रह्म पता चलता है वही अद्वय अर्थात् कार्यप्रतियोगिक (दृश्यप्रतियोगिक, अब्रह्मप्रतियोगिक) भेद से वर्जित हो सकता है अन्यथा कार्यनिरूपित होने से तत्सापेक्ष ही है यही ज्ञान संभव होने से अद्वय ब्रह्म का पता चले यह संभव नहीं। और अद्वय न होने पर घटादितुल्य मिथ्या होने से अजिज्ञास्य तथा सत्यतया भासमान प्रत्यक् से भिन्न होगा।)

उक्त लक्षण जिसे समझने का उपाय है वह लक्ष्य अद्वय है यह 'ब्रह्म' इस नाम से ही पता लग जाता है क्योंकि ब्रह्मशब्द अवयवसामर्थ्य से जिस वृद्धिरूप (बढ़ोतरी रूप) बृहत्ता को कहता है उसका संकोचक न होने से ऐसा बृहत् ही समझ आता है जो देश-काल-वस्तु से परिच्छेद के अयोग्य हो। नदी में बाढ़ आने से जैसे जल बढ जाता है ऐसे ब्रह्म का बड़प्पन नहीं क्योंकि उसे शास्त्र निष्कल अर्थात् निरंश कहता है जबकि जलादि के तो

वाच्यम्; 'निष्कलम्' (श्वे. ३. १९) 'अस्थूलम्' (बृ. ३. ८. ८) इत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मणि तदभावस्य सिद्धत्वात्। आकाशादौ परिमाणविशेषाश्रयत्वयोग्यतालक्षणघटपर्वतादिव्यावृत्तस्वरूपोपचयाभावे तस्यासंभवेन स्वरूपोपचयस्यैव तदर्थत्वात्।

तत् परममहत्

नन्वेवमपि आकाशविलक्षणस्वरूपोपचयस्य निर्वक्तुमशक्यतया आकाशसदृशमेव ब्रह्मेति चेद्? न। स्वरूपोपचयो हि युगपदनेकनिरूपितसम्बंधाश्रयत्वयोग्यत्वम्। इदं चाकाशादौ अनेकदेशनिरूपितयत्किञ्चित्सम्बन्धाश्रयत्वेन, न तु यावत्संबन्धाश्रयत्वेन, तद्देशीयघटादिवृत्तिसम्बन्धस्य आकाशेऽभावात्। सर्वात्मके तु सोऽप्यस्त्येवेति भवतु

बिन्दु आदि अंशों का एकत्र अधिक संख्या में उपस्थित होना ही जलवृद्धि है। आकाश भी बड़ा है लेकिन इसका मतलब है कि उसका एक विस्तृत परिमाण है, वह फैला हुआ है; ब्रह्म ऐसा भी नहीं क्योंकि श्रुति उसे 'अस्थूल' कहती है और फैली चीज स्थूल हुआ करती है। वस्तुतस्तु जैसे 'घड़ा बड़ा होता है; पहाड़ बडा होता है' आदि में अवयवाधिक्य समझ आता है जिससे बड़े घड़े या पहाड़ का कोई परिमाण अर्थात् माप पता चलता है ऐसे आकाशादि में किसी खास माप वाला होने की योग्यतारूप बड़प्पन संभव नहीं कि राई की अपेक्षा जैसे पहाड़ बड़ा समझते हैं ऐसे पहाड़ आदि की अपेक्षा उनसे पृथक् हुए आकाश को बड़ा समझ सकें। इसलिये आकाश का बड़प्पन परिमाणविशेष नहीं बल्कि उपचय अर्थात् बड़ा होना उसका स्वरूपविशेष ही मानना पड़ेगा। अतः आकाशदृष्टांत से ब्रह्म की बृहत्ता बतायी जाती है।

तब आकाश के बड़प्पन से अलग कौन सा बड़प्पन ब्रह्म का है? परिमाण से विलक्षण बड़प्पन जो आकाशादि में है उसका अर्थ है इकट्ठे ही अनेकों से निरूपित संबंधों के आश्रय होने की योग्यता। अनेक देशों से, स्थानों से निरूपित जिस किसी अर्थात् संयोग संबंध की आश्रयता होने से आकाश में यह बड़प्पन है। (देशशब्द संयोगयोग्य वस्तु के अभिप्राय से है।) किंतु आकाश में भी सारे सम्बंधों की आश्रयता नहीं क्योंकि उस-उस जगह रखे घड़े आदि में रहने वाले भूतलादिसंयोग आकाश में नहीं रहा करते

सर्वात्मकं वस्तु आकाशव्यावृत्तोपचितस्वरूपम्। ततः सर्वात्मकं वस्तु निरवधिकमहत्, आकाशादिकं तु सावधिकम्।

निरपेक्षः शब्दार्थः

शब्दश्च उपपदादिबाधकाभावे निरपेक्षमेवार्थं प्रतिपादयति न सापेक्षम् इति ब्रह्मशब्दात् त्रिविधपरिच्छेदशून्यवस्तुसिद्धिः। ननु भेदग्राहिप्रत्यक्षविरोधात् सङ्कोच एव न्याय्य इति चेद्? न; रजतादेरिव प्रत्यक्षादिदृष्टस्यापि प्रपंचस्य स्वाधिष्ठानापरिच्छेदकत्वात्।

(क्योंकि संयोग अपने संयोगियों में अर्थात् घटादि व भूतलादि में ही रहेगा उनसे अन्य जो आकाश उसमें कैसे रह सकता है!) लेकिन जो वस्तु सबका आत्मा है वह घटादिका भी आत्मा होने से उसमें सभी संयोग रहें यह संगत है। अतः उसका बड़प्पन आकाश से विलक्षण है। (काल से भी उसका वैलक्षण्य समझने के लिये यों कहना चाहिये 'तत्सत्तानिरूपकत्वे सति यावत्तत्सम्बन्धाश्रयत्वं निरवधिकस्वरूपोपचयः'–सम्बंधप्रतियोगी घटादि की सत्ताका निरूपक (अर्थात् उसे सत्त्वेन भासित कराने वाला) होते हुए उसके (घटादिके) सभी संबंधों का आश्रय होना निःसीम स्वरूपोपचय (बड़प्पन) है। काल यद्यपि सर्वाधार होने से सब संबंधों का आश्रय है, यों उसका बड़प्पन आकाश से ज्यादा है, तथापि वह आश्रितों की सत्ता का निरूपक नहीं बनता अतः ब्रह्म का बड़प्पन उससे भी अलग है। वस्तुतस्तु परिच्छेदसंभावनारहित सत्ता ब्रह्मका बड़प्पन समझना चाहिये।)

इस प्रकार जो वस्तु सब का आत्मा, स्वरूप, है वह ऐसी महान् है जिसकी कोई सीमा नहीं। ('महान्' शब्द के दो ढंग से अर्थ अविस्मरणीय हैं–'अव्यावृत्ताननुगतेर्महानात्मेति भण्यते' बृ. वा. पृ. १२०९; तथा 'महतः अनवच्छिन्नस्य' बृ. भा. आनंदगिरि. पृ १९५)। आकाशादि भी महान् हैं लेकिन उनकी सीमा है, उनसे भी महान् कुछ है।

अपने से अन्वीयमान शब्दान्तर आदि रुकावटों के न रहने पर शब्द अपने निरपेक्ष (निरवच्छिन्न) अर्थ का बोधक होता है। 'बड़ा घड़ा' यहाँ परिच्छिन्न अर्थ के वाचक घड़ा-शब्द के कारण बड़ा-शब्द भी ससीम बड़प्पन का बोधक हो पाता है किंतु ब्रह्मलक्षण में ऐसी कोई रुकावट न होने

अद्वयमेव जिज्ञास्यम्

किञ्च 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति सूत्रे यस्य ब्रह्मणो जिज्ञासा प्रतिज्ञाता तस्यैवेदं लक्षणं, विचार्यत्वेनाप्रतिज्ञातस्य लक्षणाऽयोगात्। प्रतिज्ञा चाऽद्वयस्यैव। अनात्मविचारेण अधिकारिणः प्रयोजनाभावेन तत्प्रतिज्ञाऽयोगात्।

भिन्नं ब्रह्माप्रमाणिकम्

न चोपासनासिद्ध्यर्थं तद्विचार इति वाच्यम्; ब्रह्मण उपासनाशेषत्वे प्रमाणाभावेन स्वरूपासिद्धेः, वेदान्तानां विधिपरत्वात्, न चान्यद् ब्रह्मणि प्रमाणमस्तीति वक्ष्यते।

से तीनों परिच्छेदों से – देश-काल-वस्तुनिरूपित सीमाओं से–रहित वस्तु ही ब्रह्मशब्द से सिद्ध हो जाती है।

घटादि भेद के ग्राहक प्रत्यक्ष से ब्रह्म की भिन्नतालक्षण परिच्छिन्नता (अर्थात् वस्तुपरिच्छेद) प्रतीयमान होने से उसकी बृहत्ता का संकोच क्यों उचित न माना जाये? इसलिये कि जैसे रजतादि शुक्तिकादि अपने अधिष्ठान के परिच्छेदक (सद्वयतासंपादक) नहीं हो पाते वैसे ही प्रत्यक्षादि से गृहीत प्रपंच भी अपने अधिष्ठान ब्रह्म को परिच्छिन्न नहीं कर पाता। (अर्थात् परिच्छेद्यतुल्यसत्ताक परिच्छेदक ही संकोचक हो सकता है।)

लक्ष्य ब्रह्म इसलिये भी अद्वय मानना पड़ेगा कि 'क्योंकि ब्रह्मज्ञान मोक्ष का पर्याप्त कारण है इसलिये साधनसम्पन्न होकर उसका विचार करना चाहिये' इस सूत्र में जिसके विचार के लिये कहा है उसी का लक्षण अगले सूत्र में दिया गया हो यही युक्त है क्योंकि जिसे विचारणीय कहा नहीं उसका लक्षण बताना असंगत है, बुभुत्सित ही वक्तव्य हो सके तो तदतिरिक्त को वक्तव्य नहीं मान सकते। विचारणीयरूप से उपस्थित अद्वय ही है क्योंकि मोक्षाधिकारी या मोक्षहेतुज्ञान के अधिकारी का अपने से द्वितीय अर्थत् आत्मनिरूपित भेद वाले अर्थात् अनात्मा के विचार से कोई प्रयोजन नहीं।

उपासना से मोक्ष होता है अतः उपासनासंपादनार्थ उपास्य समझने के लिये मुमुक्षु को सद्वय ब्रह्म के विचार से प्रयोजन क्यों नहीं? यदि ब्रह्म उपासना

देवताधिकरणन्यायेनापि भिन्नब्रह्मासिद्धिः

न च भिन्नस्य ब्रह्मणो मानान्तराऽविरोधाद् देवताविग्रहवत् तत्सिद्धिरिति वाच्यम्; जीवातिरिक्तस्य ज्ञानानधिकरणत्वव्याप्त्यनुगृहीतया 'नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञम्' (मां. ७) 'केवलो निर्गुणः' (श्वे. ६. ११) इत्यादिश्रुत्या विरोधेन सार्वज्ञ्यासिद्धेः।

के लिये है तो ब्रह्मविषयक वेदान्तों का तात्पर्य उपासनाविधि में होगा अतः ब्रह्म के लिये कोई प्रमाण न होने से ऐसा अर्थात् सद्वय ब्रह्म स्वरूपतः ही असिद्ध हो जायेगा! वेदांतों से अन्य कोई प्रमाण ब्रह्म में है नहीं यह बतायेंगे। (आत्मभिन्न होने से स्वप्रकाश भी नहीं हो सकेगा कि अप्रमेयता होने पर भी सत्ता बचा सके। कोई 'ब्रह्मनास्तिक' इसे भी इष्टापत्ति माने तो उपासना की मोक्ष के प्रति अकारणता समझानी चाहिये जो अनुपद बताने जा रहे हैं।)

सद्वय ब्रह्ममें किसी प्रमाण का विरोध नहीं अतः देवताशरीरादिकी तरह विधिशेष वाक्य ही उसमें प्रमाण क्यों नहीं हो सकते? इसलिये कि सद्वय ब्रह्म में प्रमाणविरोध है। प्रथमतः तो वेद ने कहा 'ब्रह्म बाहर-भीतर किसी के बारे में नहीं जानता'- यह तभी संभव है जब उससे बाहर और उसके भीतर कुछ न हो अर्थात् वह अद्वय हो क्योंकि सद्वय होने पर उससे बाहर या उसके भीतर कुछ रहते यदि वह उसे नहीं जानेगा तो वह सर्वज्ञ न रहने से ब्रह्म नहीं होगा। वेद ने स्पष्ट ही उसे 'केवल' अर्थात् अकेला कहा है जो सद्वय होने का विरोधी है। किं च सद्वय ब्रह्म इस अनुमान से भी विरुद्ध है: जो जीव से अन्य होता है वह ज्ञान का अनधिकरण होता है, ब्रह्म ज्ञानका अनधिकरण नहीं है अतः जीव से अन्य नहीं है। (ज्ञानानधिकरणता का अर्थ जाड्य समझना चाहिये। जाड्यानधिकरण सत्स्वरूपता ही चित्त्व होने से सिद्धांत में भी कोई विरोध नहीं। परमत से तो आपाततः भी उचित है।) यह अनुमान जब उक्त श्रुतियों को सहारा दे देता है तो अनुग्राहक तर्क से रहित विधिशेष वाक्य सद्वयके साधक नहीं बन पाते।

वास्तव में तो मोक्ष उपासना से हो सकता ही नहीं। यदि मोक्ष को उपासनारूप मानसकर्म से प्राप्य मानोगे तो स्वर्गादि की तरह सावधिक, अनित्य आदि ही हो सकेगा जिससे निरवधिक पुरुषार्थ विषयक कामना से

नोपास्त्या मोक्षः

मोक्षस्योपासनासाध्यत्वे स्वर्गादिवत् सातिशयत्वाद्यापत्तेः निरतिशयपुरुषार्थकामनागोचरो न स्यात्। अक्षय्यफलचातुर्मास्याद् मुमुक्षोरवैराग्यप्रसङ्गाच्च।

भिन्नब्रह्म न जिज्ञास्यम्

न च जीवगतकर्तृत्वादिभ्रमनिवृत्त्यर्थं तटस्थब्रह्मजिज्ञासेति वाच्यम्; अन्यविषयज्ञानाद् अन्यविषयभ्रमाऽनिवृत्तेः; परोक्षज्ञानादपरोक्षभ्रमानिवृत्तेश्च, न चान्यात्मनि प्रत्यक्षं संभवति।

प्रेरित होकर उपासना संपादित नहीं की जा सकेगी। किं च यदि मोक्ष भी सातिशय होना है तो क्षय के अयोग्य फल देने वाले चातुर्मास्यादि यागों से मुमुक्षु का वैराग्य ही नहीं होगा और प्रथम परिच्छेद में कहे संन्यास की दुर्लभता होने से उसके विधायक वाक्य अप्रमाण होने लगेंगे। यह कोई वेदवादी मान नहीं सकता।

जीव में कर्तृतादि हैं इस भ्रम को हटाने के लिये तटस्थ अर्थात् जीवभिन्न ब्रह्म का विचार क्यों उपयोगी न माना जाये? (ब्रह्म चेतन है तो कर्तृतादिसे रहित है यह बता कर जीव भी चेतन होने से वैसा ही होना चाहिये यह समझा सकते हैं यह प्रष्टाका भाव है।) इसलिये उपयोगी नहीं कि जीवेतरविषयक ज्ञान से जीवविषयक भ्रम हटना असंभव है। उक्तविधया अनुमानरूप परोक्ष ज्ञान से अपरोक्ष कर्तृत्वादिभ्रम हट नहीं सकता। जीवेतर आत्मा के बारे में प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता कि आत्मगोचर प्रत्यक्ष होने से वह जीवभ्रमका बाधक हो। (अर्थात् यदि ईश्वर की अकर्तृता का प्रत्यक्ष होता तो वह भी आत्मा का प्रत्यक्ष होने से जीवात्मा को प्रत्यक्ष हो रहे भ्रम का बाध कर सके ऐसी उत्प्रेक्षा की जा सकती थी क्योंकि व्यापक धर्म से अवच्छिन्न का प्रत्यक्ष व्याप्य धर्म से अवच्छिन्न के प्रत्यक्षभ्रमका बाधक हो सकता है। किन्तु ईश्वराकर्तृता का प्रत्यक्ष संभव नहीं अतः वह जीवभ्रमबाधक न होने से जिज्ञासा के अयोग्य है।)

वेदान्तमीमांसा में जीव को ही विचारणीय क्यों न मान लें? (यदि ऐसा हो तो जीव ही अद्वय सिद्ध होगा, ब्रह्म नहीं। तथा वैसा कहना दृष्टविरुद्ध होने से प्रशंसादि में ही तात्पर्य रहेगा जैसे 'अद्वितीय विद्वान् है' आदि का होता है।

जीवजिज्ञास्यतानिषेधः

न च जीवस्यैव जिज्ञासा; तत्र ब्रह्मशब्दविरोधात्; जीवस्य प्रत्यक्षादिना निर्णयात्; तत्र लक्षणसूत्रायोगाच्च।

लक्ष्यनिर्णयः

तस्मात् जीवगतानर्थभ्रमनिवृत्त्यर्थं तदभिन्नमज्ञातं ब्रह्म जिज्ञास्यमिति तस्यैवेदं लक्षणम्।

जगत्कारणत्वाक्षेपे– i) लक्षणपरीक्षा

ननु किमिदं जगत्कारणत्वम्? न तावत् तत्कर्तृत्वम्; मिथ्यावस्तुनो भावविलक्षणस्य ध्वंसवत् सकर्तृकत्वायोगात्।

ii) कर्तृत्वविचारः

कर्तृत्वमपि – क) न तावद् उपादानापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वम्; पूर्णानन्दे ब्रह्मणि स्वेष्टसाधनताज्ञानाभावेन चिकीर्षाप्रयत्नयोरसम्भवात् सर्गाद्यचिकीर्षादिकं प्रति कर्तृत्वाद्यसंभवाच्च। न च

यह प्रष्टाका अभिप्राय है।) इसलिये नहीं मान सकते कि जीव को जिज्ञास्य कहने के लिये उसके वाचक रूप से अप्रसिद्ध एवं अर्थान्तर में रूढ ब्रह्म शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता। जीव अपरोक्षतया ही निर्णीत है तो उसके लिये विचार की जरूरत नहीं और सांख्यादि तर्क से उसकी अकर्तृतादि पता चल सकने से वह श्रुतिबोध्य नहीं माना जा सकता। जिज्ञास्य ब्रह्मका जो लक्षण सूत्र में बताया वह जीव में घटता भी नहीं कि ब्रह्मपद जीवार्थक मान सकें।

इसलिये जीव को जो अनर्थभूत कर्तृतादिका भ्रम है उसे हटाने के लिये जीव से अभिन्न जो अज्ञात ब्रह्म है वही जिज्ञासा का विषय होने से उसीका लक्षण है कि वह जन्मादिका कारण है।

जगत्कारणता का क्या मतलब? जगत् का कर्ता होना जगत्कारणता है यह कथन ठीक नहीं क्योंकि भावपदार्थ से भिन्न जो मिथ्या चीज़ें होती हैं जैसे ध्वंस, उनका कर्ता नहीं होता। (अत एव रज्जुसर्प के माता-पिता नहीं माने जाते। प्रपंच को मिथ्या मानने वाला उसके कर्ता की चर्चा करे यह अनुचित है।)

कर्ता होने का भी अभिप्राय क्या है? क) उपादान-विषयक अपरोक्ष

तयोरनादित्वम्; चिकीर्षामात्रे स्वेष्टसाधनताज्ञानस्य, कृतिमात्रे चिकीर्षायाश्च कारणत्वेन तदयोगात्, कार्यसातत्यप्रसङ्गाच्च, ईश्वरचिकीर्षाया अप्रतिघातात्।

ख) नाऽपि ज्ञानवत्त्वमात्रं तत्; उदासीनानामपि कर्तृत्वप्रसङ्गात्।

ग) न च 'स्वतन्त्रः कर्ता' इति वाच्यम्; ईश्वरपरतन्त्राणां जीवानां तदभावापातात्। न च कारकान्तरप्रयोक्तृत्वमेव स्वातन्त्र्यम्; चिकीर्षाप्रयत्नरूपप्रयोगस्य ब्रह्मण्यसम्भवात्, अन्यादृशस्य जीवेऽप्यनिरूपणात्।

ज्ञान, करने की इच्छा और प्रयत्न वाला होना कर्ता होना यदि कहो तो प्रकृत में असंगत है। पूर्ण आनन्दरूप ब्रह्म के लिये अपनी इच्छा का कोई विषय नहीं जिसकी सिद्धि के लिये वह किसी उपाय को साधन समझे, उसे करना चाहे और उसके लिये कोई कोशिश (यत्न) करे। किं च चिकीर्षा स्वयं भी एक कार्य है तो उसका भी कर्ता होना चाहिये। लेकिन सृष्टि की प्रथम चिकीर्षा ('करने की इच्छा') का कर्ता कोई नहीं हो पायेगा यदि चिकीर्षा वाला ही कर्ता हो सके' तो (क्योंकि तब तक कोई भी चिकीर्षा होगी नहीं जिस वाला वह बन सके)। इसलिये कर्ता का उक्त लक्षण ठीक नहीं। चिकीर्षा व प्रयत्न अनादि हो नहीं सकते क्योंकि अपने अभीष्ट की साधनता का ज्ञान चिकीर्षा के प्रति कारण माना गया है एवं चिकीर्षाको प्रयत्न के प्रति कारण माना गया है; ये दोनों मान्यतायें गलत हो जायेंगी यदि अनादि होने से इनके बिना ही चिकीर्षा व प्रयत्न संभव हों। किं च ईश्वर की चिकीर्षा हो गयी तो कार्योत्पत्ति पर्यंत कोई रुकावट तो आ नहीं सकती अत: नित्य चिकीर्षा होने पर लगातार कार्य होते रहना चाहिये! यह दृष्टविरुद्ध है। अत: कर्तृत्वका उक्त लक्षण ठीक नहीं।

ख) ज्ञान वाला होना कर्ता होना है–यह भी गलत है अन्यथा जो तटस्थ रहकर जानभर रहे हैं वे भी दृश्य क्रिया के कर्ता होने लगेंगे!

ग) पाणिनिका अनुसरण कर कहें कि जो स्वतंत्र हो वह कर्ता होता है तो स्वातंत्र्य का क्या मतलब? अन्य से प्रयुक्त न होना कहें तो जीव कभी कर्ता नहीं हो सकेंगे क्योंकि वे ईश्वर के अधीन ही रहा करते हैं। यदि अपने से अन्य कारकों को प्रयोग करने वाला होना स्वतंत्रता है तो प्रयोग किसे कहते हो?

iii) तत्र मानाभाव:

नापि तत्र प्रमाणम्। प्रत्यक्षसिद्धघटादिकर्तृत्वस्याऽब्रह्मलक्षणत्वात्।

न च भूतकर्तरि किंचित्प्रमाणमस्ति। न च – सर्गाद्यकालीनं कार्यं, उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यम्, कार्यत्वाद् घटवदिति तत्सिद्धिः – इति वाच्यम्; चिकीर्षादिबाधस्य भूतकर्तरि उक्तत्वात्, घटादेश्चिकीर्षाद्यजन्यत्वाच्च। न चान्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्सिद्धिः; चेष्टादौ सति चिकीर्षाव्यतिरेकेण घटव्यतिरेकादर्शनात्। न च चेष्टादिकं व्यापार

चिकीर्षा व प्रयत्न ही प्रयोग हैं और वे दोनों ब्रह्म में होना असंभव होने से वह कर्ता नहीं हो सकेगा। इससे अतिरिक्त 'प्रयोग' पदार्थ जीव में भी बता नहीं सकते। इस तरह कर्तृत्व की परिभाषा संभव नहीं।

कर्तृत्वविषयक प्रमाण भी दुर्लभ है। यद्यपि घटादिके प्रति कुलालादि में होने वाला व्यवहारसिद्ध कर्तृत्व प्रत्यक्ष मान सकते हैं तथापि वह प्रकृत में विवक्षित नहीं क्योंकि वह ब्रह्मका लक्षण नहीं। (शरीरनिष्ठ या तद्वन्निष्ठ क्रियादि से अन्य वह नहीं होने से अशरीरी में हो नहीं सकता।) घटकर्ता की तरह प्रपंचकर्ता में कोई प्रमाण नहीं कि तन्निष्ठतया कोई कर्तृत्व समझ सकें। जगत्कर्ता को सिद्ध करने के लिये यह अनुमान किया जाता है–सृष्टि के आदिकाल में होने वाला कार्य, उपादानविषयक अपरोक्षज्ञान, चिकीर्षा और कृति वाले से जन्य है, कार्य होने से, घटकी तरह; लेकिन प्रपंचकर्ता में चिकीर्षादि हो नहीं सकते यह सिद्ध किया जा चुका है, अतः अनुमान ग़लत है (साध्यघटक कृतिमान् अप्रसिद्ध है, अत: साध्याप्रसिद्धि दोष है।) किं च दृष्टांत भी साध्यविकल है क्योंकि घटादि चिकीर्षाजन्य नहीं (क्योंकि इच्छा का कार्य क्रिया प्रसिद्ध है, द्रव्य नहीं)। चिकीर्षा–घट के अन्वय–व्यतिरेक से उनका हेतुहेतुमद्भाव सिद्ध हो सके यह भी संभव नहीं क्योंकि ऐसा होता नहीं कि चेष्टादि रहने पर चिकीर्षाऽभाव के कारण घटाभाव हो (बल्कि बहुधा न चाहने पर बलात् कार्य करवा लिया जाता है और कदाचिद् 'विनायकं विकुर्वाणो रचयामास वानरम्' न्याय से अनचाहे कार्य भी हुआ करते हैं; फूटा घट, जला घट, कच्चा घट आदि भी अचिकीर्षित होते हैं।) चिकीर्षा और कार्य के मध्य चेष्टा व्यापार हो यह भी ठीक नहीं क्योंकि चिकीर्षा को कारण समझे

इति वाच्यम्; तत्कारणत्वोपस्थितिं विनैव कारणतया, कारणकारणतया वा गृहीतस्य व्यापारत्वायोगात्। अन्यथा घटे मनःसंयोगस्य कपालावयवादेरपि कारणत्वं किं न स्यात्? न चैवं दण्डादेरपि कारणकारणतैव स्यादिति वाच्यम्; कारणकारणेऽपि प्रवृत्तिसंभवेन तदविरोधात्। तन्त्वादिसंयोगवत् तन्त्वादिरपि करणमिति नैकका-रणतापत्तिः। दण्डादौ कारणत्वप्रसिद्धिस्तु अन्यथाप्युपपद्यते।

बिना ही चेष्टा कारणरूप से मानी जाती है अत: उसे चेष्टा के प्रति चिकीर्षा का व्यापार नहीं कह सकते क्योंकि प्रमाणसिद्ध कारणता के उपपादकरूप से स्वीकृत को ही व्यापार कहते हैं, स्वातन्त्र्येण स्वीकृत को नहीं ('यद्धि यस्य प्रमितकारणत्वोपपादकतया कल्प्यते तत्तस्य व्यापारः यथा यागस्यापूर्वम्' (दीपन)। वस्तुतस्तु हाथादि का व्यापार भी चाक घुमाने के व्यवधान से ही घटसंबद्ध कारण होने से शारीरिक चेष्टा घटका कारण नहीं वरन् घटके कारण का कारण है। व्यापारता तो तब भी इसलिये नहीं कि उसकी जरूरत चिकीर्षा समझने से निरपेक्ष है (और यन्त्रादि से चाकादि घुमाये जाने पर चेष्टा का भी व्यतिरेक है)। यदि साक्षात् कारणों को छोड़कर परंपरया जो–जो अनुकूलता बतायें उस सब को कारण मानने लगोगे तो मनःसंयोग, कपालके अवयव आदि को भी घटके प्रति कारण मानना पड़ेगा जो किसी को स्वीकृत नहीं। यदि हाथ की क्रिया को कारण नहीं मानते तो दण्ड आदि भी कारण के प्रति कारण ही होंगे, उन्हें कारणरूप से प्रसिद्ध क्यों किया गया है? यह ठीक है कि वे साक्षात् कारण नहीं, उन्हें कारणरूप से प्रसिद्धि इसलिये मिली है कि कारणकारण होने पर भी प्राय: आवश्यक होने से उन्हें बटोरने की जरूरत घट बनाते समय पड़ती है। यों कारण के साक्षात्त्व पर बल देने से क्या कोई एक ही चीज़ कारण रहती है, बाकी सब पारंपरिक हो जाते हैं? नहीं, क्योंकि तन्तु–संयोग की तरह तन्तु को भी कारण मान लेते हैं। (अर्थात् कारणतासंपादक विशेषण को कारण मान सकते हैं क्योंकि विशिष्ट कारण होता है लेकिन उपाधि या उपलक्षण को या कारणता के अनवच्छेदक धर्म को कारण नहीं मान सकते)। दण्डादि कारणरूप से प्रसिद्ध हैं वह इतने से ही कि अर्थसाधक हैं, विचारसे तो वे अन्यथासिद्ध ही हैं।

iv) जगत्कर्तरि वेदोऽमानम्

न च श्रुतिरेव जगत्कर्तरि प्रमाणम्; तस्या मिथ्यारूपकर्तृत्वाद्यंशेऽप्रमाणत्वात्।

v) उपादानत्वं न ब्रह्मलक्षणम्

नाप्युपादानत्वं लक्षणम्; भावविलक्षणप्रपञ्चस्य ध्वंसवद् उपादानाऽजन्यत्वात्। उपादानत्वमपि न कार्यसमवायित्वम्; कालादावतिव्याप्तेः, सिद्धान्ते समवायाभावाच्च। नापि कार्यतादात्म्यवत्कारणमुपादानम्; अभेदे कार्यकारणताऽयोगात्, भेदे च तादात्म्यासम्भवात्, समानसत्ताकभेदाभेदस्य चाऽसंभवात्, चैतन्यस्य द्रव्योपादानत्वे प्रमाणाभावाच्च। उभयसंमतदृष्टान्ताभावाद् नानुमानादपि तत्सिद्धिः।

जगद्रचयिता परमेश्वर है इसमें वेदवाक्य क्यों प्रमाण नहीं? इसलिये कि वेदांती कर्तृत्वमात्र मिथ्या मानता है और मिथ्या के विषय में बताने वाला वाक्य प्रमाण हो नहीं सकता। श्रुति जिस बात में प्रमाण होगी वह बात मिथ्या नहीं हो सकती। अतः कर्तृत्व सत्य मानो या उस में श्रुति को प्रमाण मत मानो – ये ही संभव विकल्प हैं।

जगत् का उपादान कारण होना ब्रह्मका लक्षण हो यह भी संभव नहीं क्योंकि सिद्धांती प्रपंच को मिथ्या कहकर उसे भावभिन्न मानता है और भावातिरिक्त चीज जैसे ध्वंस, किसी उपादान से पैदा भी नहीं होती जैसे भ्रमवश दिखने वाला दूसरा चाँद किसी मिट्टी–पत्थर से बना नहीं होता। उपादान होने का भी क्या मतलब? कार्य के समवाय वाला होना कहो तो कालादि में अतिव्याप्ति है क्योंकि वे सभी के आधार होने से कपालनिष्ठ घटसमवाय के भी आधार हैं ही। किं च वेदांती समवाय मानता भी नहीं। कार्य के तादात्म्य वाला कारण उपादान होता है यह कहना भी गलत है क्योंकि तादात्म्य होना असंभव है: कार्यकारण में अभेद मानो तो उनमें हेतुहेतुमद्भाव नहीं हो सकेगा क्योंकि खुद खुद के प्रति कारण नहीं होता। उनमें परस्पर भेद मानों तो हिमालय व विन्ध्याचल की तरह उनमें तादात्म्य नहीं होगा। समान सत्ता वाले भेद और अभेद इकट्ठे रहना असंभव है। किं च चैतन्य

vi) आक्षेपोपसंहारः

किं च–उपादानत्वमात्रं लक्षणं चेद्, मायादावतिव्याप्तिः। कर्तृत्वमात्रं लक्षणं चेद्, [अ–] ब्रह्मोपादानस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मव्यतिरेकप्रसङ्गात्। ब्रह्मणि निषेधेऽपि तस्यान्यत्र स्थित्युपपत्तेः। नाप्युभयकारणत्वं लक्षणम्; तस्य लोकतोऽप्रसिद्धत्वेन तदनुवादेन ब्रह्मप्रतिपादनासम्भवाद्। इति।

समाधाने–i) लक्षणम्

मैवम्; उभयकारणत्वस्यैव लक्षणत्वात्।

(ज्ञान, आत्मा) किसी द्रव्यका उपादान होता है इसमें कोई प्रमाण नहीं। यद्यपि वेदान्ती मायावी आदि को दृष्टांत बना कर अनुमान से आत्मा को कारण सिद्ध करने की कोशिश कर सकता है तथापि अन्य कोई वादी मायिक द्रव्यों की उत्पत्ति स्वीकारते नहीं जबकि दृष्टांत दोनों वादियों को स्वीकृत होना चाहिये। अतः अनुमान भी आत्मा को द्रव्यका उपादान सिद्ध कर सके यह संभव नहीं। (श्रुतार्थापत्ति से वेदांती यह सिद्ध करे यह भी मुमकिन नहीं क्योंकि श्रुति तो ईश्वर की साधारणकारणता से भी उपपन्न है।)

ब्रह्म का लक्षण केवल जगदुपादानता कहो तो तथाविध मायादि (प्रकृति परमाणु आदि) में अतिव्याप्ति होगी। सिर्फ जगत्कर्तृत्व को लक्षण कहो तो क्योंकि प्रपंच का उपादान ब्रह्म नहीं रहेगा इसलिये प्रपंच ब्रह्म से वास्तव में पृथक् होने लगेगा और अद्वय महान् ब्रह्म सिद्ध नहीं होगा। (यहाँ मूल में 'अब्रह्मोपादानस्य' पाठ होना ही संगत है। यथाश्रुत में साध्याहार योजना करनी चाहिये–त्वया ब्रह्मोपादानकतयाऽभिमतस्यापि ब्रह्मण कर्तृमात्रत्वे तदनुपादानत्वेन तस्य तद्व्यतिरेकापत्तेरित्यर्थः।) श्रुति ने 'नेति' आदि से ब्रह्म में ही प्रपंच का निषेध किया है अतः वहाँ उसका अभाव होने पर भी जो उसका उपादान है उसमें तो अभाव सिद्ध होगा नहीं अतः प्रपंच मिथ्या न होने से ब्रह्मका सच्चा परिच्छेदक होगा। यदि निमित्तता व उपादानता दोनों मिलकर ब्रह्म में हैं यों उसका वे लक्षण मानो तो क्योंकि अभिन्ननिमित्तोपादानकारणता लोक में प्रसिद्ध नहीं इसलिये उसके सहारे ब्रह्म को समझाया जा ही नहीं सकता क्योंकि प्रसिद्ध के सहारे अप्रसिद्ध का वर्णन होता है। इस प्रकार जगत्कारणता का न लक्षण है न इसमें प्रमाण है। (यह विस्तृत शंकाग्रंथ है। अब उत्तर आरंभ होता है:)

ii) कर्तृतानिरुक्तिः

न तावत् कर्तृत्वानिर्वचनम्; अदृष्टाऽद्वारककार्यानुकूलज्ञानवत्त्वं कर्तृत्वम्। कुलालादेरपि तादृशमेव कर्तृत्वम्। चिकीर्षादिकं तु शरीरमिव कार्यविशेषे कारणम्,न तु कर्तृत्वप्रयोजकम्। तस्य च मृदादिज्ञानं परंपराकारणतया कार्यानुकूलम्। अनुकूलत्वं च कारणतत्कारण-साधारणमिति कुलालादौ ब्रह्मणि चैकमेव कर्तृत्वम्। उदासीनं ज्ञानं च नैवम्।

न च तत्र प्रमाणाभावः कार्यलिङ्गेनैव तत्सिद्धेः।

लक्षणासम्भवादि सभी आक्षेप व्यर्थ हैं। ब्रह्म का लक्षण उभयकारणता अर्थात् प्रपंचका निमित्त और उपादान दोनों तरह का कारण होना है। (मधुसूदनस्वामी ने सिद्धिमें (पृ. ७६४) उभयकारणता को संभव दिखाया है: घट-काल का जो संयोग है उसका उपादान काल भी है क्योंकि संयोगी है तथा सभी कार्यों के प्रति निमित्त होने से काल उस संयोग का निमित्त भी है ही। ऐसे ही सुखादि का कर्ता और उपादान दोनों ही आत्मा होता है। सारसंग्रह में (१.५००) तो सामान्य नियम बता दिया है 'सर्वत्र कार्ये चैतन्यस्यैकस्यैव कुलालादिशरीरावच्छेदेन निमित्तत्वम्, मृदाद्यवच्छेदेनोपादानत्वम्; इति तद्भेदे नास्त्येवोदाहरणं परमतेऽपि।' एवं च अभिन्ननिमित्तोपादानता ब्रह्मलक्षण निर्दुष्ट है।)

कर्ता होने का मतलब समझाया जा सकता है : ऐसे ज्ञान वाला होना जो ज्ञान कार्य के अनुकूल है किन्तु अदृष्टको द्वार बनाकर कार्य का जनक नहीं, कर्ता होना है। (घट जिस अदृष्ट के फल रूप से उत्पन्न हुआ उसके हेतुभूत कर्म कें उपादानादिज्ञान वाले में अतिव्याप्ति बचाने के लिये 'अदृष्टाद्वारक' जरूरी है।) कुम्हार आदि में कर्तृता ऐसी ही होती है। करने की इच्छा कर्ता होने के लिये जरूरी नहीं है बल्कि कुछ कार्यों के प्रति ही करने की इच्छा कारण हैं जैसे कुछ कार्यों के प्रति शरीर कारण है। उसका अर्थात् कुम्हार आदि को होने वाला जो मिट्टी आदि का ज्ञान है वह परम्परया कारण होने से कार्य के लिये अनुकूल है। कार्य के लिये अनुकूलता जैसे कारण में ऐसे कारण के कारण में भी हो सकती है। इस तरह कर्तृत्व का लक्षण मानने पर कुम्हारादि और

iii) उपादानतानिरूपणम्

उपादानत्वमपि न दुर्निरूपम्; कार्यतादात्म्यवत्कारणत्वस्य तत्त्वात्। तादात्म्यं च सत्ताऽनवच्छेदकभेदवत्त्वमिति न दोषः।

न च तत्र प्रमाणाभावः; मृद्धट इति सामानाधिकरण्येन तत्सिद्धेः। सन् घट इति सामानाधिकरण्यात् सदप्युपादानं, सच्च ब्रह्म।

ब्रह्म में एक ही कर्तृता रहती है, अन्यथा उभयत्र स्थित कर्तृताओं के पृथक् लक्षण करने पड़ेंगे जो गौरवपराहत होगा। उदासीन को – कार्योत्पत्ति के प्रति तटस्थ को – होने वाला ज्ञान कार्य के प्रति अनुकूल होता नहीं अत: यह लक्षण अतिव्याप्त भी नहीं है।

यह भी नहीं कि कर्ता होना अप्रामाणिक है क्योंकि कार्यको लिंग मान कर अनुमान सुकर है। (शंका में (iii) कहा था कि देवदत्तादिनिष्ठ कर्तृत्व से ब्रह्म में कर्तृत्व विलक्षण होने से ब्रह्मकर्तृत्व में प्रमाण नहीं। जब दोनों में एक कर्तृत्व सिद्ध कर दिया तब वह दोष निवृत्त हो गया। अत: अपने में अनुभूत कर्तृत्व-कार्य की व्याप्ति से ब्रह्मकार्य के प्रति ब्रह्म में कर्तृत्व भी सिद्ध हो जाता है। वादी ने चिकीर्षादि असंभव होने से भूतकर्ता में प्रमाण नहीं यह भी कहा था। चिकीर्षादि को कर्तृत्वघटक न मानने से वह दोष भी हट गया। अत: कार्यभूत आकाशादि प्रपंच से उनके कर्ता की सिद्धि भी अनुमान से संभव हो गयी।)

उपादान होना भी सुबोध है: कार्य के तादात्म्य वाला कारण होना उपादान होना है। तादात्म्य का अर्थ पूर्वपरिच्छेद में बता आये हैं कि ऐसे भेद वाला होना जो भेद सत्ता का अवच्छेदक नहीं होता, तादात्म्य कहलाता है (अर्थात् कारण से कार्य के पृथक् सत्त्व का प्रयोजक न होने वाला भेद होने से कार्यकारण में तादात्म्य है)। एवं च तादात्म्यासंभवप्रयुक्त उपादानताऽसंभवतादोष प्रत्याख्यात हो गया।

उक्त रूप वाले तादात्म्य में प्रमाण है 'घड़ा मिट्टी है' यह अभेद-व्यवहार। किं च ब्रह्मकी प्रपंचोपादानता में प्रमाण है 'घड़ा है' यह है से घड़े के अभेद का व्यवहार; 'है' ब्रह्म ही है।

इस विषय में अनुमान भी संभव है कि चेतन उपादान होता है: घटसे अन्य

iv) चिदुपादानकत्वेऽनुमानम्

अनुमानमपि— घटातिरिक्तं कार्यं, स्वोपादानजडातिरिक्तोपादानकं, कार्यत्वाद्, घटवद् इति; मृज्जन्यत्वे बाधात् चेतनोपादानकत्वसिद्धिः। अन्यथा 'सन् घटः स्फुरति' इत्यनुभवाऽयोगात्, उपादानातिरिक्तसत्स्फुरणयोरयोगात्। अत एव न तस्याऽऽभाससमत्वम्। 'तदैक्षत बहु स्यां, प्रजायेय' (छां. ६. २. ३) इति श्रुतिरपि जगदुपादानकर्त्रात्मकं ब्रह्म दर्शयतीति नाऽसम्भवः।

कार्य ऐसे उपादान वाला है जो स्व के (=घटातिरिक्त कार्य के) उपादानभूत जड से अतिरिक्त है, क्योंकि कार्य है, जैसे घड़ा। (दृष्टांत में साध्य है: स्व अर्थात् घटातिरिक्त कार्य पटादि, उनका उपादानभूत जड हुए तन्त्वादि, उससे अतिरिक्त है मिट्टी, वह घटकी उपादान है ही।) घटातिरिक्त कार्यमात्र का उपादान मिट्टी तो है नहीं कि दृष्टांत की तरह पक्ष में साध्य संभव हो अतः बलात् मानना पड़ेगा कि जो कोई भी उपादानत्वेन स्वीकृत जड है उससे अतिरिक्त चेतन भी स्व का उपादान है। यदि सच्चिद्रूप ब्रह्म प्रपंचोपादान न हो तो 'घड़ा है, घड़ा स्फुरता है' यों घट से अभेदेन 'है' और 'स्फुरण' का अनुभव न हो क्योंकि उपादान न बने सत् व स्फुरण का घट से तादात्म्येन व्यवहार असंगत है। 'घड़ा है' आदि की अन्यथानुपपत्तिरूप तर्क से सहकृत होने के कारण ही उक्त अनुमान अनुमानाभास के समान नहीं है। (उक्त अनुमान में घट में साध्य था क्योंकि वहाँ मिट्टी उपादान थी। मिट्टी चेतन से भिन्न होती है। अतः वादी प्रयोग कर सकता था कि उक्त पक्ष, हेतु, दृष्टांत रहते साध्य है 'स्वोपादानजडाऽजडातिरिक्तोपादानकम्'; जड उपादान तन्तु, उनसे अतिरिक्त जो अजड से अतिरिक्त अर्थात् चेतनभिन्न मिट्टी वह दृष्टांत सिद्ध कर देगी किंतु पक्ष में रहने योग्य साध्य असंभव हो जायेगा। अतः वादी का प्रयोग गलत अनुमान है। इसकी तुल्यता सिद्धान्तानुमान में शंकित होती यदि सिद्धांती के पास अनकूल तर्क न होता। अनुकूल तर्क से वह शंका मिट गयी।)

'उसने विचार किया – बहुत हो जाऊँ, उत्पन्न हो जाऊँ' यह श्रुति भी दिखा रही है कि ब्रह्म जगत् का उपादान और कर्ता है। अतः अनुमान में असंभव दोष नहीं। ('विचार किया' से कार्यानुकूलज्ञान वाला कहकर ब्रह्मको कर्ता बता

v) स्पर्शवत्त्वं नोपादानताप्रयोजकम्

न चोपादानस्य स्पर्शवत्त्वनियमाद् न ब्रह्म उपादानम्, अन्यथा कार्ये स्पर्शवत्त्वनियमो न स्याद् इति वाच्यम्; कारणेऽविद्यमानस्यापि अग्निसंयोगादेरिव अदृष्टविशेषात् कार्ये तस्योत्पत्तेः, अप्रयोजकत्वात्। आकाशादौ मनसि च कार्ये तदभावाच्च। आकाशादिकं च कार्यं, द्रव्यत्वाद्, विभक्तत्वाच्च, घटवद्–इत्यनुमानानुगृहीतश्रुत्यादिना कार्यमिति निश्चितम्। न च निरवयवस्य तस्य कार्यत्वानुपपत्तिः घटादिवदुपपत्तेः।

दिया। परमात्मा ही बहुत हो गया अतः जैसे एक मिट्टी घट, कुल्हड़ आदि रूपों से बहुत हो जाती है वैसे ही वह हुआ तो उसकी उपादानता स्पष्ट है। मिट्टी ही घटरूप से पैदा होती है ऐसे ही परमात्मा जगद्रूप से उत्पन्न हो गया, इसलिये भी उपादान है। किं च बहुत रूपों से स्थित है–यह एक कारण कि वह उपादान है, तथा कार्याकार से उत्पन्न हुआ यह उसमें दूसरा कारण है। सिर्फ निमित्ततया प्रसिद्ध कुम्हार न घटादि बहुत रूपों से स्थित होता है न उन रूपों से पैदा होता है।)

उपादान वही हो सकता है जिसमें स्पर्श हो, नहीं तो यह नियम संगत न होगा कि कार्य द्रव्य स्पर्श वाला ही हुआ करता है। ब्रह्म स्पर्शरहित है तो उपादान कैसे? कार्य में स्पर्श है इतने से कारण में अवश्य स्पर्श होना असंगत है क्योंकि जैसे कारणभूत मिट्टी में अविद्यमान लाली पकाने से कार्यभूत घट में होती है ऐसे किसी अदृष्ट से कार्यद्रव्यों में स्पर्श हो सकता है। किं च सभी कार्यभूत द्रव्य स्पर्श वाले होते भी नहीं क्योंकि आकाशादि भी कार्य हैं पर स्पर्शरहित हैं, मन भी कार्य है लेकिन स्पर्शशून्य है। आकाशादि कार्य हैं यह कैसे मानें? मानो तो इसलिये कि श्रुति ने इन्हे कार्य कहा है 'आकाशः संभूतः' 'जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' और श्रुति की बात तर्कसंगत होने से निःशंक हो जाओ। आकाशादिकी कार्यता आनुमानिक भी है: आकाशादि द्रव्य हैं इसलिये एवं विभक्त हैं इसलिये घट की तरह कार्य ही हैं। (द्रव्य होना भी पर्याप्त हेतु है क्योंकि सिद्धांत में आत्मा द्रव्य नहीं है, कम से कम उस अर्थ में द्रव्य नहीं है जिसमें तार्किक उस शब्द का प्रयोग करता है। तार्किकसंगत कर्ता- भोक्ता आत्मा तो यदि द्रव्य है तो कार्य भी है ही क्योंकि

vi) कारणेतरावयवाभाव:

घटादेरपि कारणातिरिक्तावयवाऽभावात्। कारणस्य च आकाशादेरपि सत्त्वात्। न च तन्न्यूनपरिमाणवानेव तदवयव इति न ब्रह्म अवयव इति वाच्यम्; दीर्घतन्त्वारब्धत्रितन्तुकपटादेरनवयवत्वापत्तेः।

vii) कार्ये चिदनुपलब्ध्युपपत्तिः

न च चेतनोपादानत्वे द्रव्यस्य चेतनत्वनियमः कारणगुणानां कार्ये स्वसमानजातीयगुणारम्भनियमादिति वाच्यम्; वैशेषिकाणां चित्रपटा-

कर्तादि होने के लिये जन्योपाधि से तादात्म्य आवश्यक है जो अवश्य जन्य ही हो सकता है। महर्षि ने यावद्विकारादि वियदधिकरणकसूत्र में (२. ३. १. ७) नियम बना दिया है कि 'विभागोऽबाध्यो मातरि सति स लिङ्गं हि विकृतौ' प्रमाता रहते बाधित न होने वाली विभक्तता कार्यता का निश्चायक है क्योंकि जो विभक्त होता है वह कार्य होता है तथा जो कार्य नहीं वह विभक्त भी नहीं होता जैसे आत्मा। विभक्त होने का मतलब है धर्मी के समान सत्ता वाले विभाग का आश्रय होना। विभाग से भेद या तार्किकस्वीकृत गुणविशेष समझ सकते हैं।)

आकाश अवयवरहित है तो कार्य कैसे हो सकता है? घटादिकी तरह आकाश भी सावयव ही है!

घटादि का जो कारण है उससे अतिरिक्त उनके कोई अवयव होते नहीं और कारण आकाशादि का भी है ही अत: जैसे घट सावयव वैसे आकाश! कपालाद्यतिरिक्तांशशून्यता रूप अखण्डता घटादि में भी है ही। कार्य से कम परिमाण वाला ही कार्य का अवयव होता है तो ब्रह्म कैसे अवयव होगा? यह नियम ही नहीं कि अवयव का परिमाण अवयवी से कम होना चाहिये। तीन लम्बे (अर्थात् बड़े परिमाण वाले) धागों से जो कपड़ा बनेगा वह छोटा (अर्थात् कम परिमाण वाला) ही होगा। ऐसे ही कपड़ा बटकर रस्सी बनती है जो कपड़े से कम परिमाण वाली होती है। अत: आकाश का अवयव ब्रह्म है इसमें कोई दोष नहीं।

यदि चेतन ब्रह्म जगद् का उपादान हो तो सारा ही द्रव्यभूत कार्य चेतन क्यों नहीं जबकि कारणगुण कार्य में अपने समान जाति के गुण को उत्पन्न

वयवेषु, परिणामवादिनां च अम्लदध्यारम्भकक्षीरे तदभावात्। सच्चैतन्यानुगमस्य प्रपञ्चे सत्त्वाच्च। चेतनाचेतनविभागस्तु अहङ्कारतद्-भावप्रयुक्तः। किं च विवर्तवादे न कोऽपि नियमः।

viii) भाववैलक्षण्येऽपि सकर्तृकता

न चैवं भावविलक्षणस्य सकर्तृकत्वाद्यनुपपत्तिः; सद्रूपभाव-विलक्षणस्य नञर्थानुल्लिखितधीयोग्यतारूपभावत्वस्य सत्त्वात्। तस्यैव सोपादानताप्रयोजकत्वात्। सत्त्वरूपभावत्वस्य ध्वंसेऽपि सत्त्वात्, सत्ताजातेः सत्त्वे च तस्य अनिर्वचनीयप्रपञ्चेप्यविरोधात्।

करते हैं? ऐसा नियम नहीं क्योंकि वैशेषिकमत में जो चित्रवर्णका पट तैयार होता है उसके अवयव अर्थात् तंतु अपने गुणों के अर्थात् वर्णों के सजातीय वर्ण पट में उत्पन्न नहीं करते वरन् चित्र वर्ण उत्पन्न करते हैं जो सजातीय नहीं। (शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश से अतिरिक्त चित्र रूप काणादों को मान्य है।) खट्टे दही के उत्पादक दूध में मिठास है अत: वहाँ भी इस नियम का व्यभिचार है इसलिये एतादृश नियम ही अमान्य है। वास्तव में तो चैतन्य आत्मा का गुण है भी नहीं वरन् स्वरूप है और कारण का स्वरूप कार्य का धर्म हुआ नहीं करता अन्यथा तन्तु का स्वरूप पट का धर्म होने लगेगा! धर्मविधया उपस्थित न होने पर भी कारणस्वरूप कार्य में अनुगत होता है और सत्ता-स्फूर्ति का अनुगम जगत् में है ही तभी घड़ा है, स्फुर रहा है आदि व्यवहार है। जो तो यह प्रसिद्धि है कि देवदत्तादि चेतन हैं, घटादि जड है उसका इतना ही मतलब है कि देवदत्तादि में अहंकार है जो घटादि में नहीं। चेतन का अननुगम जड में नहीं। विचार करें तो जड रस्सी में चेतन सर्प का या चेतन पुरुष में जड ठूँठ का आरोप प्रसिद्ध होने से विवर्तवाद में ऐसा कोई नियम नहीं कि कारण की खासियतें कार्य में दीखें ही। (एवं च आरंभ, परिणाम और विवर्त तीनों प्रसिद्ध वादों से यह नहीं कह सकते कि जगत् चिदुपादानक नहीं है।)

वेदान्ती प्रपंचको भाव से अन्य मानता है अत: इसका कर्ता और उपादान हो यह संभव नहीं-यह प्रश्न आक्षेप में उठा था। उसका उत्तर है: 'भावविलक्षण' से हमारा कहना है कि प्रपंच सद्रूप नहीं है। सद्रूपता-आत्मरूप भावता से अलग भी एक भावता प्रसिद्ध है-'नहीं' शब्द के अर्थका उल्लेख

परमाणूपादानताभञ्जनम्

प्रपञ्चस्योपादानान्तराभावादपि ब्रह्मैवोपादानम्। न तावत् परमाणव उपादानम्; असंयुक्तानां तेषामहेतुत्वात्। निरवयव एकस्मिन्नसङ्कीर्णावच्छेदकद्वयरहितेऽव्याप्यवृत्तिसंयोगाभावात्। संयोगश्च न व्याप्य वर्तते, तथाननुभवात्। गगने कर्णशष्कुलीसंयोगस्य व्याप्यवृत्तावतिप्रसङ्गात्। परमाणुसंयोगस्य व्याप्य वृत्तौ तत्कार्ये तदधिकपरिमाणाभावप्रसङ्गः। एकस्यापरेण बाह्याभ्यन्तरेण व्याप्तौ तावन्मात्रत्वप्रसङ्गात्। एवं द्व्यणुकत्रयमपि एकपरमाणुमात्रपरिमाणमिति सर्वमदृश्यं स्यात्।

हुए बिना जो ज्ञान का विषय बनने योग्य हो वह भी भाव कहलाता है। ('नहीं' के अर्थ का साथ छोड़ा हुआ घड़ा 'घड़ा है' आदि ज्ञानों का विषय होने से भाव पदार्थ है। ध्वंसादि का ज्ञान नियमत: किसी न किसी चीज़ के 'नहीं होने' रूप से ही होता है अत: वे अभावपदार्थ हैं।) यह दूसरी भावरूपता ही इसमें प्रयोजक है कि भावरूप वस्तु का कोई उपादान (और कर्ता) हो। सत्त्वरूप भावता तो ध्वंस में भी है क्योंकि वह भी व्यवहार में बाध्य नहीं, लेकिन एतावता ध्वंस सोपादान नहीं हो जाता। यदि सत्ताजाति होने को भाव होना मानो तो वह अनिर्वचनीय प्रपंच में भी रहे तो क्यों कोई विरोध होगा! (जो तो यह कहा था कि अनिर्वचनीय सर्पादि के कर्ता व उपादान नहीं होते वह ठीक नहीं। अध्यास के लिये संस्कार चाहिये अत: भ्रमद्रष्टा में अध्यस्त के लिये अनुकूल ज्ञान मिल जाने से वही उसका कर्ता होता है। उपादान तो अज्ञान पहले बता ही चुके हैं।)

ब्रह्मेतर कुछ प्रपंच का उपादान होने लायक है भी नहीं इसलिये भी उसी को उपादान कहना संगत है। परमाणु जगत् के उपादान नहीं हो सकते क्योंकि बिना परस्पर संयोग के वे हेतु बन सकते नहीं और संयोग उनका हो सकता नहीं। हर एक परमाणु निरवयव है अत: उसमें ऐसे अनेक अवच्छेदक भी नहीं हो सकते जो परस्पर असंकीर्ण (व्यधिकरण) हों। ऐसे परमाणु में संयोग – जो अव्याप्य वृत्ति होता है, समूचे पर नहीं रहने वाला गुण है – हो नहीं सकता। संयोग व्याप्त करके – समूचे पर – रहे यह मान्य नहीं, ऐसा अनुभव भी नहीं होता कि वह व्याप्य रहता हो। आकाश में कर्णगोलक का संयोग यदि व्याप्यवृत्ति हो तो सर्वत्र शब्दश्रवण हो जाये! किं च परमाणुओं का संयोग

परमाणावमानम्

नापि परमाणुसद्भावे प्रमाणमस्ति। सर्गाद्यकालीनजडोपादानानुमानस्य लाघवेनैकविषयतयाऽस्मदभिमताऽज्ञानविषयत्वात्। न च कार्याणाम् अवयवसंयोगारब्धत्वनियमाद् नैकस्मादुत्पत्तिरिति नित्यानेकावयवसिद्धिरिति वाच्यम्; अनेकावयवारभ्यस्य अवयवसंयोगारब्धत्वेऽपि रूपादिवद् एकारभ्यस्य अन्यथा सिद्धिसंभवेन कारणबहुत्वमहत्त्ववत् कार्यमात्रेऽप्रयोजकत्वात्। न च सदा कार्यप्रसङ्गः; अदृष्टादिनिमित्तानुरोधेन कदाचित्तदुपपत्तेः। नित्याणुवादेऽपि तथैव वक्तव्यत्वात्। नाशोऽपि अदृष्टनाशाद् आद्यकार्यस्योपपद्यते।

यदि व्याप्य रहे तो उससे होने वाला कार्य भी परमाणु से बड़ा नहीं हो सकेगा क्योंकि जब दोनों परमाणु बाहर-भीतर से एक दूसरे को घेर लेंगे तब दोनों मिले हुए भी परमाणुमात्र ही परिमाण वाले रहेंगे। तब तीन द्व्यणुक भी परमाणुमात्र ही रहेंगे जिससे घटादि सभी कुछ अदृश्य ही होने की आपत्ति आयेगी। अत: परमाणुसंयोग बेतुकी असंभावना है जिससे परमाणुकारणवाद अत्यंत असंगत है।

परमाणु हैं इसमें कोई प्रमाण नहीं। सृष्टि के आदिकाल के जड कार्य का उपादान परमाणु ही हो सकता है ऐसा जो अनुमान से कहते हैं वह ठीक नहीं क्योंकि आदि उपादान लाघवात् एक होना ज्यादा संगत है तथा अनुमान भी हमें स्वीकृत अविद्या को ही सिद्ध कर सकता है, अनंत परमाणुओं को नहीं। कार्य अवयवसंयोग से उत्पन्न होते हैं अत: एक कारण से नहीं पैदा होंगे फलत: उनके अनेक अवयव मानने पड़ेंगे जो आगे सावयव हों तो अनवस्था होगी इसलिये निरवयव होंगे जिससे उन्हें नित्य मानना पड़ेगा–यों परमाणुसिद्धि हो सके यह संभव नहीं। जहाँ अनेक अवयवों से उत्पत्ति प्रमीयमाण हो वहाँ अवयवसंयोग से जन्म यदि मान भी लें तो भी एक कारण से भी कार्यारंभ अन्यथा अर्थात् अवयवसंयोग के बिना ही सिद्ध हो सकता है जैसे रूपादि एक पट से उत्पन्न हो जाता है क्योंकि पट ही उसका समवायी है, पट से रूपोत्पत्ति के लिये संयोग की जरूरत नहीं पड़ती। अत: जैसे कारण का बहुत्व और कारण का महत्परिमाण कार्यमात्र के लिये अनावश्यक है वैसे कारणका न्यून परिमाण वाला होना, अवयवसंयोग आदि भी अनावश्यक हैं।

अतीन्द्रियाद्यकार्यव्यवस्था

अन्यथाऽतीन्द्रियाद्यकार्यं न सिद्ध्येत्, परमाणुभिरेव स्थूलोत्पत्तिसम्भवात्। न च महत्कार्यं कार्यद्रव्यारभ्यमिति नियमात्तत्सिद्धिः; कार्यमात्र इव तत्राप्यनियमेन एतस्य प्रक्रियामात्रत्वात्।

तच्चातीन्द्रियं पृथिव्यादिसूक्ष्मभूतमेकमनेकं वास्तु। एकस्यापि घटस्य मध्ये पाटनेन विभागवत् भूतस्यापि तत्सम्भवेन पञ्चीकरणाद्युपपत्तेः। भूतेषु 'आत्मन आकाशः सम्भूत' इत्येकत्वनिर्देशाल्लाघवादेकमेव न्याय्यम्।

एक ही कारण है तो हमेशा कार्य क्यों नहीं पैदा होता रहता? जैसे नित्य परमाणु मानने पर अदृष्ट आदि निमित्त ही कार्यकादाचित्कता के नियामक हैं ऐसे एककारणवाद में भी वे कहे जा सकते हैं। आदिकार्य का नाश भी कारणविभागादि की अपेक्षा नहीं रखता वरन् अदृष्टनाश से ही संपन्न हो जाता है।

आद्य कार्य तार्किक मानते हैं द्व्यणुक को किंतु यदि पूर्वोक्त नियम से परमाणु ही संयोग से आरंभक बन सकते हैं तो वे ही त्र्यणुक उत्पन्न कर देंगे, बीच में द्व्यणुक का क्या काम? परिमाणारंभक संख्या द्वित्व है यही मानना कोई जरूरी नहीं, त्रित्व को मानने में कोई बाधक नहीं। महत्परिमाणक कार्य को कार्यभूत द्रव्यसे ही उत्पन्न होना चाहिये इसलिये द्व्यणुक का उपयोग है ऐसा भी नहीं क्योंकि जैसे कार्यमात्र कार्यद्रव्य से पैदा होता है यह नियम नहीं वैसे महत्कार्य भी उसके बिना उत्पन्न हो सकता है। उक्त नियम तो मनमानी प्रक्रिया रची गयी है।

श्रुत्यादिबोधित अतीन्द्रिय आद्य कार्य पृथ्वी आदि सूक्ष्म महाभूत हैं जिन्हें प्रत्येक को एक एक ही मानना उचित है अर्थात् पृथ्व्यादि के बहुतेरे परमाणु उत्पन्न हुये ऐसा मानना ठीक नहीं। जैसे एक घड़ा बीच से फोड़ दें तो दो टुकड़े हो जाते हैं या कपड़ा फाड़कर कई टुकड़े किये जाते हैं वैसे प्रत्येक महाभूत के हिस्से करके उन्हे विशिष्ट अनुपात में मिलाकर ईश्वर पंचीकरण कर लेते हैं यह मानना संगत है। 'आकाश उत्पन्न हुआ' आदि उत्पत्तिश्रुतियों में भूतों का एकवचन में उल्लेख है इसलिये प्रत्येक भूत को

प्रकृतिरनुपादानम्

नापि प्रकृतिरुपादानम्; स्वतन्त्रजडप्रकृतौ प्रमाणाभावात्, जडकार्यस्य श्रुत्यवगतमाययाप्युपपत्तेः। चेतनोपादानत्वश्रुतिविरोधेन साङ्ख्यावगममात्रात् तदसिद्धेः।

अज्ञानमेव माया

अत एवास्मदभिमताज्ञानविलक्षणमायोपादानमिति निरस्तम्; मायाशब्दस्य विक्षेपशक्तिमतः साधारणभ्रमानुकूलशक्तिमतो वाऽज्ञानस्य वाचकत्वात्। उपादानब्रह्मपरवेदान्तेषु 'मायां तु प्रकृतिम्' (श्वे. ४.१०) इति जडप्रकृतौ श्रूयमाणमायाशब्दस्यार्थान्तरत्वाऽसम्भवात् 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' (श्वे. १. १०) इति तस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वश्रवणाच्च। न ह्यज्ञानान्यस्य तत् सम्भवति। ऐन्द्रजालिकनिर्मितमिथ्यावस्तुगोचरमायाशब्दस्य तदन्यस्मिन्नसम्भवात्। गजादीनां व्यावृत्तत्वेन एकमायाशब्दवाच्यत्वायोगेन तदनुगतानुस्यूतस्यैव मायाशब्दार्थत्वात्। अन्यत्रापि क्वचित्प्रयोगोऽस्ति चेद् गौण एव।

एक ही मानना ठीक है, इसमें लाघव भी है। यदि कोई इन्हे सावयव ही उत्पन्न होने वाला मानने का आग्रही हो तो भी मायिकता में अंतर न आने से उसके निरास के लिये विशेष प्रयास व्यर्थ है।

सांख्यों को अभिमत प्रधान भी जगदुपादान नहीं क्योंकि चेतन में अनध्यस्त जड प्रधान अप्रामाणिक पदार्थ है। जड कार्य श्रुतिबोधित माया से उत्पन्न हों यही संगत है। श्रुति चेतन को सर्वोपादान बताती है अतः उससे विरुद्ध कापिलकल्पित प्रधानरूप जगदुपादान अमान्य है।

कुछ वादी श्रुतिसंमत अज्ञान को छोड़कर ईश्वर की कोई अजीबो गरीब शक्ति माया मानते हैं तथा उसे जड उपादान कहते हैं। किन्तु वह गलत है। मायाशब्द विक्षेप करने की सामार्थ्य वाले अर्थात् अन्यथा ज्ञान कराने वाले अज्ञान को अथवा ऐसी शक्ति वाले अज्ञान को कहता है जिससे होने वाले भ्रम अनेक लोगों को दीख सकें जैसे बहुतों को भ्रम में डालने वाले जादूगर को मायावी कहते हैं। हर हालत में माया है अज्ञानका ही नाम। उपादान में तात्पार्य वाले ब्रह्मबोधक वेदान्तप्रकरणों में मायाशब्द अज्ञानार्थक

ब्रह्मणो निमित्तोपादानता

सर्वस्मिन्नेतस्मिन् पक्षे घटादौ 'स्फुरति' 'सन्' इति प्रतीत्यनुपपत्तिः; चैतन्यातिरिक्तसत्स्फुरणशब्दार्थाभावात्। तस्य चानुपादानत्वे घटादिता-दात्म्यायोगात्। अत एव सिद्धान्त्यभिमताज्ञानमेवोपादानमस्तु, न चैतन्यमिति निरस्तम्; श्रुतिविरोधादनुभवविरोधाच्च। तस्मात् सिद्धं ब्रह्मण उभयविधं कारणत्वमिति।

लक्षणनिष्कर्षः

तथा च – भूतोपादानत्वे सति कर्तृत्वं ब्रह्मलक्षणम्।

ही है क्योंकि माया को ज्ञान से हटने वाला कहा है जो अज्ञान में ही घटता है। जादूगर द्वारा निर्मित मिथ्या चीजों को भी जो माया कहते हैं वह भी इसीलिये कि वे सचाई नज़रन्दाज़ होने पर ही दीखती हैं, सचाई जानने पर उनका असत्यत्व प्रकट हो जाता है। ऐन्द्रजालिकनिर्मित हाथी आदि अलग-अलग पदार्थ 'माया' इस एक शब्द के वाच्य नहीं वरन् उन सबमें तादात्म्येन अनुगत और सभी मिथ्या वस्तुओं में अनुस्यूत अज्ञान ही माया शब्द का वाच्य है। उससे अतिरिक्त को उपचार से ही माया कहा जाता है।

चेतन को कारण न मानने वाले सभी पक्षों में एक सामान्य दोष है कि वे 'घड़ा है', 'घड़ा स्फुरता है' इन अनुभवों को संगत नहीं बना पाते क्योंकि चेतन से अन्य तो है शब्द और स्फुरनाशब्द का अर्थ कुछ नहीं है और चेतन यदि उपादान न हो तो उसका – तद्रूप सत्-स्फूर्ति का – घटादिसे अभेदेन व्यवहार होना युक्तियुक्त नहीं होता। इसीलिये सिर्फ अज्ञान को उपादान नहीं मान सकते, चेतन को उपादान मानना पड़ता है, तभी वेद और अनुभव से अनुकूल व्यवस्था होती है। अतः जगत् का निमित्त व उपादान दोनों ब्रह्म ही है।

इस प्रकार ब्रह्मका लक्षण बना – महाभूतों का उपादान कारण होते हुये जो (उनका) कर्ता है वह ब्रह्म है। कुम्हारादि में लक्षण न जाये इसके लिये 'भूतों का उपादान होते हुए' यह जरूरी है क्योंकि लक्षण में कर्ताशब्द से कर्तारूप में प्रसिद्ध का ग्रहण होगा जिससे कुम्हारादि भी समझे जायेंगे चाहे

कुलालादावतिव्याप्तिपरिहाराय 'भूते'ति। कर्तृत्वमात्रं च लक्षणे विवक्षि-तमिति भवति तेन विनाऽतिव्याप्तिः। मायायामतिव्याप्तिनिवृत्तये 'कर्तृत्वे'ति।

मायाकारणतासमर्थनम्

न च माया कारणमेव न भवतीति वाच्यम्; अन्वयव्यतिरेकाभ्यां लोकेऽज्ञानस्योपादानत्वेन प्रपञ्चेऽपि तथात्वात्। न च लोकेप्यज्ञानं निमित्तमिति वाच्यम्; रजताद्युत्पत्तिस्थितिप्रयोजकस्योपादानत्वात्। कार्यानुगतजाड्यस्य अज्ञानान्यस्य अभावेन कार्यानुगतकारणत्व-लक्षणोपादानत्वस्य तस्मिन् सत्त्वात्। अज्ञानस्योपादानत्वे बाधकाभावात्। 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' (श्वे. ४. १०) इति श्रुतिसिद्धं मायोपादानत्वम् इति एकं मतम्।

शक्तिविधया तदुपयोगः

अपरं तु ब्रह्मैवाद्वितीयमुपादानम्, अज्ञानं तु तच्छक्तितया

सांख्यादि वादिविशेष का पारिभाषिक कर्तृत्व कुम्हारात्मा में न रहता हो! माया में लक्षण न जाये अतः कर्ता होना भी लक्षण में कहा गया। माया परतंत्र होने से कर्ता नहीं है।

यह नहीं कह सकते कि माया कारण ही नहीं बनती कि अतिव्याप्ति का भय न हो। लोक में ही अन्वय-व्यतिरेक से आध्यासिक चीजों के प्रति माया उपादान है यह निश्चित हो जाता है अतः प्रपंच के प्रति भी उसकी उपादानता संगत है। लोकसिद्ध अध्यस्तों के प्रति अज्ञान निमित्त ही होता हो यह मानना ठीक नहीं क्योंकि रजतादि की उत्पत्ति तथा उसकी स्थिति का प्रयोजक होने से उसे उपादान ही मानना उचित है। (अज्ञान रहते ही वे स्थित रहते हैं इतना ही नहीं लीन भी किसमें होते हैं? पता नहीं। अतः लयाधार भी होने से अज्ञान उनका उपादान है।) कार्यों मे अनुस्यूत जडता भी अज्ञान ही है अतः उपादानको कार्य में अनुगत होना चाहिये इस नियम से भी वह उपादान है। कोई विरोधी प्रमाण है भी नहीं जो सिद्ध करे कि यह उपादान नहीं है। वेद तो उपादानवाचक प्रकृतिशब्द से माया को कहता है ही। माया की कारणता समझाने का यह एक ढंग है जिसमें परिणामी उपादान माया बतायी जाती है।

अन्य विचारक मानते हैं कि वेद ने अज्ञान को शक्ति कहा है और शक्ति

तत्कारणतानिर्वाहकम्, 'देवात्मशक्तिम्' (श्वे. १. ३) इत्यज्ञाने शक्तिशब्दप्रयोगाच्छक्तेश्चाकारणत्वादिति। अस्मिन् मते तूपादानत्वमेव लक्षणम्।

लोकेऽपि कर्त्रुपादानाऽभेदः

न च लोके कर्त्रुपादानयोर्भेदनियमाद् नैकस्य तत्संभव इति वाच्यम्; लोकेऽपि शरीरावच्छिन्नस्य कर्तृत्वं मृदवच्छिन्नस्य तदुपादानत्वमिति तदभेदात्। न चैवमन्यथासिद्धत्वाद् मृदादेरनुपादानत्वप्रसङ्गः; इष्टापत्तेरिति केचित्। अपरे तु तदपि कार्यानुगमाद् अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुपादानमित्याहुः।

ब्रह्मणो निर्विकारता

नन्वेवं ब्रह्मणः सविकारत्वापत्तिः इति चेद्? न, कल्पित-विकाराश्रयत्वस्येष्टत्वात्। न चैवं ब्रह्मणो निर्विकारत्वश्रुतिविरोधः; वास्तवविकाराभावपरं तदिति चेत्? सिद्धांते वास्तवविकारस्य अभावेन तन्निषेधस्याऽनुपपत्तेः। न च प्रपञ्चे वास्तवत्वनिषेध इति वाच्यम्;

कहीं उपादान कारण हो यह देखा नहीं गया है अतः अद्वितीय ब्रह्म ही उपादान है तथा उसकी शक्ति होने से ब्रह्म की कारणता का वह निर्वाह करती है अर्थात् प्रयोजक बनती है। इस ढंग में ब्रह्मलक्षण है प्रपंच के प्रति उपादानता क्योंकि माया में अतिव्याप्ति होनी नहीं कि कर्तृत्व भी जोड़ना पड़े।

लोक में कर्ता और उपादान पृथक् मिलते हैं तो एक ब्रह्म दोनों कैसे हो सकता है? लोक में भी शरीर के अवच्छेद से चेतन कर्ता और वही मृत् के अवच्छेद से उपादान है अतः इनका भेद ही असिद्ध है। तो क्या अन्यथासिद्ध होने से-उपादान न होकर उसके अवच्छेदकमात्र होने से – मिट्टी आदि घटादिके प्रति उपादान ही नहीं हैं? कुछ आचार्य तो कहते हैं कि मिट्टी आदि को उपादान मानना आवश्यक है ही नहीं, उनसे अवच्छिन्न ब्रह्म ही कारण है। अन्यों का कहना है कि कार्यभूत घटादि में अनुगति मिलने से और नियमित अन्वय-व्यतिरेक होने से-घट है तो मिट्टी है ही, मिट्टी नहीं तो घट भी नहीं है-उन्हें भी उपादान माना जाये तो कोई हर्ज नहीं।

कारण होने पर ब्रह्म सविकार क्यों नहीं होगा? इसलिये कि कल्पित

अस्थूलादिवाक्ये स्थूलादिप्रपञ्चस्यैव निषेधश्रवणत्, निर्धर्मकब्रह्मवादे वास्तवत्वधर्मस्य अत्यन्ताऽसत्त्वादिति वाच्यम्; निषेधवाक्यं ब्रह्मणि प्रपञ्चात्यन्ताभावं कालत्रयेऽपि प्रमाणयति, तच्च कल्पित-प्रपञ्चस्योपपन्नमेव, तस्य शुक्तिरजतादेरिव स्वात्यन्ताभावे तद्वति वाऽवि-रोधात्। प्रपञ्चस्य कल्पितत्वं च सृष्टितन्निषेधश्रुतिसामर्थ्यात् सिद्धम्।

मिथ्यात्वेऽनुमानम्

अनुमानमपि— अविद्यातिरिक्तदोषाऽजन्यं जडं, मिथ्या, दृश्यत्वात्, शुक्तिरजतवत्। दृष्टान्तस्तु साधित एव। दृश्यत्वं च चैतन्यविषयत्वमिति न ब्रह्मणि व्यभिचारः। साध्यमपि प्रागेव दर्शितम्।

विकारों वाला होना वास्तव में सविकार होना है नहीं अतः शास्त्रसंमत है। निर्विकारताबोधक श्रुतियों का विरोध इसलिये नहीं कि उनसे यह समझ सकते हैं कि वास्तविक विकारों से वह वर्जित है। वेदांती वास्तविक विकार मानता ही नहीं तो उसका निषेध ब्रह्म में कैसे स्वीकारेगा? यह भी नहीं कि प्रपंच की वास्तविकता के निषेध में तात्पर्य हो क्योंकि 'अस्थूलम् अनणु' आदि वाक्य स्थूलादि प्रपंचका ही निषेध करते हैं, तद्गत वास्तवतादि धर्म का नहीं। ब्रह्म को निर्धर्मक मानने से वेदांत में वास्तवता कोई धर्म है भी नहीं। अतः ब्रह्म की सविकारतापत्ति क्यों नहीं? ब्रह्म सविकार इसलिये नहीं कि नेत्यादि निषेधवाक्य यह प्रमा उत्पन्न करा देते हैं कि ब्रह्म में तीनों कालों में प्रपंचका अत्यन्ताभाव है। प्रपंच कल्पित होने से यह संगत भी है क्योंकि शुक्तिरजतकी तरह वह अपने अत्यंताभाव में (यदि अभावको अधिकरणरूप मानों तो) या अपने अत्यंताभाव वाले में (यदि अभाव धर्म मानो तो) रहे इसमें कोई विरोध नहीं। प्रपंच कल्पित है यह इसीसे सिद्ध है कि वेद ने सृष्टि कही है और उसका निषेध भी किया है (यदि सत्य होती तो निषेध न होता, असत्य होती तो सृष्टि न होती अतः उभयभिन्न मिथ्या है।)

सृष्टि-निषेध श्रुतियों की अन्यथानुपपत्ति से सिद्ध मिथ्यात्वमें अनुमान भी सुकर है – अविद्या से अतिरिक्त दोष से अजन्य जो जड है वह मिथ्या है क्योंकि दृश्य है जैसे शुक्तिरजतादि। (अविद्येतर चाकचिक्यादि दोष से जन्य शुक्तिरजतादि की व्यावृत्ति के लिये पक्ष में विशेषण है, इससे दृष्टान्तलाभ हो

बाध्यत्वं नोपाधिः

न च बाध्यत्वमुपाधिः। क) तद्यदि स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्; तदेव साध्यमिति क्व तस्य साध्यव्यापकता? लाघवतर्केण दृश्यमात्रे तन्निर्णयात् साधनव्यापकश्च। परस्यैतादृशाप्रसिद्धेश्च।

ख) नाऽपि स्वविशेष्यनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्; परपक्षे सत्यस्यापि सम्भवेन तस्य मिथ्यात्वाऽप्रयोजकत्वात्। अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वमात्रस्यैव तत्प्रयोजकत्वे संभवति गौरवेणाऽतत्प्रयोजकत्वाच्च।

जाता है। प्रपंच के प्रति तो अविद्या ही दोष रूप से भी हेतु है।) दृष्टांत तो ग्रंथारंभ में साधा जा चुका है और साध्यभूत मिथ्यात्व भी परिभाषित हो चुका है। दृश्यता का अर्थ है चैतन्य द्वारा विषय किया जाना; ब्रह्म में वृत्तिविषयता होने पर भी चैतन्यविषयता नहीं अतः दृश्यत्व-मिथ्यात्व में व्यभिचार नहीं।

उक्त अनुमान में बाध्यता उपाधि नहीं दी जा सकती। क) बाध्यता का मतलब अगर है अपने ही अधिकरण में होने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होना तब वह उपाधि नहीं क्योंकि वही तो साध्य है, उसे साध्य का व्यापक नहीं कह सकते क्योंकि स्वयं को स्वयं का व्यापक नहीं कहा जा जाता। लाघवतर्क से जब सारे ही दृश्य में मिथ्यात्व या बाध्यत्व है तो उसे साधन का अव्यापक भी खोजने को जगह नहीं मिलेगी। (लाघवतर्क अर्थात् बाध्यत्व में दृश्यतामात्र को प्रयोजक मानना, इससे अन्य किसी धर्म को नहीं क्योंकि धर्मांतर तो क्वाचित्क होंगे, सर्वत्र तो दृश्यत्व ही मिलेगा।) किं च गैर वेदान्ती तार्किकादि के अनुसार उक्त बाध्यत्व अप्रसिद्ध होने से उपाधि रूप से उपस्थापनीय नहीं है। (अप्रसिद्ध इसलिये कि वह शुक्तिरजतादि को भी इस ढंग का बाध्य नहीं मानता।

ख) अपने विशेष्य में विद्यमान अत्यंताभाव का प्रतियोगी होना बाध्यता हो, जो तार्किकमत में अप्रसिद्ध नहीं क्योंकि भ्रमविषयीभूत रजत के विशेष्यभूत इदमंश में विद्यमान अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी रजत मान्य ही है, और उसे उपाधि कह सकें यह भी संभव नहीं। उपाध्यभाव से साध्याभाव तभी सिद्ध होगा जब उपाधि साध्यका प्रयोजक हो जैसे गीला ईंधन धुएँ का

ग) नाऽपि ज्ञाननिवर्त्यत्वं बाध्यत्वम्; प्रपञ्चेऽपि तत्सत्त्वात्।

उपाध्यन्तरनिरासः

अत एव न दोषजन्यत्वादिकमुपाधिः; दोषजन्यज्ञानविषयत्वमुभयत्रास्ति, न चोभयत्रेति सोपाधिः।

अप्रयोजकतानिषेधः

नापि अप्रयोजको हेतुः; लाघवेन दृश्यत्वमात्रे तद्व्याप्तिग्रहात्, अन्यथा दृश्यत्वानुपपत्तेः, न हि ज्ञानेन ज्ञेयस्य सम्बन्धं विना तद्विषयत्वं सम्भवति, स्वरूपसम्बन्धश्चान्यत्र विस्तरेण निरस्तः।

प्रयोजक होता है। किन्तु तार्किकमत में उक्त बाध्यता सत्य रजतादि में भी संभव है अतः मिथ्यात्व का प्रयोजक ही नहीं कि अपने अभाव से साध्याभाव को आवश्यक करे। जब सिर्फ अत्यंताभावप्रतियोगिता को मिथ्यात्वका प्रयोजक माना जा सकता है तब गौरवग्रस्त होने से स्वविशेष्यादि विशेषणों समेत उसे प्रयोजक कहना गलत है।

ग) ज्ञान से समाप्त होना भी उपाधिभूत बाध्यता नहीं क्योंकि उसे हम प्रपंच में स्वीकारते ही हैं अतः साधन की अव्यापक नहीं है।

साधनव्यापक होने से ही दोषजन्यता आदि को उपाधि नहीं कह सकते। दोषजन्य ज्ञान का विषय होना पक्ष और दृष्टान्त दोनों में हैं और क्योंकि दोनों में है इसलिये उक्त हेतु सोपाधि नहीं है। (अविद्यारूप दोष से प्रपंच और मंदांधकारादि दोष से सर्पादि जन्य है। अपने अध्यास में स्वयं अविद्या भी हेतु मानी जाये तो हानि नहीं। यद्यपि दोषजन्य ज्ञान का विषय शुक्तिरजतादि को कहना नहीं बनता क्योंकि साक्षिभास्य होने से वे जन्यज्ञानविषय हों यह उचित नहीं तथापि जन्य से प्रयुक्त समझ लेने से उभयत्र दोषप्रयुक्तज्ञानविषयता संभव हो सकती है। दोषजन्यत्व आदि--इस 'आदि' से प्रमाणाऽविषयता समझनी चाहिये। प्रमाण से यदि उपस्थितार्थक ज्ञान विवक्षित हो तो शुक्तिरूप्यस्थल में भी स्वीकृत है क्योंकि हम वहाँ अनिर्वचनीय शुक्ति मानते ही हैं। यदि अबाधितार्थक ज्ञान विवक्षित हो तो प्रपंच में भी नहीं है क्योंकि प्रपंच भी बाध्य है यह श्रुति से निर्णीत है।)

दृश्यता हेतु मिथ्यात्वका प्रयोजक न हो यह नहीं कह सकते क्योंकि दृश्यत्वको ही मिथ्यात्व का व्याप्य स्वीकारने में लाघव है। किं च यदि दृश्य

बाधोद्धारः

नापि धर्मिग्राहकप्रमाणबाधः; प्रत्यक्षादिसिद्धस्य प्रपञ्चेऽर्थक्रियायोग्यत्वस्वरूपस्यानुमानेनाऽनिवारणात्। अनुमानगोचरमिथ्यात्वाभावस्य प्रत्यक्षाद्यविषयत्वात्।

दृश्यत्वस्य प्रयोजकतासमर्थनम्

तस्माद् अधिष्ठानचैतन्येन अन्तःकरणतद्वृत्त्युपहितचैतन्याभेददशायामेव आविद्यकतादात्म्येन अपरोक्षो विषयो भवतीति भवति दृश्यत्वं तत्र प्रयोजकम्। परोक्षं तु फलव्याप्यत्वाभावाद् न ज्ञानज्ञेययोस्तादात्म्यम्

मिथ्या न हो तो वह चिद्भास्य ही नहीं हो पायेगा क्योंकि ज्ञान से ज्ञेयका संबंध हुए बिना ज्ञेय को ज्ञानविषय कह नहीं सकते तथा ज्ञानज्ञेयका एक ही सम्बन्ध संभव है कि ज्ञानपर ज्ञेय अध्यस्त हो , इससे अन्य कोई संबंध उपपन्न नहीं। उनका परस्पर स्वरूपसंबंध हो यह नहीं कह सकते क्योंकि स्वरूप संबंध नहीं होता यह विस्तार से अन्यत्र सिद्ध किया गया है।

प्रपंचरूप पक्ष के ग्राहक प्रत्यक्षादि प्रमाण से उक्त साध्य (मिथ्यात्व) बाधित भी नहीं है। प्रत्यक्षादि प्रपंच मे अर्थक्रियायोग्यता ही सिद्ध करते हैं जिसका अनुमान निषेध नहीं कर रहा और अनुमान जिस मिथ्यात्व को सिद्ध कर रहा है उसका न होना प्रत्यक्षादि का विषय होने योग्य नहीं। (अर्थक्रियायोग्य का सीधा अर्थ है-कामचलाऊ; इस लायक होना कि किसी प्रयोजन वाले कार्य को सपन्न कर दे। मिथ्या का अर्थ है वास्तविक सत्य न होना। अत: दोनों का विरोध नहीं। तब मिथ्यात्व से अंतर क्या पड़ा? अवास्तविक होने से वह आस्थाका विषय नहीं रहता यही अन्तर पड़ा अर्थात् उसकी प्रधानता हट गयी केवल उपयोगिता रह गयी जिससे रागादि आग्रह शिथिल पड़ गये।)

एवं च अधिष्ठानचैतन्य से अन्तःकरण व उसकी वृत्ति से उपहित चैतन्य का अभेद होने पर ही अविद्याहेतुक तादात्म्य से अपरोक्ष वस्तु चेतन का विषय होती है अत: दृश्यत्व को मिथ्यात्व का प्रयोजक कहना उचित है। परोक्ष ज्ञान ज्ञान-ज्ञेयके तादात्म्य की अर्थात् ज्ञेयके ज्ञान में अध्यास की अपेक्षा नहीं रखता। क्योंकि वहाँ फलव्याप्ति नहीं होती। (अथवा ज्ञान-ज्ञेयका परोक्ष जो तादात्म्य वह ज्ञान में ज्ञेयके अध्यास की अपेक्षा नहीं रखता। 'वह्नि'

अध्यस्तत्वमपेक्षते, किन्तु अविद्या सम्बन्धं विनैव अतीतादेरिव तत्र व्यवहारं जनयति, अचिन्त्यशक्तित्वात् तस्याः। परपक्षेऽपि तत्र सम्बन्धाऽसम्भवात्। न हि विनष्टघटादीनां ध्वंसेन ज्ञानेन वा कश्चित् सम्बन्धोऽस्ति।

कार्यत्वानुपपत्तिर्मिथ्यात्वे मानम्

एवं मिथ्यात्वं विना कार्यत्वानुपपत्तिः। न हि प्रागसत उत्पत्तिः सम्भवति, शशशृङ्गादेरपि तत्प्रसङ्गात्। उत्पत्तेः प्राक् परपक्षे घटादिव्यवहारस्य शशशृङ्गादिव्यवहाराद् अविशेषात्। नापि सत उत्पत्तिः; विरोधात्, प्रागुपलम्भप्रसङ्गाच्च।

यह ज्ञान भी है और अर्थ भी अत: तादात्म्य तो है पर वहाँ उक्त अध्यास जरूरी नहीं।) परोक्ष स्थल में तो अविद्या ही सम्बन्ध के बिना ही परोक्ष विषयका व्यवहार (उसकी ज्ञेयता का व्यवहार संपन्न कर देती है क्योंकि अविद्या की शक्ति अचिन्त्य है। तार्किकादि भी परोक्षविषयका ज्ञान से कोई संबंध बता नहीं सकते। नष्ट हुये घटादि का जैसे ध्वंस से वैसे ज्ञान से कोई सम्बन्ध हो सकता ही नहीं। (वस्तुतस्तु परोक्षस्थल में दृश्य का चैतन्यमात्र से सम्बंध समझना चाहिये। अनावृत साक्षी से संबंध अपरोक्ष विषय में ही जरूरी है। परोक्ष व्यवहार में विषयाकार वृत्ति ही विषय चैतन्य की अवच्छेदक हो जाती है अत: परंपरया सविषयता संभव है अर्थात् चैतन्य वृत्तिको विषय करता है जो वृत्ति विषय से संबद्ध है। वृत्तिका विषयसंबंध या स्वाभाविक मान सकते हैं या अविद्या से। वस्तुतस्तु कहीं भी विषयनिरूपित ज्ञान की अन्यथानुपपत्ति से ही वृत्ति-विषय संबंध मान्य है जिसे संयोगादि कहना बनता नहीं क्योंकि असंयोगी विषयों का भी ज्ञान होता है। परोक्षस्थल में भी विषयनिरूपित ज्ञान होने से वृत्तिविषयसंबंध अवश्य मान्य है। अत: वृत्तिद्वारक चिद्भास्यता होने से दृश्यता है ही।)

मिथ्या हुए बिना कार्य होना भी संगत नहीं। जन्म से पूर्व जो है नहीं - असत् है-वह पैदा नहीं हो सकता अन्यथा खरगोश के सींग भी पैदा हो जायें! यदि उत्पत्ति से पूर्व वस्तु असत् हो-जैसे तार्किक मानते हैं-तब अनुत्पन्न घटादि का व्यवहार ('घड़ा बनेगा' ये ज्ञान, इच्छा, कथन) वैसा ही हो जायेगा जैसे शशशृंगादि का व्यवहार, जबकि ऐसा है नहीं। जैसे असत् की

सत्कार्यतानिरास:

ननु सूक्ष्मरूपेणाऽस्तीति चेद्? न। तत्परिमाणतायास्तदाश्रयद्रव्यस्य पूर्वस्मादपकर्षं विनाऽयोगात्। अस्ति स्वरूपादपकर्षोपीति चेत्? तर्हि द्रव्यान्तरमेव जायत इति स्थूलमसदेवेति किं सूक्ष्मरूपपरिकल्पनया? न चैकस्यैवावस्थाभेदमात्रं, न धर्म्यन्तरमिति वाच्यम्; स्थूलावस्थायाः प्रागसत्त्वेन असत्येव जायत इति किं धर्मिस्थितिकल्पनया? असत्या

उत्पत्ति नहीं ऐसे ही जन्म से पूर्व जो है-सत्-वह भी पैदा नहीं हो सकता क्योंकि होना और जन्म इनका विरोध है, जो है ही उसका जन्म क्या हो सकता है! किं च यदि जन्म से पूर्व है तो दीखना चाहिये। अत: है और नहीं है दोनों से विलक्षण का ही जन्म संभव है जिससे जन्म ही इसमें प्रमाण है कि जायमान् मिथ्या है।

जन्म से पूर्व घटादि मिट्टी आदि में सूक्ष्मरूप से है ऐसा मानने से कार्यता संगत क्यों नहीं? इसलिये कि सूक्ष्मपरिमाणता तभी होगी जब उसका आश्रय घटादि स्थितिकालिक घटादि से छोटा हो (क्योंकि छोटे को ही सूक्ष्म कहते हैं।) जन्मपूर्वकालीन घट को स्थितिकालीन से छोटा मानें तो क्या हर्ज है? यही कि फिर जायमान को द्रव्यांतर ही मानना पड़ेगा, परिमाणभेद से द्रव्यभेद ही मान्य होता है, और तब स्थूल (जायमान) जन्म से पूर्व असत् ही रहा तो सूक्ष्मरूप की कल्पना का कोई प्रयोजन नहीं रहेगा। एक घड़े की ही सूक्ष्म व स्थूल ये विभिन्न अवस्थायें हैं, घड़े ही अलग हों ऐसा नहीं अत: सूक्ष्मता मानने से सत् का ही जन्म संगत क्यों न हो? इसलिये कि तब भी स्थूल अवस्था तो पहले असती अर्थात् अविद्यमान ही थी और उसका जन्म तुमने मान लिया अत: धर्मीकी स्थिति मानने से लाभ क्या? जैसे असत् अवस्था पैदा होती है ऐसे असत् घट ही पैदा हो जायेगा। और असत् जो अवस्था उसकी उत्पत्ति मानना इसलिये गलत है कि तब नृशृंग भी पैदा होने वाला मानना चाहिए! अगर स्थूलावस्था को भी जन्म से पूर्व सत्-विद्यामान-ही मानो तो अनुत्पन्न और उत्पन्न होकर स्थित घट में कोई भेद नहीं रह जायेगा। अत: दोनों दोषों से बचने के लिये जन्म से पूर्व कार्य को सदसद्विलक्षण ही स्वीकारना उचित है। अत: क़ार्यता की अन्यथा अनुपपत्ति भी मिथ्यात्व में प्रमाण है।

अवस्थाया उत्पत्त्यनुपपत्तेश्च। सत्त्वे च तस्य स्थित्यवस्थातो न विशेषः। तदुभयदोषपरिहाराय उभयविलक्षणमेव प्राक् कार्यम्। इति कार्यत्वानुपपत्तिरपि मिथ्यात्वे प्रमाणम्।

ब्रह्मनिर्विकारतोपसंहार:

तस्मात् स्वाविद्यया ब्रह्म नामरूपप्रपञ्चाकारेण विवर्तत इति।

परिणामिब्रह्मनिरास:

केचित्तु ब्रह्म परिणमते, न विवर्तत इत्याहुः। तैरिदं वक्तव्यम्-अजडस्य ब्रह्मणो जडप्रपञ्चतादात्म्यं स्वसमानसत्ताकं, न वेति।

क्योंकि विकारभूत प्रपंच मिथ्या है इसलिये यही स्वीकार्य है कि ब्रह्म अपनी अविद्या से नामरूपात्मक प्रपंच के आकार में विवर्त हो जाता है। (बिना बदले हुए बदले हुए जैसा भासना विवर्त होना कहा जाता है। इसलिये सत्य ज्ञान अनंत आनंद एकरस ब्रह्म अपने स्वरूप से हटे बिना ही अविद्या से विविध प्रपंच के रूपमें विवर्त होता है जिससे वह सदा सब विशेषों से रहित ही रहता है अत: उसका निर्विकार होना उचित है व उसे निर्विकार कहने वाले वाक्य प्रमाण ही हैं।)

कुछ वेदान्ती कहते हैं कि ब्रह्म जगद्रूप में परिणत ही होता है, विवर्त नहीं। उनसे प्रष्टव्य है : अजड ब्रह्म का जड प्रपंच से तादात्म्य ब्रह्म से समान सत्ता वाला है या नहीं।

यदि समान सत्ता वाला है तो प्रपंचकाल में ब्रह्म अजड (चेतन) नहीं रह सकता। जडाभेद ब्रह्मसमानसत्ताक हो तो ब्रह्म जडभेद वाला नहीं हो सकता क्योंकि एक सत्ता वाले भाव - अभाव एक समय एक जगह नहीं रहते। कार्यकारणता की संगति के लिये ब्रह्म-प्रपंच का तादात्म्य मान्य है और तादात्म्य भेदाभेदरूप होता है अत: भावाभाव का अन्यत्र विरोध होने पर भी ब्रह्म में भेद-भेदाभावका विरोध न मानें तो क्या दोष है? यदि कार्यकारणता अन्यथा असंगत होती तो इस दिशा में सोचते भी लेकिन जब घट-घटाभाव में देखे गये स्वभाव के अनुसार ही भाव-अभाव की व्यवस्था मानते हुए ब्रह्म-प्रंपच का कार्यकारणभाव समझा जा सकता है तब लोकसिद्ध से विपरीत स्वभाव की कल्पना अस्वीकार्य है। 'अन्यत्र विरोध है यहाँ नहीं'-यह तो

आद्ये; प्रपञ्चकाले ब्रह्म अजडं न स्यात्। न हि ब्रह्म स्वसमानसत्ताकजडाभेदे सति तदभाववद्भवति, समानसत्ताकभावाभावयोरेकदैकत्राऽसम्भवात्। ननु कार्यकारणभावनिर्वाहार्थं तयोः तादात्म्यं स्वीकर्तव्यं, तच्च भेदाभेदात्मकमिति अन्यत्र विरोधेऽपि नाऽत्र विरोध इति चेद्? न। घटतदभावयोः दृष्टस्वभावाऽनुरोधेन कार्यकारणभावोपपत्तौ दृष्टविपरीतस्वभावस्याऽनङ्गी कारात्। पक्षादन्यत्रैवायं नियम इति सर्वत्र वक्तुं शक्यतया अतिप्रसङ्गाच्च। न च सृष्टिश्रुतिप्रामाण्याय तत्र तथात्वं स्वीक्रियत इति वाच्यम्; तस्याः प्रमाणान्तरदृष्टसृष्ट्यनुवादेन अद्वैतब्रह्ममात्रपरत्वात्। निष्प्रयोजनत्वाच्च सृष्टिश्रुतेस्तत्र न तात्पर्यम्। अन्यार्थसृष्ट्याऽपि कर्मकाण्डादिप्रामाण्यसम्भवात्।

द्वितीये च – नाममात्रे विवादः। कल्पितेनाऽपि दोषविशेषा-

सभी जगह कह सकने से कोई भी नियम तोड़ा जा सकता है (अर्थात् धूमवह्नि की व्याप्ति भी पर्वत को छोड़कर ही रहती है यह कहकर अनुमानभंग किया जा सकता है आदि)। सृष्टिबोधक श्रुति के प्रामाण्य के लिये ब्रह्म में उक्त विरोधाभाव क्यों मान्य नहीं? इसलिये कि सृष्टिश्रुति का कार्यकारणभाव में तात्पर्य न होने से उसमें प्रामाण्य ही नहीं। प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से सिद्ध सृष्टि का अनुवाद कर अद्वैत ब्रह्म में ही उन वचनों का तात्पर्य है। सृष्टिवाक्यों का ब्रह्मबोधनातिरिक्त कोई प्रयोजन भी नहीं कि सृष्टि आदि में उनका अवान्तर भी तात्पर्य माना जाये। विकार के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करने से अद्वितीय ब्रह्म के बोधनरूप प्रयोजन वाली सृष्ट्यादि श्रुति से भी कर्मकाण्डादि का प्रामाण्यनिर्वाह हो जाता है। (कर्मकाण्ड प्रत्यक्षादिसिद्ध प्रपंच से उपपन्न है, श्रुतिसिद्ध प्रपंच की अपेक्षा ही नहीं रखता।)

यदि अजड ब्रह्मका जड प्रपंच से तादात्म्य ब्रह्म से असमान सत्ताक है तब तो परिणाम – शब्द से विवर्त को ही कहा जा रहा है। कल्पित वस्तु भी दोषविशेष से जन्य न हो, केवल सामान्य दोष अविद्या से जन्य हो तो अर्थक्रियायोग्य हो जाती है यह संगत है; अथवा अर्थक्रियाकारी होने के लिये स्वरूपविशेष (अपना कोई रूप होना अर्थात् अनुभूयमान होना) ही पर्याप्त है, चाहे दोषजन्य भी हो क्योंकि उन्नतोदर काँच (लैंस) आदि से सदोष दीखना

जन्यतया स्वरूपविशेषाच्च अर्थक्रियोपपत्तेः। न च पूर्वक्षणे सत्त्वाभावे कारणमेव न भवेदिति वाच्यम्; तदा विद्यमानत्वमात्रेण स्वरूपविशेषादेव हेतुत्वोपपत्तेः। तस्माद् ब्रह्मविषमसत्ताकत्वात् प्रपञ्चो विवर्त एव।

कारणत्वमुपलक्षणम्

कारणत्वं च ब्रह्मण उपलक्षणं,काक इव गृहस्य। मिथ्याभूतमपि उपलक्षणं सम्बन्धाद् भवति।

भी अर्थक्रियाकारी हो जाता है या 'दवा खा ली' ऐसे भ्रम से भी रोग मिट जाता है। जन्म से पूर्वक्षण में कार्य का सत्त्व न हो तो तन्निरूपित कारण ही कैसे हो पायेगा? पूर्वक्षण में विद्यमान स्वरूपविशेष से ही कारणता का निरूपण संगत है, उसके लिये सत्त्व की जरूरत नहीं और विद्यमान तो मिथ्या भी संमत ही है क्योंकि वह भी हैबुद्धिका गोचर होता है। इसलिये ब्रह्म से न्यून सत्ता वाला होने के कारण प्रपंच ब्रह्मका विवर्त ही है, परिणाम नहीं।

कारणता ब्रह्म का उपलक्षण है जैसे घर का उपलक्षण कौवा हो जाता है। मिथ्या वस्तु भी संबंधवश उपलक्षण बन जाती है। (भगवान् सर्वज्ञात्मा ने उपलक्षण स्पष्ट किया है 'स्वानुरक्तमतिजन्महेतुतां लक्ष्यवस्तुनि निरस्य लक्षणम्। अस्वरूपमपि तस्य यद् भवेत् काकवत् तदुपलक्षणं विदुः॥'१.५१८॥ अर्थात् लक्ष्य का ऐसा ज्ञान नहीं पैदा करे जिसमें लक्ष्य खुद से (उपलक्षण से) सम्बद्ध रूप में भासे तथा जो लक्ष्य का स्वरूप भी न हो तथापि सजात्यादि से व्यावृत्त कर लक्ष्य बता दे वह उपलक्षण होता है। सरस्वती जी ने इसका सार लिखा 'लक्ष्याविशेषणं सद् यद् अस्वरूपं लक्षणं तद् उपलक्षणम्।' तत्त्वदीपनकारने (पृ. १०२) भी 'कदाचिद्भावमात्रेण लक्षकम् उपलक्षणम्' बताया है। इस प्रकार जैसे कौवा देवदत्त के घरका बोध कराता है पर समझ में यह नहीं आता कि घर से कौवा संबद्ध ही रहेगा ऐसे ही प्रपंचहेतुता ब्रह्म को बताती है पर इससे यह नहीं समझ सकते कि हमेशा वह कारण ही रहेगा। वास्तव में तो कई स्फटिक रखे हों और कहें 'लाल स्फटिक लाओ' तो ललाई स्फटिक का ज्ञान कराती है जबकि स्वयं मिथ्या है; ऐसे ही कारणता मिथ्या होते हुए ही क्योंकि 'ब्रह्म में है'–यों पता चलती है [illegible]

स्वरूपलक्षणम्

स्वरूपलक्षणं तु 'यत' इति सूत्रप्रकृत्यंशसूचितः श्रुतिसिद्धः सत्यज्ञानानन्दः। तथा हि – शास्त्रयोनित्वाधिकरणन्यायेन शास्त्रैक-समधिगम्यं तावद् ब्रह्म सिद्धम्। शास्त्रं च जगत्कारणब्रह्मानुवादेन 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म; आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्त' इत्यादि (तै. २.१.१.;३.६.१) सच्चिदानन्दाद्वयं ब्रह्म प्रतिपादयति इति भवति तत्वस्वरूपं ब्रह्म।

शास्त्रयोन्यधिकरणन्यायः

ननु – कथं ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वं, चैतन्यस्य अहमनुभवे प्रकाशमानत्वात्। न च ब्रह्मस्वरूपं न प्रकाशत इति वाच्यम्;

शारीरकसूत्र के 'यतः' शब्द का प्रकृत्यंश यत् (जो) ब्रह्म के श्रुतिसिद्ध स्वरूपलक्षण को सूचित करता है। स्वरूपलक्षण है सत्य ज्ञान आनंद। (स्वरूपलक्षण का लक्षण भी सर्वज्ञोक्ति से सुबोध है 'लक्ष्यस्वरूपमपि सद् यदमुष्य साक्षादर्थान्तराद् भवति भेदकमेतदाहुः। अस्य स्वलक्षणतयैव तु लक्षणं खं छिद्रं द्रवं जलमितीदृशमत्र लोके ॥' १. ५१६॥ हो तो लक्ष्यका स्वरूप लेकिन व्यावर्तक बन जाये वह स्वरूपलक्षण कहलाता है।धर्म को ही लक्षण कहें, स्वरूप को नहीं ऐसा कोई मानव नियम नहीं है। आखिर तार्किक विशेषनामक पदार्थ का लक्षण क्या करेंगे, क्योंकि उसका तो कोई व्यावर्तक धर्म होता नहीं। अतः वे विशेष को स्वतो व्यावृत्त मानते हैं। इसलिये लक्षण का अर्थ है 'यद्विषयं सज्ज्ञानं यस्य तदितरभेदसंशयादि निवर्तयति तत्तस्य लक्षणम्' (दीपनम्)। जिसे (गंध को) विषय करने वाला ज्ञान जिसके (पृथ्वी के) बारे में स्वेतरभेद- संशय आदि हटा दे वह (गंध) उसका (पृथ्वी का) लक्षण होता है। जब सत्यादि का ज्ञान ब्रह्म का इतरव्यावृत्त निश्चित ज्ञान कराने में समर्थ है तब भले ही वह स्वरूप है, उसे लक्षण मानने में कोई विरोध नहीं।)

शास्त्रयोनित्वाधिकरण में निर्णीत नीति से सिद्ध है कि ब्रह्म की जानकारी सिर्फ शास्त्र से मिल सकती है, प्रमाणान्तर उसका अनुसरण ही कर पायेंगे। शास्त्र जगत्के कारण ब्रह्म का अनुवाद करके उसे सत्य, ज्ञान अनन्त बताता है और आनंद से ही ये भूत पैदा हुए यह स्पष्ट करता है। अतः ब्रह्म सत् चिद् आनंद अद्वय है यह शास्त्र प्रतिपादित करता है तो समझना पड़ेगा कि वह सदादिस्वरूप है। (जन्मादिसूत्रभाष्य में बताया है कि भृगु ने ब्रह्मविषयक प्रश्न किया और उसे खोजने का तरीका बताया गया 'जिससे ये भूत पैदा होते हैं वह ब्रह्म है' आदि। प्रकृति आदि कोई जड ब्रह्म न समझ लिया जाये इसलिये श्रुति ने निर्णय वाक्य में कहा 'आनंद से ही ये भूत पैदा होते हैं' आदि। इस प्रकार तैत्तिरीय की एकवाक्यता से जन्मादिसूत्र उपलक्षण द्वारा लक्ष्य उपस्थित करके उसके स्वरूप को संकेतिक करता है यह समझ लेना चाहिये।)

चैतन्यातिरिक्तब्रह्मस्वरूपाभावात्। ननु सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं ब्रह्म तद्विषय इति चेद्? न, श्रुतेस्तत्राऽतात्पर्यात्, तस्य कार्यत्वादिना सिद्धत्वाच्च– इति?

उच्यते – यद्यपि अन्तःकरण साक्ष्यद्वैतं ब्रह्म अहमिति अनुभवे प्रकाशते तथापि यथावत् स्वरूपावगमें तस्य शास्त्रं प्रमाणम्। न हि शास्त्राद् ऋते तस्य सच्चिदानन्दाद्वितीयस्य ब्रह्मणः सत्तानिश्चयरूपं ज्ञानं भवति। मानाभावप्रयुक्तासत्त्वशङ्का यस्य येन मानेन व्यावर्त्यते तदेव हि तन्मानम्।

शंका होती है कि ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक कैसे जबकि 'मैं' इस अनुभव में चेतन प्रकाश ही रहा है और शास्त्र उसी में प्रमाण होना चाहिये जो शास्त्र के बिना भासे नहीं। ब्रह्मका स्वरूप न प्रतीत हो रहा हो ऐसा भी नहीं क्योंकि चैतन्य से अतिरिक्त ब्रह्मका क्या स्वरूप है! सर्वज्ञतादि विशेषणों वाला ब्रह्म शास्त्रप्रतिपाद्य हो यह भी अनुचित है क्योंकि श्रुतिका सविशेष में तात्पर्य नहीं और कार्यत्वादि को लिंग बनाकर किये अनुमानों से सर्वज्ञादि भी सिद्ध हो ही जाता है। अतः ब्रह्म को शास्त्र से ज्ञेय कैसे समझें?

समाधान है कि यद्यपि मनका साक्षी अद्वैत ब्रह्म 'मैं' इस अनुभव में प्रकाशमान है तथापि जैसा वह है वैसा उसके स्वरूप को समझने के लिये शास्त्र ही प्रमाण है। (उपाधिदशा में भासमान है वही लेकिन उपाधिवश जानकारी सही नहीं हो पा रही अतः अवगम्यमान की ही सही जानकारी शास्त्र से होती है यह तात्पर्य है। प्रमातृभाव को प्राप्त हुआ ब्रह्म ही है और प्रमाता ही पापादिवर्जित समझना है आदि सुंदरपाण्ड्यकारिका अनुसन्धेय है।) शास्त्र के बिना सच्चिदानंद अद्वितीय ब्रह्म की सत्ता का निश्चयरूप ज्ञान संभव नहीं।

सगुणं ब्रह्मापि शास्त्रैकमेयम्

सर्वज्ञत्वादिविशिष्टब्रह्मसिद्धिरपि शास्त्रादेव, न कार्यलिङ्गात्। तथा हि – न तावदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यं कार्यमिति प्रतिज्ञया तत् सिद्ध्यति; अनित्यज्ञानादीनां सर्गाद्यकाले बाधितत्वात्। नित्यत्वे च नित्यकृत्यैवोपपत्तेः अप्रयोजकतया न ज्ञानादिसिद्धिः। न च युगपत्तेषां सिद्धेः न नित्यकृत्या ज्ञानाद्यपह्नव इति वाच्यम्; कृतिमात्रस्यापि अनुमातुं शक्यत्वात्। युगपदुपस्थितावपि तर्काभावे न वस्तुनिर्णयः। अन्यथा व्यभिचारिलिङ्गाद् उपस्थितस्यापि अपरित्यागप्रसङ्गः।

प्रमाणाभाव के कारण जिसके असत्त्व की शंका जिस प्रमाण से मिटे वही उस विषय में प्रमाण होता है। (प्रमाण होते हुए तद्विषयक होना इतना ही पर्याप्त नहीं वरन् तद्विषयक सत्त्वाभावशंका मिटाने वाला होना तद्विषयक प्रमाण के लिये जरूरी है। अतः प्रत्यक्षादि यदि प्रमाण हों भी और ब्रह्म को विषय कर भी लें–क्योंकि वह सर्वप्रत्ययवद्य है–तो भी वे ब्रह्म में प्रमाण नहीं। शास्त्र ही उक्त शंकानिरासी होने से ब्रह्म में प्रमाण है।)

सर्वज्ञता आदि विशेषणों वाला ब्रह्म भी सिद्ध तो शास्त्र से ही होता है, कार्यतादि लिंगों से नहीं। तार्किक सर्वज्ञता सिद्धि के लिये प्रतिज्ञा करता है कि कार्य ऐसे से जन्य है जो उपादानविषयक अपरोक्ष ज्ञान, चिकीर्षा और कृति वाला है; इससे वह मानता है कि वह सर्वज्ञ को सिद्ध कर लेगा। लेकिन ऐसा हो नहीं सकता। जनक के अनित्य ज्ञानादि हों यह संभव नहीं क्योंकि सृष्टि के आदिकाल की बात है जबकि जन्य ज्ञानादिके जनक हैं ही नहीं और जन्य ज्ञानादि भी जन्य होने से जनककोटि में नहीं आ सकते। ज्ञानादि को नित्य मानो तो एक कृति ही पर्याप्त है, ज्ञानादि सिद्ध ही नहीं होंगे क्योंकि कार्य को कृति चाहिये, वह जब नित्य होने से उपलब्ध है तो कृति के हेतुरूप से प्रसिद्ध चिकीर्षा और उसके भी हेतु रूप से प्रसिद्ध ज्ञान की कल्पना होगी ही क्यों? इकट्ठे ही तीनों सिद्ध होते हैं अतः नित्य कृति से बाकी दोनों का अपलाप कैसे? इसलिये कि तीनों सिद्ध ही क्योंकर होंगे जब केवल कृति भी अनुमित हो सकती है। (अर्थात् कृतिमज्जन्यं कार्यमिति–इतनी प्रतिज्ञा पर्याप्त है तो ज्ञानचिकीर्षाघटित प्रतिज्ञा किस लिये?) यदि कोई इकट्ठे ही तीनों को

तत्र तर्कनिरासः

न च लाघवतर्केण कार्यस्य ज्ञानजन्यत्वं निश्चितमिति वाच्यम्; ज्ञानादीनां साक्षात् कारणत्वस्य प्राङ्निरस्तत्वात्। अनुकूलत्वमपि कृतिनित्यत्वे नास्त्येव। न च दृष्टान्ते परम्परयानुकूलत्वमत्र तु तद्बाधात् कारणत्वेनैव तदिति वाच्यम्; तदपुरुषार्थसाधने तदिच्छाजन्यत्वस्याऽपि बाधितत्वात्। अवाप्तकामस्येच्छाऽसम्भवेन तन्निमित्तज्ञानस्यापि असम्भवात्। वर्णितलाघवेन मनस्संयोगशरीरादेरपि कारणत्वप्रसङ्गेन

अनुमित कर भी ले तो भी जब तर्क नहीं मिलेगा तब वस्तु का–ब्रह्मसर्वज्ञता का–निर्णय होगा नहीं क्योंकि बिना अनुकूल तर्क के अनुमिति होने मात्र से निर्णय मानें तो व्यभिचारी लिंग से हुई अनुमिति भी निश्चायक होने लगेगी। जनक की सर्वज्ञता में तर्क कोई है नहीं कि अनुमान सिद्धि हो।

लाघवतर्क से कार्य ज्ञानजन्य है यह क्यों सिद्ध नहीं होगा? (घटादि में ज्ञानजन्यता प्रसिद्ध होने से कार्यमात्र में उसे मानने में लाघव है यह वादी का अभिमान है।) इसलिये सिद्ध नहीं होगा कि घटादि में भी ज्ञानादि साक्षात् कारण हैं नहीं यह बता चुके हैं। यद्यपि घटादि के लिये वे अनुकूल तो हैं तथापि जब कृति नित्य है तब तो कारणकारणत्वरूप अनुकूलता भी नहीं कही जा सकती। दृष्टांत घटादि में ज्ञान की परंपरा से अनुकूलता है पर प्रकृत में क्योंकि वह बाधित है अतः साक्षात् अनुकूलता ही क्यों न मान ली जाये? इसलिये कि कार्यमात्र में इच्छाजन्यता भी नहीं होती; जो जिसके अपुरुषार्थ का (दुःख का) साधन होता है वह उसकी इच्छा से जन्य नहीं होता और इसीलिये इच्छोत्पादक ज्ञान को कार्य के प्रति अवश्य अनुकूल नहीं कह सकते। ईश्वर की सभी कामनायें हमेशा पूरी हैं अतः उसे इच्छा होना ही संभव नहीं कि उसके निमित्तभूत ज्ञान की संभावना हो। किं च घटादि में दृष्ट कारण को यदि तावता ही कार्यमात्र में कारण मानना लाघवोपेत हो तो मनःसंयोग, शरीर आदि को भी कारण मानना चाहिये और उन्हें भी नित्य मान लेना चाहिये! जैसे देवशरीर हमें नहीं दीखता ऐसे अंकुरादिका उत्पादक शरीर भी हमें नहीं दीखता पर है जैसे कुम्हारशरीर–यह भी समझना चाहिये! ऐसे ही अन्य दोष भी आयेंगे अतः उपस्थित होने मात्र से, तर्क के बिना केवल जँच जाने मात्र से धर्मी का निर्णय नहीं हो जाता। यदि कहो शरीरादि मानना

तयोरपि नित्ययोः सिद्धिः स्यात् ! देवशरीरवद् अस्मदाद्ययोग्यस्यापि अङ्कुरादिजनकशरीरस्य संभवाद्, इत्येवमादिदूषणे सति उपस्थितिमात्रेण न धर्मिनिर्णयः। शरीरादिकं श्रुत्या बाधितमिति चेत्? तर्हि सैव तत्र मानम्, अनुमानस्य तया विनाऽशक्तेः। निर्गुणत्वश्रुतेश्च।

नानुमानात्सर्वज्ञसिद्धिः

एवमपि न सर्वज्ञत्वसिद्धिः। न च लाघवात् कर्त्रैकत्वसिद्धौ तत्सिद्धिरिति वाच्यम्; क्षित्यादिकर्तुरुपस्थितिपूर्वं तद्भेदाभावरूपैकत्वासिद्धेः। कर्तृभेदः प्रतीयत इति चेद्? न; तस्य परमते तत्राऽनिषेध्यत्वात्। एकत्वसङ्ख्यायाश्च नानात्वाऽविरोधित्वात्। न चानेन

श्रुतिविरुद्ध है इसलिये उसे अनुमित नहीं करते तो सीधा कहो कि श्रुति ही ईश्वर में प्रमाण है क्योंकि श्रुतिका साहारा लिये बिना अनुमान भी उसे साधने में असमर्थ है। किं च निर्गुणता की श्रुति से पता चलता है कि ब्रह्म सविशेष नहीं अत: उसकी सविशेषता अनुमित हो यह संभव नहीं। (प्रमाणविरोध से शरीर की तरह सविशेषता सिद्ध नहीं होगी। किं च निर्गुण होने से अनुमितिसाधन पक्षनिष्ठ लिंग भी संभव नहीं।)

पूर्वोक्त रीति से कथंचित् ज्ञानमात्र सिद्ध हो जाये तो भी सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती। लाघवतर्क के अनुरोध से सर्व का कर्ता एक है यह सिद्ध हो जाने पर वही सर्व का ज्ञाता निश्चित क्यों नहीं होगा जब कर्ता अपने कार्यों का ज्ञाता प्रसिद्ध है? इसलिये कि कर्ता एक है अर्थात् कर्तृभेद का उसमें अभाव है यही तब तक सिद्ध नहीं होता जब तक पहले क्षिति आदि का कर्ता न उपस्थित हो जाये। (पृथ्वी-कर्ता, जल-कर्ता, तेज:कर्ता आदि कर्ता विभिन्न नहीं हैं यह तभी समझ आये जब पहले ये सब कर्ता उपस्थित हों और उपस्थित होनें पर इनके परस्पर भेद का निषेध कैसे होगा? यदि विभिन्न कर्ता उपस्थित ही न हों तब तो निषेध्य भेद ही संभव नहीं होगा। अत: एकता सिद्ध नहीं होती।) हम लोग भी घटादि के कर्ता हैं अत: कर्तृभेद प्रतीतिसिद्ध है तो निषेध्य क्यों नहीं होगा? इसलिये कि तार्किक यह नहीं मानता कि जीवरूप कर्ताओं का भेद ईश्वर में नहीं है। भेदाभावरूप एकत्व से अन्य जो संख्यारूप एकत्व है वह नानात्वका विरोधी नहीं अत: उससे कर्त्रन्तर का निषेध प्राप्त नहीं होता जिससे अकेला ईश्वर सबका कर्ता सिद्ध नहीं होता। अनुमान से पहले

क्षितिकर्तृसिद्धौ, क्षितिकर्ता चेतनः किञ्चिज्ज्ञो न भवति अशरीरत्वाद्, घटवदिति सर्वज्ञत्वसिद्धिरिति वाच्यम्; कर्तृनानात्वेऽपि अशरीरत्वसिद्धेरप्रयोजकत्वात्। न च कर्त्रैकत्वे किञ्चिद् मानमस्ति।

वेदकर्तृतया न सार्वज्ञ्यसिद्धिः

नापि वेदवाक्यानि स्वार्थज्ञानपूर्वकाणि वाक्यत्वाद् इति सर्ववेदार्थज्ञानवत्सर्वज्ञसिद्धिरिति वाच्यम्; शब्दज्ञानमात्रेण माणवकादिवद् वाक्यरचनोपपत्तेरप्रयोजकत्वात्। न चोद्दिश्यरचनायां वाक्यार्थज्ञानं कारणम् इति वाच्यम्; परमात्मन उद्दिश्यरचनायां प्रमाणाभावात्। 'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितम्' (बृ. २. ४. १०) इति श्रुतिविरोधाच्च। अतो 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (तै. ४. १.) इति श्रुत्या, सर्गाद्यकालीनम् अध्ययनम्, अनुभूतक्रमसजातीयविषयं वेदाध्ययनत्वाद्,

क्षितिकर्ता सिद्ध होने पर यह प्रयोग करें कि क्षितिकर्ता चेतन, अल्पज्ञ नहीं है, अशरीरी होने से, घट की तरह, तो सर्वज्ञता की सिद्धि क्यों नहीं हों जायेगी? इसलिये कि यदि अनेक कर्ता हों तो सभी अशरीरी हो सकते हैं जिससे अशरीरी होना सर्वज्ञता का प्रयोजक नहीं हो पाता। कर्ता एक ही है इसमें वेदेतर कोई प्रमाण है नहीं। (बल्कि बड़े महल आदि की तरह नानाकर्तृक संसार ही अनुमान से संभावित है। अप्पयदीक्षित तो कहते हैं कि दान व पतन को सम्प्रदान व अपादान कारकों की अपेक्षा होने पर भी अन्य कार्यों को उन कारकों की अपेक्षा नहीं होती इसी प्रकार घटादि को कर्ता की अपेक्षा होने पर भी अंकुरादि को कर्ता अपेक्षित नहीं हो तो क्या हानि है? इत्यादि तर्क का उत्तर न होने से श्रुतिनिरपेक्ष अनुमान जगत् के एक कर्ता ईश्वर का साधक हो ही नहीं सकता।)

वेदवाक्य क्योंकि वाक्य हैं इसलिये उनसे पूर्व उनका ज्ञान होना चाहिए – इस अनुमान से सारे वेदके अर्थ के ज्ञान वाला सर्वज्ञ क्यों सिद्ध नहीं हो जायेगा? इसलिये कि केवल शब्दज्ञान से बालकादिकी तरह वाक्यरचना संभव होने से वाक्यत्व हेतु स्वार्थज्ञानपूर्वकत्वका साधक नहीं। श्रोता को अर्थविशेष का ज्ञान हो इस उद्देश्य से रचना के प्रति (वक्ता का) वाक्यार्थज्ञान कारण होता है इस नियम से वेदोपदेष्टा ईश्वर सर्वज्ञ सिद्ध क्यों न हो? इसलिये कि परमात्मा ने किसी उद्देश्य से रचना की इसमें कोई प्रमाण नहीं बल्कि वेद तो कहता है

इदानीन्तनवेदाध्ययनवदित्यनुमानाच्च वेदे क्रमादिरचनाऽनादिरिति, न च तदीश्वरेच्छायत्तमित्यपौरुषेयो वेदः। भारताध्ययने च स्पष्टकर्त्रागमबाधाद् नाऽनादित्वानुमानम्। वेदेषु तु पुरुषस्मरणस्य गतिः शास्त्रेषु प्रसिद्धा। तस्मान्नानुमानात् सर्वज्ञसिद्धिः।

सिद्धान्ते सर्वज्ञतासाधनम्

सिद्धान्ते तु शास्त्रयोनितया सर्वज्ञत्वमित्थम् – शास्त्रं हि

कि ऋगादि सब भगवान् के साँस छोड़ने की तरह अनायास है। (अतः किसी अन्यबोधनादि उद्देश्य वाले नहीं। जैसे हमारा साँस हमारे तद्विषयक किसी विशेष ज्ञान के बिना ही चलता है ऐसे ही ईश्वर को भी अर्थज्ञान के बिना ही वेदसृष्टि है यह भी इस श्रुति से समझ सकते हैं।)

इसलिये वेद की क्रमरचना अनादि ही संमान्य है। श्रुति भी कहती है कि विधाता ने सभी कुछ पहले की तरह ही रच दिया अतः पूर्वकल्प जैसा उत्तरकल्प में वेद व्यक्त हो जाता है। यह प्रयोग भी है: सृष्टि के प्रारंभ के समय का अध्ययन उस क्रम को विषय करता है जिसकी जाति का क्रम अनुभव किया जा चुका है क्योंकि वेदाध्ययन है, जैसे आजकलका वेदाध्ययन। इससे सिद्ध होता है कि हिरण्यगर्भादि पूर्वकल्पीय जन्म में अनुभूत क्रम की जाति वाले क्रम के वेद का ही स्फुरण पाते हैं। अतः वेदक्रम अनादि है। इसलिये वेदक्रम ईश्वर की इच्छा के अधीन नहीं जिससे कहा जाता है कि वेद अपौरुषेय है। महाभारतादि के बारे में ऐसा अनुमान नहीं कर सकते क्योंकि उनका सकर्तृकत्व मुखतः उल्लिखित है। वेदों में जो ईश्वर को उत्पादक कहा है उसका अभिप्राय शास्त्रों में प्रसिद्ध है अतः उस पर यहाँ विचार नहीं कर रहे। (अर्थोपलम्भपूर्वक न होकर अबुद्धिपूर्विका ही वह ईशकृति है यह अभिप्राय प्रसिद्ध है ऐसा दीपन में कह दिया है।) एवं च अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि संभव नहीं।

वेदान्तसिद्धान्त में शास्त्रकारण होने से ईश्वरसर्वज्ञता इस तरह सिद्ध है: ऋग्वेदादि शास्त्र कार्य है और सारे ज्ञान उत्पन्न करने से अवश्य वैसा करने की शक्ति वाला है। कार्य में जो ज्ञानोत्पादन के अनुकूल शक्ति है वैसी ही शक्ति उसके उपादान में भी होनी चाहिये या यह भी कह सकते हैं कि वह शक्ति उपादान की ही शक्ति है। दीप में जो प्रकाशनशक्ति है वह स्वोपादानभूत अग्नि

ऋग्वेदादिलक्षणं कार्यं सर्वज्ञानजननात्तच्छक्तिमत्। कार्ये ज्ञानानुकूल-शक्तिश्च तदुपादानतादृशशक्तिपूर्विका, तद्गता वा, दीपादौ तथा दर्शनात्। घटादावपि सा तथैव। घटादिविरहात्तदभावदशायां न तज्ज्ञानम्। अत एव शक्तिमात्रं तथेति केचित्। ब्रह्मैव शास्त्रोपादानमिति सर्वज्ञानानुकूलशक्तिमत्। तच्च सृज्यमानप्राणिकर्मणा स्वस्मिन् सर्वज्ञानं वृत्तिमुत्पादयतीति सर्वज्ञमिति केचित्।

विधान्तरेण तदुपपादनम्

अन्ये तु – अनन्तशाखाप्रभेदभिन्नशास्त्रकर्तृत्वेन तद्विषयज्ञानं तावत्सिद्धम्। एतच्च ब्रह्मणोऽनावृतज्ञानत्वे भवति इति अन्यदपि स्वसम्बन्धि तत् किमिति न जानीयाद्! इति सर्वज्ञं ब्रह्म इति सम्भवति।

की शक्ति के समान है या उसी की शक्ति है यह लोकसिद्ध होने से उक्त अनुमान सुकर है। घटादि की शक्ति भी इसी तरह उपादान शक्तिसदृश या उपादानशक्तिरूप होती है। घटादि के अभावकाल में उस शक्ति का ज्ञान मिट्टी में नहीं हो पाता वह इसलिये नहीं कि शक्ति नहीं है वरन् इसलिये कि उसका निरूपक घटादि नहीं है। इसीलिये केवल ज्ञान के अनुकूल होने वाली ही नहीं, सभी शक्ति ऐसी ही होती है यह शक्तिवादियों का अभ्युपगम है। शास्त्र का उपादान ब्रह्म ही है इसलिये वह भी सारे ज्ञानों के अनुकूल शक्ति वाला होना उचित है। जिनकी सृष्टि की जा रही है उन प्राणियों के कर्म के निमित्त से वह ब्रह्म खुद में सर्वगोचरज्ञानात्मक अविद्यावृत्ति बना लेता है जिससे 'सर्वज्ञ' इस व्यवहार के योग्य हो जाता है। यों ब्रह्म की सर्वज्ञता को कुछ विवरणादि अनुयायियों ने समझाया है।

(पूर्व वर्णन में वेदप्रतिपाद्यमात्रज्ञता सिद्ध होने से सार्वज्ञ्य समझना क्लेशसाध्य है अतः) अन्य तरह समझाते हुए आचार्य बताते हैं कि अनन्त विशिष्ट शाखाओं में बँटे शास्त्र के कर्ता रूप से ब्रह्म शास्त्रविषय में जानकार प्रसिद्ध ही है। वह ज्ञान उसे इसी से है कि उसका स्वरूपज्ञान आवरण से ढका नहीं है क्योंकि प्रमाण से तो उसे ज्ञान हुआ हो यह संभव नहीं कारण कि उसके पास श्रोत्रादि प्रमाण हैं ही नहीं। जब उसका ज्ञान निरावरण है तब अन्य भी सब कुछ जो उससे सम्बद्ध है उसे वह जानेगा ही और सम्बद्ध

औपनिषदत्वोपपत्तिः

अत एव 'तं त्वौपनिषदम्' (बृ. ३. ९. २६) इत्यादिश्रुतिरुपनिषद्गम्यत्वमाह। न हि अनुमानगम्यमुपनिषद्गम्यम्, मानान्तराधिगते तत्र श्रुतेरतात्पर्यात्। तत्र श्रुतितात्पर्याभावेऽपि अन्यतोऽर्थस्य सिद्धत्वात्।

समन्वयसूत्रविचारे सिद्धार्थताक्षेपः

नन्वेवं सिद्धस्य वस्तुनो लोके मानान्तरगम्यत्वदर्शनाद् न वेदान्तानां ब्रह्मणि तात्पर्यं स्यात्, मानान्तरसंवादविसंवादयोः तदयोगात्। एवं सिद्धवस्तुज्ञानात् प्रयोजनाभावादपि न वेदान्ता ब्रह्मपराः। न ह्यध्ययनविध्युपात्तानां तेषां निष्प्रयोजने पर्यवसानं सम्भवति, न वा प्रवृत्तिनिवृत्ती विना प्रयोजनम्, न च सिद्धवस्तुज्ञानात् प्रवृत्तिनिवृत्ती स्तः। तस्माद् वेदान्ताः तद्गतोपासनाविधिपरा इति?

उससे सभी है अतः वह सर्वज्ञ है यह निश्चित होता है। (षष्ठवर्णकसमाप्ति में विवरण है 'प्रकाशस्वरूपस्य ब्रह्मणः सर्वोपादानतया सर्वसंसर्गिणः स्वसन्निहिताशेषवस्तुप्रकाशिता नित्यवद् भवति' (पृ. ५६२)। तदनुसार ही प्रकृत व्याख्या है। यहाँ उपादान की जगह कर्तृतया सर्वज्ञता इसलिये कही कि यह अधिक प्रसिद्ध है।)

इसीलिये श्रुति ब्रह्म को वेदैकसमधिगम्य बताती है, औपनिषद अर्थात् उपनिषत् से ज्ञेय कहती है। अनुमान से समझा जा सके तो वह उपनिषत् से ज्ञेय नहीं होगा क्योंकि प्रमाणान्तर से अवगत ब्रह्म में श्रुतिका तात्पर्य नहीं होता कारण कि उसमें वेदाभिप्राय न होने पर भी प्रमाणान्तर से अर्थ सिद्ध हो जाता है। (इसलिये ऐसा नहीं कि हमें अनुमानसिद्ध ईश्वर के निराकरण का कोई व्यसन हो वरन् श्रुति ने ही उसे स्वप्रमेय कहकर अननुमेय या प्रमाणान्तरागम्य घोषित कर दिया है।)

यदि वेद का अभिप्राय ब्रह्म बताने में हो तो क्योंकि लोक में देखा गया है कि सिद्ध वस्तु शब्देतरप्रमाणगम्य होने पर ही शाब्द होती है इसलिये सिद्ध ब्रह्म को भी प्रमाणांतरवेद्य मानना पड़ेगा और तब उसमें वेदांततात्पर्य नहीं हो सकेगा क्योंकि अपूर्वता नहीं रहेगी। प्रमाणांतर यदि वैसा ब्रह्म बताते हैं जैसा शास्त्र कहता है तब तो अनधिगतांश न होने से शास्त्र उसमें प्रमाण नहीं और यदि वे उसे अन्य ढंग का प्रमित कराते हैं तो प्रमाणविरोध होने से शास्त्र उसमें

समाधिः

न। किमेवम् अहम्प्रत्ययविषये वेदान्तानां तात्पर्यं निषिध्यते? किं वा अशनायाद्यतीते निरतिशयानन्दात्मनि? तत्राद्योऽस्मदिष्ट एव। द्वितीये तु, किं तद् मानं येन वेदान्तानामनुवादकता, यदनुदये च मिथ्यार्थता? न हि प्रत्यक्षादिना तादृशं वस्तु सिद्ध्यतीत्युक्तम्। स्वरूपबोधस्तु विद्यमानोऽपि अनाद्यविद्यावृतो न साधक इति न संवादकः। तस्मात् सिद्धवस्तुविषयचक्षुरादिवत् सिद्धे वेदान्तप्रामाण्यमविरुद्धम्।

सापेक्षतानिरासः

ननु न वयमङ्गीकृत्य अलौकिकमात्मानं तत्र वेदान्तानाम् अप्रामाण्यं ब्रूमः किन्तु – वेदान्ता यदि सिद्धबोधकाः स्युस्तर्हि मानान्तरसापेक्षाः स्युः, घटोस्तीति लौकिकवाक्यवद् – इति चेद्?

तात्पर्य वाला नहीं। सिद्ध वस्तु का ज्ञान निष्प्रयोजन होने से भी वेदान्त ब्रह्म में तात्पर्य वाले नहीं। अध्ययनविधि से ग्राह्य वेद निष्प्रयोजन ज्ञान कराकर कृतार्थ नहीं हो सकता। प्रवृत्ति या निवृत्ति के बिना कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता और सिद्ध वस्तु के ज्ञान से प्रवृत्ति या निवृत्ति हो नहीं सकती। इसलिये प्रमाणभूत वेदांत ब्रह्मपरक नहीं बल्कि उपनिषदों में बतायी उपासनाओं के विधान में तात्पर्य वाले हैं। यह शंका है।

उक्त आक्षेप गलत है। 'मैं' इस ज्ञान के विषय में वेदांतों का तात्पर्य मना करो तो ठीक है लेकिन भूख आदि से रहित असीम आनंदरूप प्रत्यग्धातु में उनके तात्पर्य का निषेध असंभव है क्योंकि उस विषय में अन्य प्रमाण है कौन-सा जिससे शास्त्र अनुवादक (ज्ञातज्ञापक) हो या जिसके विरोध से शास्त्र मिथ्यार्थक अर्थात् औपचारिकादि माना जाये? प्रत्यक्षादि तो निर्विशेषमें प्रमाण बनने में असमर्थ ही हैं। यद्यपि स्वरूपभूत ज्ञान सनातन है तथापि अनादि अविद्यासे ढका है अतः स्वयं को सिद्ध करने में-स्वसंबंधि भ्रमादि निवृत्त करने में असमर्थ है। अत एव तत्प्रयुक्त भी अनुवादकता संभव नहीं। इसलिये जैसे सिद्ध वस्तु में चक्षु आदि प्रमाण हैं ऐसे सिद्ध ब्रह्म में वेदान्त प्रमाण हैं।

ऐसा नहीं कि हम लोक में अप्रसिद्ध निर्विशेष आत्मा मानकर कह रहे हों कि वह प्रमाणांतरगम्य होने से उसमें वेदांतों का प्रामाण्य नहीं वरन् हमारा

न। लौकिकस्य मानान्तरयोग्यार्थत्वात् पौरुषेयत्वाच्च। अन्यथा घटमानयेति वाक्ये मानान्तरापेक्षा न स्यात्!

वेदान्तप्रयोजनम्

यत्तु प्रयोजनाभावाद् न तत्र तात्पर्यम् – इति ; तदपि न, रज्ज्वादिज्ञानादिव सर्पादिभ्रमनिवृत्त्या कल्पितसंसारनिवृत्त्या प्रयोजनस्य भाष्यादौ दर्शितत्वात्।

तात्पर्यपदार्थः

एवं सिद्धे तात्पर्यमुपक्रमोपसंहारादिलिङ्गैः शास्त्रे दर्शितमिति नात्रोच्यते। तात्पर्यं च शब्दस्य फलवत्प्रतीत्यनुकूलत्वं शब्दधर्मः।

तो कहना है कि अगर वेदांत सिद्धार्थक हो तो प्रमाणान्तर के सापेक्ष होंगे जैसे 'घड़ा है' यह लौकिक वाक्य। सापेक्ष होने से उनका अप्रामाण्य होगा यह हमारी शंका है।

यह शंका निराधार है। प्रमाणान्तर के योग्य अर्थ को विषय करने वाले लौकिक वाक्य भले ही प्रमाणान्तरसापेक्ष हों, प्रमाणान्तर के अयोग्य अर्थ वाले शास्त्रवाक्य को सापेक्ष मानने में कोई आधार नहीं। किं च पुरुष तो अर्थ को जानने के बाद तदर्थक वाक्यरचना करते हैं अत: पौरुषेय वाक्य प्रमाणान्तर की अपेक्षा रखते हैं लेकिन वेद अपौरुषेय होने से ऐसी अपेक्षा नहीं रखता। यदि सिद्धार्थकता ही मानान्तरसापेक्षता का प्रयोजक हो तो 'घड़ा लाओ' इस साध्यार्थक लौकिक वाक्य में प्रमाणांतरसापेक्षता न होती!

सिद्धार्थ होने पर निष्प्रयोजनता की शंका भी इसी से थी कि शंकालु ने सर्ववेदान्ततात्पर्यमर्मज्ञ मुमुक्षुजनहितैषी करुणावतार श्री भगवान् शंकराचार्य के भाष्यों का अवलोकन नहीं किया क्योंकि वे अनेकत्र समझा चुके हैं कि जैसे रस्सीज्ञान से सर्पादि भ्रम हट जाते हैं ऐसे ही वेदांतवेद्य ब्रह्म के ज्ञान से अनर्थरूप यह कल्पित संसार मिट जाता है जो सबसे बड़ा प्रयोजन है।

वेदांतों का तात्पर्य सिद्ध ब्रह्म में है यह उपक्रमादि छहों लिंगों से शास्त्र में जगह-जगह समझाया है और समन्वयाध्याय में सविचार स्थापित है अत: उस प्रसंग को यहाँ नहीं उठा रहे।

सफल प्रतीति के अनुकूल होना-यह जो शब्दगत धर्म है उसे ही शब्द

तच्चोपक्रमादिना यद्विषयं ज्ञानं फलवदिति निरूप्यते तन्निरूपितमिति शब्दशक्त्यादिना प्रतीयमानोप्यन्यार्थो न शब्दार्थः।

तात्पर्यज्ञानोपयोग:

तात्पर्यज्ञानं च न वाक्यार्थज्ञानहेतुः, एकस्मिन् वाक्ये यावदुपस्थिताकाङ्क्षितयोग्यपदार्थानां तेन विनाप्यन्वयबोधसम्भवेन तद्धेतुत्वे प्रमाणाभावात्। क्वचिद् वाक्यार्थसंशयस्तु शब्दाद् आपात-प्रतिपन्नेऽर्थे तात्पर्यविपर्यासादिदोषादुपपद्यते। अनेकार्थेऽपि युगपत् तावत्पदार्थस्मृतौ मानाभावाद् योऽर्थः स्मर्यते तस्यैवान्वयबोधः। क्वचित् सर्वपदार्थस्मृतौ, सति च योग्यतादिज्ञाने भवत्येवान्वयबोधः। अन्यतोऽन-वगतवाक्यार्थविशेषनिरूपिततात्पर्यस्य प्राग्ज्ञातुमशक्यत्वाच्च वाक्यमात्र-

का तात्पर्य कहा जाता है। जिस विषय के ज्ञान को उपक्रमादि से सफल बताया जाता है उस विषय से निरूपित ही तात्पर्य होता है अत: उससे अन्य अर्थ शब्दशक्ति आदि से प्रतीत होने पर भी शब्द का अभिप्रेतार्थ नहीं होता।

तात्पर्य का ज्ञान वाक्यार्थ के ज्ञान के प्रति कारण नहीं क्योंकि उसके बिना भी एक वाक्य में जितने उपस्थित, आकांक्षित, योग्य पदार्थ होते हैं उनका अन्वय समझ आ जाता है जिससे तात्पर्यज्ञान को शाब्दबोध में कारण नहीं मान सकते। ऐसा तो कहीं कहीं हो जाता है कि तात्पर्यविषयक भ्रम के कारण शब्द से आपातत: ज्ञात अर्थ के बारे में संशय हो जाये कि वह वाक्यार्थ है या नहीं अत: वहाँ तात्पर्यज्ञान संशयनिवृत्त्यर्थ जरूरी हो जाता है। अनेकार्थक शब्द सुनने पर इकट्ठे ही सारे अर्थ याद आते हों ऐसा कोई जरूरी नहीं अत: जो अर्थ याद आता है उसीका अन्वय समझा जाता है। कहीं अनेक अर्थ याद आ जायें और उनकी योग्यतादि का ज्ञान हो तो अनेक अर्थों का अन्वय भी समझा जाता ही है। (जैसे 'विश्वेश्वरं विश्वगुरुं प्रणम्य' इस बिन्दुमंगल में विश्वनाथ शंकर तथा श्री विश्वेश्वर सरस्वती दोनों की प्रणामविषयता समझ ली जाती है।) वाक्यैकसमधिगम्य अर्थ को विषय करने वाला तात्पर्य वाक्यार्थबोध से पूर्व समझा जा ही नहीं सकता कि वाक्यार्थज्ञान में हेतु हो सके। वाक्य सुनते ही तात्पर्यलिंग बुद्धिस्थ हो ऐसा भी नियम नहीं कि अर्थज्ञान से पूर्व तात्पर्य समझा जा सके। यह भी नहीं कि वाक्य के प्रातीतिक अर्थ में ही तात्पर्य होता हो जिससे वाक्यमात्र स्वार्थ में स्वतात्पर्य

श्रवणे सति तात्पर्यलिङ्गोपस्थितिनियमाभावात्, समभिव्याहारस्य अन्यथाऽपि दृष्टत्वाद्। इति सिद्धं ब्रह्मणि वेदांतानां तात्पर्यम्।

आक्षेपे– i) कार्यपरत्वशङ्का

नन्वेवमपि कार्यपरा एव वेदान्ता ब्रह्म प्रमापयिष्यन्ति, न तु ब्रह्मपरा एव, लोके पदानां कार्य एव सङ्गतिग्रहणात्।

प्रवर्तकवाक्ये प्रयोगाधीना हि व्युत्पत्तिः, सिद्धप्रयोगात् तल्लिङ्ग-प्रवृत्त्यसम्भवात्। प्रवृत्त्या च प्रवर्तकमेवानुमीयते। तच्च कार्यमिति ज्ञानादेव प्रथमप्रवृत्तिदर्शनादिति तत्रैव शब्दस्य सामर्थ्यमवगम्यते।

का गमका हो क्योंकि धोखा देने के लिये भी वाक्यप्रयोग होता है जहाँ वाक्यार्थ से तात्पर्यार्थ अलग होता है। (साहित्य में भी निषेध के तात्पर्य से विधि का प्रयोग प्रसिद्ध है 'गच्छ गच्छति चेत् कान्त!' आदि में। अतः तात्पर्यज्ञान का उपयोग संशयादिनिवृत्ति में है वाक्य से अर्थ बोध में नहीं। इसी से सापेक्षतापत्ति भी निरस्त है।)

एवं च ब्रह्म में वेदांतों का तात्पर्य निश्चित है।

यद्यपि वेदान्तों से ब्रह्म अवगत होता है तथापि वे केवल ब्रह्म में तात्पर्य वाले नहीं अपितु कार्य में तात्पर्य वाले हैं क्योंकि लोक में पदसंबंध कार्य से ही गृहीत है। (समन्वय सूत्र के द्वितीय वर्णक में यही पूर्वपक्ष कल्पतरु में (पृ.१०८) बताया है 'अयन्तु सन्तु वेदान्ता मानं ब्रह्मात्मवस्तुनि। किन्तु ज्ञानविधिद्वारेत्येष भेदः प्रतीयताम्।')

प्रवर्तकवाक्य में हुए शब्दप्रयोग के सहारे ही शब्दार्थग्रह होता है क्योंकि सिद्धार्थप्रयोग से व्युत्पत्तिलिंगभूत प्रवृत्ति असंभव है! प्रवृत्ति से अनुमान प्रवर्तक का ही होगा। प्रवर्तक कार्य ही हो सकता है क्योंकि अपनी भोजनादि प्रवृत्ति भी 'कार्य' इस ज्ञान से ही होती है–'करना चाहिए' समझकर भोजनादि करते हैं। इसलिये शब्द की सामर्थ्य (शक्ति) कार्य में ही है यह निर्णीत है।

कार्य की याद आये बिना ही प्रसिद्ध (ज्ञातार्थक) शब्दों के साथ वाक्य में कहा जाने पर शब्द के अर्थ का ग्रहण हो जाता है; जैसे 'कमल पर भौरा मँडरा रहा है'–यहाँ भ्रमर शब्द को छोड़कर बाकी शब्दों का अर्थ जानने

ii) सिद्धार्थकशक्तिनिरासः

न च कार्योपस्थितिं विनैव प्रसिद्धपदसमभिव्याहाराद् भ्रमरादिपदसङ्गतिग्रहेण न कार्यं सर्वपदार्थ इति वाच्यम्; प्राथमिकव्युत्पत्त्यनुसारेण तत्रापि कार्यस्य कल्पनात्। पुत्रस्ते जात इत्यादिवाक्यादपि मुखविकासादिलिङ्गेन पुत्रादिजन्मज्ञानमनुमाय कार्यबोधं विनैव प्रथमं व्युत्पत्तिः भवतीति चेद्? न; हर्षहेतूनामन्येषामपि संभवेन पुत्रजन्मपरिशेषाऽसम्भवात्।

iii) कार्यं लिङर्थः

न चैवमपि न कार्यं लिङर्थः, इष्टसाधनताज्ञानस्यैव प्रवर्तकत्वादिति वाच्यम्; अतीतवर्तमानेष्टसाधनताज्ञानेऽपि अप्रवृत्तेः। कृतिसाध्येष्टसाधन-ताज्ञानस्य प्रवर्तकत्वे; लाघवात् कार्यज्ञानमेव प्रवर्तकम्। कार्यं च कृतीप्सितमिति नातिप्रसङ्गः।

वाला कमल पर मँडराते कीट का नाम भ्रमर है यह हालात देखकर समझ लेता है; अतः सब पदों का अर्थ कार्य ही क्यों हो? इसलिये कि इस स्थल में भी कार्य की कल्पना कर लेनी चाहिए! प्रथम बार शक्तिग्रह वृद्धोक्ति-मध्यमवृद्धप्रवृत्ति के आधार पर जब कार्य में हो गया तो सर्वत्र उसी में होता रहेगा।

'तुम्हे पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई है' यह किसी पिता को कहा गया वाक्य किसी पुत्रपदशक्ति से अनभिज्ञने सुना और वाक्य सुनकर पिता की प्रसंन मुद्रा देखकर अनुमान किया कि 'इसे पुत्रजन्म पता चला है' और तब पुत्र शब्द की पुत्रार्थ में शक्ति समझ ली। इसमें कार्य का बोध बीच में आया नहीं। प्राथमिक व्युत्पत्ति ऐसे भी हो सकती है तो उसे कार्य में ही नियत क्यों मानना? इसलिये कि हर्ष के अनंत हेतु संभव हैं , पुत्रजन्मज्ञान ही अनुमेय क्यों होगा? अतः इस रीति से शक्तिग्रह–कम से कम प्राथमिक व्युत्पत्ति–नहीं हो सकता।

वृद्धादि व्यवहार में आज्ञाप्रदान--आज्ञापालन देखकर प्राथमिक व्युत्पत्ति भले ही हो लेकिन आज्ञाबोधक शब्द का–लिङ्–अर्थ कार्य क्यों मानें जब इच्छित की उपायता का ज्ञान ही प्रवर्तक हो सकता है? इसलिये कि अतीत और वर्तमान इष्टसाधनता का ज्ञान होने पर भी प्रवृत्ति नहीं होती। (अतीत में इसलिये कि वह अब प्रवृत्ति के अयोग्य हो चुका और वर्तमान में इसलिये

iv) कार्यान्विते शक्तिः

नन्वेवमपि अन्वितमात्रे शक्तिरस्तु पदार्थे, लाघवात्, न तु कार्यान्वित इति चेद्? न; श्रोतुः प्रयोजनसाधनप्रवृत्तिमुद्दिश्य प्रयुक्तवाक्यस्य प्रवर्तकपरत्वं विनानुपपत्तेः।

v) वेदान्ता विधिपराः

एवं श्रवणानन्तरमपि मननादिविधानात् प्रवृत्त्यधीनमेव फलं, न ज्ञानमात्राधीनमिति विधिपरं वेदान्तशास्त्रम्। इति?

समाधाने– i) कार्यं न शब्दार्थः

उच्यते। भवतु प्रवर्तकवाक्यात् प्रथमं व्युत्पत्तिः तथापि न कार्यं शब्दार्थः। तत्र तावत् कृतियोग्यत्वमात्रम्; अतिप्रसङ्गात्। यत्तु कृतीप्सितं

कि मौजूद ही है तो तदर्थ प्रवृत्ति चाहिये नहीं। एवं च इष्टोपायताज्ञान अकेला प्रवर्तक नहीं माना जा सकता।) यदि इष्टसाधनता में कृतिसाध्य विशेषण जोड़ो तो लाघव से कार्य ज्ञान को ही प्रवर्तक मानना बेहतर है। कार्य भी कृति से अभिलषित को ही कहते हैं अतः कुए में गिरना आदि कार्य न होने से कार्यज्ञान प्रवर्तक होकर वहाँ नहीं गिरायेगा।

कार्यज्ञान प्रवर्तक होने पर भी पदशक्ति तो अन्वित पदार्थ में ही माननी चाहिये कार्यान्वित में क्यों मानना? इसलिये कि श्रोता किसी प्रयोजन के उपाय में प्रवृत्त हो इस उद्देश्य से कहा वाक्य यदि प्रवर्तक में (कार्य में) तात्पर्य वाला न हो तो उद्देश्यानुरूप नहीं रहने से असंगत होगा अतः उसे कार्यपरक मानना पड़ेगा तथा प्रधान से सभी का अन्वय युक्तियुक्त है अतः पदमात्र की कार्यान्वित में शक्ति स्वीकार्य है।

न केवल व्युत्पत्तिबल से वेदांत कार्यपरक हैं वरन् श्रवण के बाद मननादि का विधान होने से भी निश्चय होता है कि फल किसी प्रवृत्ति से ही मिल सकता है, सिर्फ ज्ञान से नहीं। अतः वेदान्तशास्त्र भी विधि में तात्पर्य वाले हैं, ब्रह्म को समझा भले ही दें, उसमें उनका तात्पर्य नहीं। (यहाँ तक शंका है।)

उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं : यदि प्राथमिक व्युत्पत्ति प्रवर्तक वाक्य से हो जाये तो भी शब्दों का अर्थ कार्य (या कार्यान्वित) नहीं हो सकता। कृतियोग्य होनामात्र तो कार्य है नहीं अन्यथा पाप भी कार्य हो जायेंगे!

कार्यमिति; तन्न; कृतीप्सितत्वं हि कृत्या साधयितुमिच्छाविषयत्वम्, न च तत् प्रवर्तकज्ञानात् पूर्वम् अशाब्दप्रवृत्तौ ज्ञातुं शक्यम्। न च तदनन्तरभाविनः प्रवर्तकत्वं संभवति। कृत्या साधयितुमिच्छा-विषयत्वयोग्यत्वं तद् इति चेत्? तर्हि योग्यताज्ञानात् प्रवृत्तिर्वक्तव्या, सा च न क्रियास्वरूपम्, तज्ज्ञानेप्यप्रवृत्तेः। किन्तु हितसाधनत्वमेव इति कृतिसाध्यत्वे सति श्रेयःसाधनत्वमेव प्रवर्तकमिति सिद्धमस्मन्मतम्।

यह जो कहा था कि कृति से अभिलषित को कार्य कहते हैं उसका मतलब है कि कृति से साधने की इच्छा का विषय होना कार्यता है। लेकिन प्रवर्तकज्ञान से पूर्व जो अपनी भोजनादि रूप अशाब्द (शब्द से प्रेरणा पाये बिना) प्रवृत्ति है उसमें उक्त विषयता जानी नहीं जा सकती और बाद में होने वाले ज्ञानको प्रवृत्तिकारण नहीं मान सकते। (करने की इच्छा प्रवर्तकज्ञानके बाद होती है अतः इच्छाविषयता पहले पता नहीं चल सकती। तात्पर्य है कि बालक ने स्वयं में इष्टोपायताज्ञानप्रवृत्ति का तो साहचर्य देखा है अतः उसका वह मध्यवृद्ध में अनुमान कर सकता है लेकिन कार्यज्ञान से व्याप्ति अज्ञात होने से प्रवृत्ति देखकर कार्यज्ञान का अनुमान नहीं कर सकता। कार्य यदि उक्त इच्छाविषय है तो कार्यज्ञान निर्भर करेगा इच्छा पर जबकि इच्छा होनी है कार्यज्ञान के बाद अतः असंभव दोष है यह अभिप्राय है।)

इस दोष से बचने के लिये अगर कृति से साधने की इच्छा की विषयता की योग्यता कार्यलक्षण करो तो कहना पड़ेगा कि योग्यता का ज्ञान प्रवर्तक है लेकिन वह योग्यता क्रिया का स्वरूप तो है नहीं क्योंकि उतने मात्र के ज्ञान से प्रवृत्ति नहीं होती, अतः हितोपायता ही योग्यता कहनी होगी जिससे यही सार निकला कि कृतिसाध्य होते हुए जो कल्याण का उपाय हो वही ज्ञात होने पर प्रवर्तक होता है। यही हम वेदांतियों का कहना है। अतः कार्यरूप प्रवर्तक असिद्ध है। फलतः उसमें वाक्यतात्पर्य असंभव होने से शब्दों का अर्थ कार्य या कार्यान्वित नहीं।

इष्टोपायता के ज्ञान से जन्य कृतियोग्यताज्ञान प्रवर्तक मानो तो 'जन्यत्व' अंश अधिक जोड़ा, बाकी तो सिद्धांती का पक्ष ही रहा अतः हमें विशेष विरोध नहीं किन्तु इतना जरूर है कि अग्निहोत्रादि में प्रवृत्ति इस तरह संगत नहीं होगी

ii) लिङर्थो न कार्यम्

यत्तु–कृतियोग्यताज्ञानमेव प्रवर्तकम्। न चातिप्रसङ्गः; इष्टसाधनताज्ञानजन्यस्य तस्य प्रवर्तकत्वाद्– इति; तर्हि अधिकं प्रविष्टं, न तु तद्धानि:!

न च – वस्तुत इष्टसाधनताज्ञानजन्यं प्रवर्तकं, न तु तत् प्रवर्तकज्ञानविषय:– इति वाच्यम्; अनतिप्रसक्तावच्छेदकज्ञानं विना प्रवृत्तिहेतुत्वावधारणायोगात्। किञ्च, 'इदं कृतीप्सितम् इष्टसाधनत्वाद्' इत्यनुमानासंभवात् 'कृतिसाध्येष्टसाधनत्वाद्' इति वक्तव्यम्, इति आवश्यकत्वात् तदेव प्रवर्तकमस्तु नान्यत्। अशाब्दप्रवृत्तेः पूर्वं

क्योंकि उनमें इष्टसाधनता नहीं मानी जाती। सिद्धांती तो उन्हें पितृलोकफलक मान लेगा अत: सिद्धान्तानुसार उनमें प्रवृत्ति उपपन्न है।

वास्तव में जो इष्टसाधनताज्ञान से जन्य (कृतियोग्यताज्ञान) है वह प्रवर्तक है, प्रवर्तकज्ञानका विषय इष्टसाधनत्व हो यह जरूरी नहीं– यह कथन अनुचित है क्योंकि ऐसे अवच्छेदकको जाने बिना जो अतिप्रसंग को (व्यभिचार को) रोकता हो, प्रवृत्ति की कारणताका निश्चय संभव नहीं। (कृतियोग्यताज्ञानमात्र प्रवर्तक नहीं अन्यथा कुए में गिरने के ज्ञान से गिरने में प्रवृत्ति माननी होगी, अत: इष्टसाधनताज्ञानजन्यता को कृतियोग्यताज्ञानविषयता का अवच्छेदक मानना ही है। प्रवर्तकता का निर्णय उक्त अवच्छेदक के ज्ञान पर निर्भर करेगा ही क्योंकि वस्तुत: उक्त जन्यता रहने पर भी तथात्वेन अज्ञायमान में प्रवर्तकता होती नहीं। अत: इष्टसाधनताज्ञान की आवश्यकता किसी तरह नकारी नहीं जा सकती।) किं च इष्टसाधनत्व यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त नहीं है कि इष्टसाधन कृति से ईप्सित भी है क्योंकि सुधामरीचिमण्डल (चंद्र) आदि में इष्टसाधनता रहने पर भी कृति-ईप्सितता नहीं होती। अत: कृतिसाध्यत्वविशिष्ट इष्टसाधनत्व ही कृति-ईप्सितत्व को सिद्ध कर सकता है; एवं च जरूरी होने से उसे ही प्रवर्तक मानो, कार्य का आग्रह छोड़ो। अशाब्द प्रवृत्ति से भी पहले (स्वयं की भोजनादि प्रवृत्ति से पहले) कृतिसाध्येष्टसाधनता तो जरूर उपस्थित होनी ही पड़ती है अत: इसे छोड़कर प्रवृत्तिकारणता के ग्रहण में कल्पनीय

तदुपस्थितेरावश्यकत्वेन प्रवृत्तिकारणताग्रहस्य तद्विहाय कल्प्यज्ञानान्तर-विषयत्वायोगाद्। इति न कार्यं लिङर्थ:।

iii) भावनालिङर्थतानिरास:

अत एव भावनाऽपि न लिङर्थ:; अशाब्दप्रवृत्तौ तदहेतुत्वेन प्रवृत्त्या तदनुपस्थिते:।

किं तु प्रवर्तकाभिधायी लिङादि:कृतिसाध्यत्वे सति श्रेय:साधन-त्वमेवाभिधत्ते।

ज्ञानान्तर की विषयता मानना व्यर्थ है। अत: कार्य विधिशब्दों का–लिङ्का– अर्थ नहीं। (कृति से ईप्सित को कार्य मानकर कार्यज्ञान को प्रवर्तक मानना बेकार है जबकि कृतीप्सितता के लिये आवश्यक कृतिसाध्येष्टसाधनत्व का ज्ञान ही अनुगत प्रवर्तक संभव है, यह सरलार्थ है।)

पूर्वोक्त विचार यह भी सिद्ध कर देता है कि भावना लिङर्थ नहीं है। अशाब्द प्रवृत्ति के प्रति भावना कारण नहीं होती अत: मध्यमवृद्ध की प्रवृत्ति से बालक को भावना उपस्थित हो नहीं सकती कि वह उसे लिङर्थ समझ सके। (भगवान् श्रीसर्वज्ञ के रुचिर वचनों में भावना सुबोध है: 'लिङ्लोडादे: पुंप्रवृत्त्यंशनिष्ठो व्यापारो यस्तं विदुर्भावनेति ॥१.३८८॥ करणमिह लिङादे-र्ज्ञानमेवांगभाग: पुनरभिरुचिहेतुर्दृश्यते च प्रशंसा ॥३८९॥' पुरुषप्रवृत्तिरूप भाव्यांशमें निष्ठ अर्थात् पर्यवसायी जो लिङादि का व्यापार वह भावना (शब्दभावना) कहा जाता है जिसमें लिङादि का ज्ञान ही कारण है और अर्थवाद इतिकर्तव्यता होते हैं। शब्द के व्यापार रूप से इसलिये भावना मानते हैं क्योंकि मीमांसक ईश्वरवादी नहीं अत: ईश्वररूप चेतन की आज्ञा वैदिक विधि को मानते नहीं। इस भावना के ही चोदना, प्रवर्तना, प्रेरणा, विधि, उपदेश आदि भी नाम हैं।)

इस प्रकार प्रवर्तकके वाचक लिङादि का अर्थ इतना ही है– कृतिसाध्यता रहते हुए कल्याणसाधनता। कार्य या भावना लिङर्थ है ही नहीं कि उनका वेदांतों में प्राधान्य किसी तरह शंकित भी हो सके।

साध्यता व साधनता विरुद्ध धर्म हैं अत: शब्द एक ही वस्तु में दोनों का

iv) निरुक्तलिङर्थसमर्थनम्

साध्यसाधनत्वे कथमेकत्र शब्दः प्रतिपादयेद्, विरोधाद्, इति चेद्? न तावद् वस्तुविरोधः; कृति-फलनिरूपितयोः एकत्र अविरोधात्। अत एव न प्रतीतिविरोधोऽपि।

ननु तत्साध्यत्वं तत्कालेऽसिद्धसत्ताकस्यैव धर्मः, प्रतीयते च तथा; न च तदा तस्मिन् साधनत्वमस्ति असिद्धे तदयोगात्, न वा तदा प्रतीयते। अतः कथं न विरोधः? न च – कृतिसाध्यत्व-फलसाधनत्वयोः एककालावच्छेदेनाऽप्रतीतेर्न विरोधः – इति वाच्यम्; विशिष्टबोधकयोः कृतिसाध्यश्रेयःसाधनपदयोः समभिव्याहारेण तदभेदबोधकेन एककालावच्छेदप्रतीतेः। इति चेद्?

प्रतिपादन कैसे करेगा? (कृतिसाध्यता और इष्टसाधनता-यों एक क्रियादि में दोनों का विधान लिङादि करता है इस सिद्धांताभिमत पक्ष पर यह प्रश्न है। उत्तर देते हैं-) दोनों धर्म वस्तुगत विरोध वाले नहीं क्योंकि दोनों के निरूपक अलग-अलग हैं। जैसे घट दण्ड से साध्य है और जलानयन का साधन है ऐसे कृतिका साध्य और फल का साधन एक वस्तु हो इसमें कोई विरोध नहीं। अत एव इकट्ठे ही इनकी प्रतीति होना भी योग्य है।

प्रश्न होता है कि कृतिकाल में जिसकी सत्ता सिद्ध नहीं है वही कृतिसाध्य होता है, ऐसी ही प्रतीति भी होती है। उस समय-कृतिसाध्यतादशा में, असिद्धसत्ताकताकाल में-उसमें फलसाधनता नहीं रहती, जो अभी है ही नहीं वह साधन हो यह संभव नहीं। उस समय प्रतीत भी होता नहीं कि वह साधन है। इसलिये निरूपकभेद रहने पर भी साध्य-साधनता का विरोध होगा ही। ऐसा नहीं कि दोनों की प्रतीति एक काल के अवच्छेद से नहीं होती जिससे विरोध न हो; क्योंकि 'कृतिसाध्य' व 'श्रेयःसाधन' पद कृतिसाध्यत्वविशिष्ट और श्रेयःसाधनत्वविशिष्ट के बोधक हैं तथा उक्त विशिष्टों के अभेद का बोध इन दोनों पदों के समभिव्याहार से (अभेदान्वय-योग्य सहकथन से) हो जाता है; यद्यपि पदद्वय सुने नहीं जाते तथापि लिङादि दोनों अर्थ कहते हुए अभेद कहता है; अतः अभेदेन साध्यता-साधनता की प्रतीति होने से एक ही समय के अवच्छेद से दोनों मानने जरूरी हैं। साध्यताकाल में साधनता और

न; अत्र शब्दद्वयाभावात्। एक एव हि लिङ्शब्दः। स च कृतिसाध्यत्वसमानाधिकरणश्रेयस्साधनत्वमाह। तच्चैकत्राऽबाधितम्। अयमेव हि वाजपेयाद्विशेषः। तत्र हि गुणविधिपक्षे शब्दद्वयमस्तीति वैरूप्यात्तत्परित्यज्यते।

साधनताकाल में साध्यता हो सकती नहीं अतः विशिष्टों का अभेद असंभव है जिससे लिङर्थ का सिद्धान्त्युक्त अर्थ गलत कैसे नहीं है?

उत्तर है कि यदि दो शब्द विशिष्टपदार्थों को उपस्थित कर सामानाधिकरण्यवश अभेद बताते तब उक्त दोष आ सकता था किंतु यहाँ दो शब्द हैं नहीं, एक ही लिङ्शब्द है जो कृतिसाध्यता से समानाधिकरण श्रेयःसाधनता का वाचक है और उक्त साधनता एक क्रियादि में होना प्रमाणविरुद्ध नहीं है। (तात्पर्य है कि सिद्धान्तोक्त लिङर्थ के अनुसार एकत्र धर्मद्वय बोध्य हैं, न कि विशिष्टों का अभेद; और धर्म एक काल में ही रहें यह कोई नियम है नहीं कि विरोध हो।)

यदि यों साध्यसाधनता एकत्र संगत हैं तो 'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत' में गुणविधिका निराकरण इस तर्क से क्यों किया कि गुणविधि मानने से एकत्र साध्यता-साधनता कहना प्राप्त होंगे जो विरुद्ध है? (जै. सू. १.४. अधि. ६)। वहाँ इसलिये वैसा करना संगत है कि 'स्वाराज्यकामो यजेत' इस समभिव्याहार से करणता तथा 'वाजपेयेन यजेत' इससे साध्यता ये विभिन्न समभिव्याहारों से प्रतिपाद्य होती हैं यदि उसे गुणविधि मानें तो। एक शब्दशक्ति से वहाँ साध्यसाधनता नहीं कही जा रही। प्रकृत में एक लिङ्शब्द ही दोनों कह रहा है जिससे सामानाधिकरण्य का ही बोध होता है न कि विशिष्टवैशिष्ट्यका जिससे गुण-प्रधान का वैरूप्य प्राप्त हो। अतः वहाँ गुणविधान का परित्याग उचित है लेकिन उसे दृष्टांत बनाकर लिङर्थ का उक्त निरूपण सदोष नहीं कहा जा सकता। (उपस्थापकभेद होने पर विशिष्टों का अभेद सामानाधिकरण्य से पता चलता है अतः विशेषणविरोध बाधक बनता है किन्तु विरुद्ध विशेषणों का उपस्थापक एक पद हो तो केवल विशेषणों की एकाधिकरणकता ही पता चलती है, न कि अभेद, जिससे विरोध कालादि उपाधियों से व्यवस्थित हो जाता है, बाधक नहीं बनता-यह तात्पर्य है। वस्तुतस्तु वेद विधेयतावच्छेदेन कृतिसाध्यत्वफलसाधनत्व का विधान कर रहा

v) हितसाधनत्वमेव लिङर्थ इति पक्षः

अथवा सर्वत्र प्रवर्तकमेतदेवास्तु, लिङर्थस्तु हितसाधनत्वमेव, न तु कृतिसाध्यत्वांशोऽपि; तस्याऽन्यलभ्यत्वेनाऽशब्दार्थत्वात्, आख्यातान्त-धातुसामर्थ्यात् तत्सिद्धेः।

vi) कृतिसाध्यत्वमन्यतो ज्ञायते

अथवा श्रेयस्साधनतयाऽवगते ह्यानयनादौ विद्यमानप्रागभाव-प्रतियोगिनि स्वसामर्थ्याद्यनुसारेण भवति कृतिसाध्यत्वज्ञानम्। न च कृतिसाध्यत्वज्ञानं प्रागभावज्ञानं विनाऽशाब्दप्रवृत्ताविव अन्यतोऽपि न भवति।

है तथा क्रियादिविशेषों के साध्यसाधनत्व का बोध अर्थापत्ति से हो जाता है-क्योंकि विशेषों के बिना सामान्य संभव नहीं-अत: साध्य रहते क्रियादि भले ही साधन न हो सकें पर विधेयतया उसमें साध्यता-साधनता का रहना नकार नहीं सकते।)

या यों मान सकते हैं कि प्रवर्तक सर्वत्र भले ही कृतिसाध्यत्ववि-शिष्टश्रेय साधनत्व ही हो लेकिन लिङर्थ तो हितसाधनता ही है न कि कृतिसाध्यता-अंश भी क्योंकि कृतिसाध्यता का ज्ञान उपायांतर से होता है न कि लिङ्की सामर्थ्य से। उपायान्तर है-आख्यातान्त धातु का सामर्थ्य। (लिङादि तिङ्तो हैं ही अत: लडादि की तरह उनकी कृति में शक्ति विद्यमान है। कृति सविषय होती है अर्थात् कृतिबोधक तिङ्से एकपदतापन्न धातु का अर्थ विषयरूप से तिङ्बोध्य हो जाता है। एवं च तिङ्त्वेन कृतिसाध्यता सुज्ञेय होने से लिङ्त्वेन उसमें शक्ति की कल्पना व्यर्थ है। तात्पर्य है कि 'करो' सुनकर जो कृतिसाध्यता पता चलती है वह 'ओ' इस विधायक का खास अर्थ नहीं क्योंकि इससे अतिरिक्त 'करता है, था, करेगा' सुनकर भी कृतिसाध्यता पता चल जाती है अत: 'ओ' का खास अर्थ हितोपायता ही संगत है।)

या यों समझना चाहिये कि हितोपायरूप से समझे गये आनयन आदि में-जो आनयनादि विद्यमान प्रागभाव का प्रतियोगी है-अपने सामर्थ्यादि के अनुसार ही कृतिसाध्यता का ज्ञान हो जाता है। प्रागभावज्ञान के बिना उपायान्तर से कृतिसाध्यत्व ज्ञान न होता हो ऐसी बात नहीं, जैसे अशाब्द

न च कृतिसाध्यताज्ञानाद् हितसाधनत्वज्ञानं भवतीति वैपरीत्यम्; अहितसाधनानामपि क्रियाणां सत्त्वात्। आप्तस्यापि स्वार्थमात्रोद्देशेन प्रवृत्त्युपदेशोपपत्तेः। धात्वर्थस्य धात्ववगतस्वरूपमात्रेणैव साध्यत्वज्ञान-सम्भवाच्च।

vii) निषेधबलात् कृतिसाध्यता न लिङर्थः

निषेधे नञर्थासिद्धिप्रसङ्गाच्च। तस्माद् हितसाधनत्वमेव लिङर्थः।

viii) वेदोक्तसाधनत्वम्

न च यागादेः क्षणिकत्वाद् न समयान्तरभाविश्रेयःसाधनत्वमिति

प्रवृत्ति में। (यह अनुमान किया जा सकता है-भविष्यत्काल, पाकका आधार है, कालविशेष होने से, संमत काल की तरह।)

ऐसा नहीं कह सकते कि कृतिसाध्यताज्ञान से हितसाधनताज्ञान होता है क्योंकि अहितसाधनभूत क्रियायें भी हुआ ही करती हैं तथा आप्तपुरुष भी स्वार्थ के ही उद्देश्य से प्रवृत्ति का उपदेश करें यह संगत हो जाता है। (एवं च न कृतिसाध्यता और न आप्तोपदेशता की हितोपायता से व्याप्ति है वरन् हितोपाय ही कृतिसाध्य होता है यदि प्रागभावप्रतियोगी हो तो।) धातु से अवगत आनयनत्वादि स्वरूपमात्र से ही धात्वर्थ की साध्यता का ज्ञान संभव है अत: कृतिसाध्यतांश में लिङ्शक्ति मानना बेकार है।

यदि कृतिसाध्यता ही लिङर्थ हो तो 'मत मारो' आदि में निषेध का अन्वय न हो पायेगा क्योंकि मारना कृतिसाध्य तो है ही। इसलिये श्रेय:साधनता ही लिङर्थ है। (आचार्य मधुसूदन के ये वाक्य नृसिंहाश्रमीय आशय को स्फुट करते हैं: 'निषेधवाक्यस्य हि निषिध्यमानहननादिगतश्रेयःसाधनत्वाभाव एवार्थः।' (पृ. २९९ सा. सं.)। 'इदं बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनमिति भ्रमो भवतीति भ्रान्तिप्राप्तं तदेव विशिष्टेष्टसाधनत्वं निषेधवाक्येन नञर्थान्वयाय लक्षणयाऽनूद्य निषिध्यते' (पृ ३१६; सारसंग्रह)। वस्तुतस्तु यह विवरणमें ही व्यक्त है 'हननस्य यदिष्टसाधनत्वं प्रवर्तकं तदेव प्रत्ययेन अनूद्य प्रतिषिध्यते - ब्राह्मण-हननमिष्टसाधनं न भवतीति।' (पृ. ६६८)।

यदि कार्य नहीं मानकर यागादि को इष्टोपाय मानोगे तो अप्रामाण्य होगा क्योंकि क्षणिक यागादि कालांतर में होने वाले श्रेय के साधन कैसे बन सकते

वैदिकवाक्यमप्रमाणं स्यादिति वाच्यम्; कार्यानुकूलशक्तिमत्त्वलक्षण-साधनत्वस्य वेदबोध्यस्य मानान्तरेणाऽबाध्यत्वात्। नारास्थिशुचित्वानुमानवद् अभावानुमानस्य आगमेनैव बाधात्। न चैवं विनष्टादपि दण्डात् तदितरकारणसमवधाने घटोत्पत्तिप्रसङ्गः; तद्ग्राहकान्वयव्यतिरेकाद्यभावेन तदसंभवात्। अत्र च श्रुतिर्मानम्।

ix) तत्रैव पक्षान्तरम्

अथ वा प्रवर्तकज्ञानविषयसाधनत्वं श्रुत्यर्थः। तच्च अनुकूलत्वमात्रं, न त्वव्यवहितपूर्ववर्तित्वरूपं, तस्य प्रवृत्तावनुपयोगात्। समयान्तरभाविस्मृत्याद्यर्थमपि पुण्यवस्त्वनुभवादौ प्रवृत्तिर्दृश्यते। तच्च यागे न केनाऽपि बाध्यत इति न किञ्चिदनुपपन्नम्।

हैं? अप्रामाण्य नहीं होगा क्योंकि वेद जिस साधनता को कह रहा है वह है फल के अनुकूल शक्ति वाला होना (न कि फल से अव्यवहित पूर्ववर्ती होना)। इस तथ्यका बाध कोई प्रमाण नहीं करता। क्षणिकत्वादि से कालांतरीय फलोपायताऽभावका अनुमान शास्त्र से–साधनताबोधक श्रुति से–ही बाधित होता है जैसे नर-हड्डी की पवित्रताका अनुमान। तब बाकी कारण रहते नष्ट दण्ड भी घटकारण क्यों नहीं बनता? इसलिये कि नष्ट दण्ड से घटोत्पत्ति अन्वयव्यतिरेक से देखी नहीं गयी और दृष्ट कारणता दर्शन या तन्मूलक प्रमाण से ही मान्य है। अदृष्ट कारणता में शास्त्र ही अकाट्य प्रमाण है। (विनष्ट याग भी हेतु होता है क्योंकि नौकर की सेवा की तरह मालिकस्थानीय परमेश्वर जानता है कि इसने याग किया है अतः उचित काल में वह फल दे देता है; 'यागाद्यनुष्ठानमवगच्छता परमेश्वरेण भृत्यस्य चिरकालव्यवहित-सेवाफलमिव राज्ञा तदितरहेतुसमवधानदशायां सेवाफलमिव स्वर्गाद्युत्पद्यते।' (दीपन) यह भाष्याद्यनुसारी व्यवस्था बतायी है।)

अथवा प्रवृत्ति कराने वाले ज्ञान के विषय के प्रति साधनता ही श्रौत विद्ध्यर्थ है। यह साधनता केवल अनुकूलतारूप है न कि फल से ठीक पूर्व होना रूप क्योंकि उसका ज्ञान प्रवृत्ति के लिये उपयोगी नहीं। कालान्तर में होने वाली स्मृति (याद) आदि के प्रयोजन से भी पुण्यवस्तु के अनुभवादि में प्रवृत्ति देखी जाती है (अतः प्रवृत्ति आनुकूल्य की आकांक्षा रखती है, अव्यवहित पूर्वता की नहीं)। याग में उक्त अनुकूलता का किसी तरह बाध संभव नहीं।

कार्यमपि तदेवोपदिश्यतां, न त्वकृतिसाध्यमपूर्वम्; यस्मिन् सत्यपि अग्रिमक्षणे पुरुषव्यापारं विना काम्यं न सिद्ध्यत्येव तस्यैव कामिकार्यत्वात्। एवं च सति प्राथमिकव्युत्पत्तिरपि अनुगृहीता भवतीति न किञ्चित्त्वदभिमतकार्ये प्रमाणम्।

x) अन्विते शक्तिः

अस्तु वा यत्किञ्चित् प्रवर्तकं तथापि न प्रवर्तकान्विते शक्तिः, गौरवात्, किन्तु लाघवाद् अन्वितमात्रे। प्रवर्तकज्ञानोद्देशस्तु लिङादिपदसमभिव्याहारनिमित्तं, न तु पदमात्रप्रयोगेऽपि, संसर्गमात्रज्ञानोद्देशेनापि लोके बहुप्रयोगदर्शनात्।

अपि च लोके भवत्येव 'पुत्रस्ते जात' इत्यादिवाक्यादपि प्रथमं व्युत्पत्तिः, तत्पदाङ्कितपटोपायनादिप्रदर्शनादिना पुत्रजन्मपरिशेषसम्भवात्। तस्माद् अन्वित एव शक्तिः।

कार्य शब्द से भी इसे ही कहना चाहिये न कि ऐसे अपूर्व पदार्थ को जो स्वतः कृतिसाध्य नहीं है। नियोगरूप कार्य मानने पर यह परिस्थिति बनती है कि नियोग होने पर भी पुरुषव्यापार के बिना अगले क्षण काम्य की सिद्धि नहीं ही होती और उसी नियोग को फलेच्छुक का कार्य मानना पड़ता है (जो ठीक नहीं क्योंकि जिसके होने पर स्वाभिलषित की सिद्धि के लिये अपना अन्य व्यापार अपेक्षित न हो वही अपने अनुकूल कार्य होता है)। यागकार्यता ही लिङर्थ मान लेने पर लोकसिद्ध प्राथमिक व्युत्पत्ति भी–जो धात्वर्थरूप कार्य में गृहीत है–संगत रह जाती है। नियोगरूप कार्य तो अत्यन्त अप्रामाणिक है।

प्रवर्तक चाहे जो हो, पदशक्ति प्रवर्तक से अन्वित में नहीं मान सकते क्योंकि व्यर्थ गौरव है जबकि लाघवोपेत पक्ष भी संगत है कि सिर्फ अन्वित स्वार्थ में शक्ति होती है। लिङादिपद के प्रयोग में निमित्त है प्रवर्तक ज्ञान कराने का प्रयोजन। सभी शब्दों का प्रयोग उसी प्रयोजन से नहीं होता क्योंकि लोक में बहुतेरे प्रयोग सिर्फ सम्बन्धज्ञान कराने के लिये होते हैं। (जैसे 'किसका घट है?' 'मेरा'।)

किं च सिद्धार्थ में शक्तिग्रह असंभव कहा था (आक्षेप-ii) वह ठीक

xi) अन्विताभिधानम्

यद्यपि पदार्थमात्रे शक्त्यभ्युपगमेऽपि नाखण्डार्थवादिनामस्माकं काचित् क्षतिः, तथाप्येकपदप्रयोगेऽपि अन्वयविशेषस्य नियमेन जिज्ञासा-दर्शनात्, तस्याश्च अन्वयसामान्यज्ञानपूर्वकत्वात्, तज्ज्ञानस्य च तदा शब्दादन्यतोऽसम्भवात् शब्द एव अन्वितमभिधत्त इत्यन्विताभिधानम्।

चक्षुषा परिदृष्टफलविशेषे लिङ्गेन सामान्यतो रसोपस्थितौ तद्विशेषजिज्ञासेव अत्रापि सामान्यतो भवतीति चेद्? न, तत्र नियमेन तदभावात्। अन्यथा वैशेषिकमत इव व्याप्तिप्रतिसन्धानदशायामेव शब्दार्थसंसर्गः प्रतीयत इति शब्दोऽप्यप्रमाणं स्यात्।

नहीं। लोक में 'तुम्हें पुत्रलाभ हुआ है' आदि वाक्य से भी प्राथमिक व्युत्पत्ति हो जाती है। पुत्र के चरणों के चिह्न से अंकित कपड़ा, भेंट आदि दिखाने से व्युत्पित्सु समझ सकता है कि प्रसन्नता का हेत्वन्तर नहीं, पुत्रजन्म ही उसमें कारण है। (अथवा अंगुल्या निर्देश कर जहाँ शक्तिग्रह कराते हैं वहाँ सिद्धार्थ में ही गृहीत होना स्वाभाविक है।) इसलिये अन्वययुक्त निजार्थ में शक्ति माननी चाहिये।

यद्यपि सिर्फ पदार्थ में शक्ति मानने पर भी हम अखण्डार्थवादियों के मत में हानि नहीं (क्योंकि हमारे मुख्य विचारणीय वाक्य से संसर्ग का पता चलना ही नहीं) तथापि अकेले शब्द का प्रयोग होने पर भी नियमतः अन्वयविशेष की जिज्ञासा होती है तथा वह तभी संभव है जब पहले अन्वयसामान्यका ज्ञान हो और उस समय अन्वयसामान्यज्ञान शब्दातिरिक्त अन्य उपाय से संभव नहीं अतः यही मानना संगत है कि शब्द ही अन्वितार्थ का बोधक है। एवं च अन्विताभिधान पक्ष बेहतर है। (संक्षेपशारीरक में (१.३८१-३८५) यही कहा गया है। विवरणाचार्य भी अन्विताभिधानसमर्थक हैं।)

आखों से फलविशेष देखने पर लिङ्गसे सामान्यतः स्वाद उपस्थित हो जाने पर स्वादविशेषकी जिज्ञासा होती है ऐसे ही यहाँ भी-गाय आदि पदार्थ, किसी से अन्वित हैं, पदार्थ होने से-इस अनुमान से सामान्यतः अन्वयज्ञान संभव होने से पद को अन्वयोपस्थापक क्यों मानना? इसलिये कि दृष्टान्त में नियमतः स्वादविशेषकी आकांक्षा नहीं होती अतः प्रत्यक्षातिरिक्त उपाय से

xii) मिश्रमतम्

केचित्तु- पदानि शक्त्या स्वस्वपदार्थानभिधाय संभूय शक्त्या लक्षणया वाऽन्वितमपि बोधयन्ति, न तु पदाभिहिताः पदार्थाः संसर्गबोधकाः -- इत्यन्विताभिधानमाहुः।

उभयथापि न कार्यं सर्वशब्दार्थः।

स्वादसामान्यकी उपस्थिति मानी जा सकती है जबकि वाक्यघटकतया विद्यमानत्वेन अभिमत पदमात्र सुनकर अन्वयजिज्ञासा होती है जिससे पद को ही अन्वयोपस्थापक मानना संगत है। ऐसा न मानने पर व्याप्ति याद आने पर ही शब्दार्थसंबंध प्रतीत होगा तो वैशेषिक मत की तरह शब्द को स्वतंत्र प्रमाण ही मानना छोड़ना पड़ेगा।

कुछ विचारक कहते हैं कि पद शक्ति से निजी अर्थ कहकर मिलकर लक्षणासे अन्वित का भी बोध कराते हैं, ऐसा नहीं कि पदोक्त अर्थ ही संसर्गबोधक हों; इस तरह का अन्विताभिधान मान्य है। (मूल में 'शक्त्या' दृष्टांतार्थ है कि जैसे पूर्वमत शक्ति से अन्वयबोध मानता है ऐसे हम लक्षणासे मानते हैं। कल्पतरु में (पृ. १३६) कहा है 'पदैः पदार्था एवाभिधीयन्ते, अर्थान्तरान्विततया उपलक्ष्यन्ते। xxx वाक्यार्थप्रत्ययोद्देशेन प्रयुक्तस्य पदवृन्दस्य येऽभिधेया अनन्वितपदार्थास्तेषां वाक्यार्थीभावानुपपत्तिरेव अन्वितलक्षणाया निदानम्।' अभिहितान्वय का संक्षिप्त परिचय सारसंग्रह (१.३७०) में है: 'पदानां हि पदार्थबोधेनैव पर्यवसानम्। अन्यथा विरम्य व्यापारप्रसङ्गात्। पदाभिहिताश्च पदार्था विशेषणविशेष्यता परस्परं संसृष्टं स्वस्वात्मानं बोधयन्तीति।xx न चाविद्यमानानामतीताद्यर्थानां कथमनुभावकत्वमिति वाच्यम्; परमते तादृशपदादेरिव, ज्ञायमानतयाऽतीतादेरपि ज्ञानकारणत्वोपपत्तेः।xx अत्यन्तलाघवाच्छब्दार्थ एव पदानां शक्तिरिति भावः।')

हर हालत में इतना तय रहा कि (किसी भी, या कम-से-कम) सब शब्दों का अर्थ नियोगरूप कार्य नहीं ही है।

आक्षेप्ता ने जो यह माना था कि कार्यपरक वेदांत ही ब्रह्म प्रमाणित कर देंगे वह भी बेतुकी बात है। विधि में तात्पर्य रखकर वे किस तरह का ब्रह्म बतायेंगे? अद्वैत ब्रह्म तो बता नहीं सकते क्योंकि उसमें कोई अन्य प्रमाण है नहीं

xiii) विधिपरत्वे ब्रह्मासिद्धिः

किञ्चैवं विधिपराच्छब्दात् कीदृशं ब्रह्म सिद्ध्यति? न तावदद्वैतम्, तत्र मानाभावात्। शब्दस्य कार्यपरत्वाद्, एकस्य वाक्यस्योभयपरत्वाऽयोगात्। न च देवताधिकरणन्यायात् तत्सिद्धिः; भेदप्रमाणविरोधे तदसंभवात्।

न च जीवातिरिक्तब्रह्मसिद्धिः; 'तत्त्वमसि' 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' (छां. ६. ४. ७.; बृ. ३. ७. २३; बृ. १. १. २४) इत्याद्यभेदनिर्णीततात्पर्यश्रुतिविरोधात्।

न वा तत्प्रतिपादने प्रयोजनं पश्यामः। न च तदुपासनातः फलम्; तस्या अविद्यानिवृत्तौ ब्रह्मभावे वाऽनुपयोगात्। एतच्च भाष्यादौ स्पष्टम्।

xiv) विधेयज्ञानान्न मोक्षः

यत्तु विधीयमानज्ञानाद् मोक्षो भविष्यति, ज्ञानस्याविद्यानिवृत्त्यादौ समर्थत्वाद् इति; तन्न, प्रमाणभावेन [°णाऽभा°?] अभेदज्ञानस्यैव असंभवात्।

और शब्द को कार्यपरक मान लिया तो उससे ब्रह्म सिद्ध होगा नहीं क्योंकि एक वाक्य दो अर्थों में प्रमाण नहीं हो सकता। देवता-विग्रहादि की तरह विधिसम्बद्ध वाक्यों से अद्वैत ब्रह्म सिद्ध हो यह भी उचित नहीं क्योंकि देवविग्रहादि में प्रमाणांतरविरोध नहीं जबकि अद्वैत में भेदगोचर प्रमाण का विरोध रहते अतत्पर वाक्य से उसकी प्रमिति असंभव है।

अद्वैत न सही, जीवभिन्न ब्रह्म ही विधिसम्बद्ध वाक्यों से सिद्ध हो - यह भी संभव नहीं क्योंकि अभेदबोधक श्रुतियाँ विरुद्ध पड़ेंगी।

जीवभिन्न ब्रह्म के प्रतिपादन में प्रयोजन भी कुछ है नहीं। उसकी उपासना से न अविद्या मिटनी है, न ब्रह्मरूपता मिलनी है अतः मुमुक्षुप्रार्थित फल उससे अलभ्य है। ये सारी बातें समन्वयसूत्र के तथा अन्यत्र भाष्य में एवं भाष्यव्याख्याओं में और प्रकरणों में विस्तार से समझाई गयी हैं।

यह जो मान्यता है कि विधिप्रेरणा के अधीन होकर जो ज्ञान होगा वह मोक्षप्रद है क्योंकि ज्ञान (चाहे विधेय ही हो किंतु ज्ञान है इसलिये) अविद्या मिटाने आदि में समर्थ है; वह मान्यता गलत है क्योंकि वेदांत विधिपरक होंगे तो अभेदज्ञान ही असंभव है क्योंकि उसका कोई प्रमाणभूत साधन नहीं

xv) ज्ञानमविधेयम्

ज्ञानस्याऽविधेयत्वाच्च। - क) न तावच्छाब्दज्ञानं विधेयम्; तस्याग्निहोत्रादिवाक्यार्थज्ञानवद् अविधेयत्वात्। ख) नापि वाक्यार्थज्ञानावृत्तिरूपोऽभ्यासो विधेयः; मोक्षस्य नित्यसिद्धस्य तदसाध्यत्वात्। नापि साक्षात्कारः तत्फलम्; अभ्यासस्य अप्रमाणत्वेन अतत्फलत्वात्। नापि अभ्याससहितान्मनसः साक्षात्कारः मनसोऽप्यप्रमाणत्वात्। ग) दृष्टफलत्वादपि न तद् विधेयम्। न च नियमविधिः; नियमापूर्वस्यापि साक्षात्कारः फलं वक्तव्यः, अन्यस्याऽसंभवात्; ततश्च विधेरपि

(यथाश्रुतमें - प्रमाणरूप अभेदज्ञान असंभव है - ऐसा अनुवाद समझना चाहिये।)

ज्ञान विधियोग्य है भी नहीं कि उसके विधान में वेदांतों का तात्पर्य हो सके। क) शाब्दबोधात्मक ज्ञान इसलिये विधेय नहीं कि जैसे अग्निहोत्रादि वाक्यों से अर्थज्ञान बिना विधि के होता है वैसे ब्रह्मवाक्यों से भी हो सकता है।

ख) वाक्य से हुए अर्थज्ञान की आवृत्ति अर्थात् अभ्यास की विधि इसलिये अमान्य है कि नित्यसिद्ध मोक्ष अभ्याससाध्य नहीं हो सकता। अभ्यासफल साक्षात्कार हो यह भी ठीक नहीं क्योंकि अभ्यासनामक कोई प्रमाण तो है नहीं जो साक्षात्कार पैदा करे। अभ्यास से बल पाये मनसे साक्षात्कार होता है ऐसा ब्रह्मसिद्धिकार के पृष्ठमर्दकों का मानना है किन्तु क्योंकि मन भी कोई प्रमाण है नहीं इसलिये उससे भी साक्षात्कार असंभव है।

ग) ज्ञान का फल अदृष्टद्वारक न होने से भी उसे विधेय होने की जरूरत नहीं। अवघातादि की तरह नियमविधि मानोगे तो वेदांतों की विधिपरकता सिद्ध नहीं होने से वादी का अभीष्ट लाभ नहीं है। कैसे? नियम मानने पर नियमापूर्व का फल बताना होगा जो प्रकृत में साक्षात्कार ही कहोगे क्योंकि अन्य कोई फल यहाँ संभव नहीं। साक्षात्कार ब्रह्म का अभिव्यंजक होने से ब्रह्म का शेष है- क्योंकि अभिव्यंग्य ही प्रधान होता है-अतः साक्षात्कारफलक विधि भी ब्रह्मका शेष ही होगी जिससे वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्म ही प्रधान रहेगा जो सिद्धांती को इष्ट है। अभ्यास आदि के विधान में तो किसी वाक्य का अवान्तर तात्पर्य मान कर व्यवस्था बन जाती है। अतः ज्ञानविधि मानना व्यर्थ है।

प्रतीयमानब्रह्मशेषतयाऽस्मदिष्टमेव चेष्टितम्। घ) नापि साक्षात्कारो विधेयः; तस्य श्रवणादिविधिफलतया स्वर्गादिवदविधेयत्वात्। न च साक्षात्कार एव विधिरस्तु न श्रवणादाविति वाच्यम्; साक्षात्कारो हि श्रवणादिद्वारैव अनुष्ठेयो न स्वतः, प्रमाणव्यापारादृते तस्य पुरुषेण कर्तुमशक्यत्वात्। ततश्च श्रवणादिप्रवृत्त्यैवात्र साक्षात्कारसंभवे न तद् विधेयम्। ङ) किं च प्रमाणज्ञानमात्रं न विधेयम्; तस्येच्छासाध्यत्वा-भावाद्, इच्छां विनाऽपि अनिष्टज्ञानदर्शनात्। विध्यधीनपुरुषेच्छा-जन्यप्रयत्नसाध्यस्यैव विधेयत्वात्। च) किं च यद्विषयं ज्ञानं विधेयमिष्यते तदप्यनिच्छतोऽपि शब्दादिना जायत इति न विधेयम्। कथं तर्हि

घ) साक्षात्कार विधियोग्य नहीं कि उसके विधान को ज्ञानविधि कहें। श्रवणादिविधिका फल होने से साक्षात्कार स्वर्गादि की तरह अविधेय है। श्रवणादि की जगह साक्षात्कार की ही विधि मानें यह संभव नहीं क्योंकि श्रवणादि द्वारा ही साक्षात्कार का 'अनुष्ठान' हो सकता है, उनके बिना खुद वही उत्पन्न नहीं किया जा सकता। प्रमाणों के प्रयोग के बिना व्यक्ति प्रमितिरूप साक्षात्कार पा नहीं सकता। इसलिये श्रवणादिप्रवृत्ति से ही यहाँ–बिना अदृष्ट को द्वार बनाये–साक्षात्कार संभव रहते उसे विधेय नहीं मान सकते। (अर्थात् साक्षात्कार को विधेय मानने पर भी इतिकर्तव्यतारूप से श्रवणादि की विधि माननी ही पड़ेगी अन्यथा अशस्त्रीय उपायों के अनुष्ठान की व्यावृत्ति नहीं होगी। एवं च व्यर्थ गौरव है क्योंकि उभयत्र विधि माननी पड़ी। केवल श्रवणादिविधि मानने पर दृष्ट फल होने से साक्षात्कार स्वतः सिद्ध होगा अतः उसका विधान अस्वीकार्य है।)

ङ) कोई भी प्रमाणज्ञान विधेय नहीं होता क्योंकि वह इच्छा से साध्य नहीं कारण कि बिना इच्छा के भी अनिष्ट आदि का दर्शन होता रहता है। विधेय वही होता है जो विधि के अधीन हुई पुरुषेच्छा से जन्य प्रयत्न द्वारा साध्य हो। (यद्यपि पुरुषेच्छा फलकी होती है जिस में विध्यधीनता नहीं तथापि साधनविषयक इच्छा विधि के अधीन ही होती है क्योंकि साधनका ज्ञान विधि से ही होता है।)

च) जिस विषय के ज्ञान की विधि मानना चाहते हो उसी विषयका ज्ञान बिना चाहे भी शब्दादि से उत्पन्न हो ही जायेगा तो विधि की जरूरत क्या है?

आज्यावेक्षणादिविधिरिति? न, ज्ञानानुकूलाज्यावेक्षणक्रियाया एव तत्रापि विधेयत्वात्, तत्र चेच्छाजन्यत्वस्यावश्यं वक्तव्यत्वात्। आज्यज्ञानस्यान्यत्र क्लृप्तकारणादेवोपपत्तेरिच्छाजन्यत्वाऽभावात्।

xvi) यागादिर्विधेयः

न चैवं यागादावपि सामग्र्येव विधेया, न क्रियेति वाच्यम्; क्रियामात्रस्याऽविधेयत्वे विधितः सामग्रीसम्पादनस्यैव अयोगात्। ततश्च यागपदे लक्षणा न न्याय्येति श्रूयमाणक्रियां परित्यज्य अश्रुतक्रिया-विषयत्वे प्रमाणाभावात्, श्रुत्यनुरोधेन याग एव विधेयः।

('वाक्य से ज्ञान करो' यही विधि मानोगे। वाक्य सुनने पर बिना विधिके भी ज्ञान होना ही है अतः 'वाक्य सुनो' इतनी ही विधि मान्य है।)

यदि ज्ञान विधेय नहीं तो आज्य-अवेक्षण आदि का विधान कैसे संगत होगा? ('पत्न्याज्यमवेक्षते' (तै.ब्रा. ३. ३. ४.१) में विधि मानी है कि यजमानपत्नी हविर्भूत घी को देखे।) वहाँ भी आज्य देखने की वैसी क्रिया विधेय है जो आज्य के चाक्षुष ज्ञान के अनुकूल हो क्योंकि उस क्रिया को अवश्य ही इच्छाजन्य कह सकते हैं। आज्यज्ञान तो उन्हीं कारणों से उत्पन्न हो जायेगा जो कारण अनिष्टदर्शनादि में स्वीकृत हैं अतः वह इच्छाजन्य नहीं माना जा सकता। (अनुकूल क्रिया अर्थात् पलकें खोलना, डोये को घी की सीध में करना, रोशनी आने देना इत्यादि। मन व आँख एकाग्र करना भी समझना चाहिये। एवं च देहद्वयसाध्य क्रिया विधेय हो सकती है, प्रमाणपरतंत्र होने वाला ज्ञान नहीं।)

तब यागादि स्थल में भी क्रिया की बजाये सामग्री की ही विधि क्यों न मान ली जाये? इसलिये कि जब क्रियामात्र ही विधेय नहीं रहेगी तब विध्यधीन होकर सामग्री एकत्र ही नहीं की जा सकती! (विनियुक्त को ही सामग्री कहते हैं। द्रव्यादि का क्रिया में ही विनियोग होता है। क्रिया विधेय न हो तो किस में विनियोग पाकर द्रव्यादि को सामग्री समझा जायेगा? और किसके संपादनार्थ सामग्री बटोरी जायेगी?) इसलिये यागवाचक पद को सामग्री में लाक्षणिक मानना ठीक नहीं (जबकि ज्ञानवाचक पद की तदनुकूल क्रिया में लक्षणा मानना उचित है)। सामग्रीसार्थक्य के लिये क्रिया तो चाहिये ही अतः शब्दोक्त क्रिया को छोड़कर अश्रुत क्रिया का विधान मानने में कोई प्रमाण न होने से श्रुति के अनुसार याग ही विधेय है।

xvii) विधेयज्ञानं ध्यानरूपम्

तस्माद् यज्ज्ञानं च तद्विधेयम्, या न विधेया योषिदग्न्यादिदृष्टिः न तज्ज्ञानम्, तस्या अग्निदृष्टेः क्लृप्तकारणाजन्यतया विध्यधीनेच्छायास्तद्धेतुत्वात्।

xviii) साक्षात्कारात्पूर्वं मननादिः

मननादिविधानमपि परमपुरुषार्थसाक्षात्कारात् प्रागेवेति न तद्बलादपि विधेः प्राधान्यम्।

इसलिये जो ज्ञान है वह विधेय नहीं और जो स्त्री में अग्नि आदि की दृष्टि विधेय है वह ज्ञान नहीं क्यों कि वह अग्निदर्शन के प्रसिद्ध कारणों से जन्य नहीं बल्कि विधिपरतंत्र इच्छा उसका हेतु है। (विशिष्ट फल के लिये स्त्री का अग्नि रूप से ध्यान करना है जो मानसक्रिया है, ज्ञान नहीं।)

वेदांतों की विधिपरता कहते हुए आक्षेपमें (v) मननादि विधि के बल पर मोक्ष ज्ञान की बजाय विधि से होता है यह कहा गया था। वह बात अनर्गल है। परमपुरुषार्थ के साक्षात्कार से पहले ही मननादिकी विधि है अतः प्रधान विधि हो यह कैसे संभव है! (यदि साक्षात्कार के बाद कुछ कर्तव्य बताया जाये तो साक्षात्कृत ब्रह्म का विनियोग होने से विधि का प्राधान्य होगा लेकिन जब सारे विधानों का प्रयोजन ही साक्षात्कार है तब विधि को प्रधान कहना ही नहीं बनता। यद्यपि यागादिविधि भी स्वर्गादि की अपेक्षा अप्रधान है तथापि यागादि विधेयक्रियात्वेन अनन्यापेक्ष होकर सफल होने से उनकी विधि प्रधान मानी जाती है जबकि श्रवणादि विधेयक्रियात्वेन पर्याप्त नहीं, ज्ञान की अपेक्षा से ही फलानुकूल होते हैं अतः वेदांतों में श्रवणादि विधि होने पर भी वह प्रधान नहीं हो पाती, फलसाधनतया बोधित ज्ञान ही प्रधान रहता है। अत एव श्रवणादि कर लिये और ज्ञान नहीं हुआ तो यागादि की तरह जन्मांतरीय फल की आशा नहीं रखी जा सकती, चाहे वैध होने से उससे हुआ अपूर्व चित्तशोधक अवश्य हो और चाहे श्रवणाहित संस्कार कालांतर में स्वल्पोद्बोधक से स्फीत स्मृति संपन्न कर दें यह भी असंभव न हो। वह स्मृति ही ज्ञानोत्पादक श्रवणरूप होगी यह सिद्धान्त है।)

xix) ब्रह्मपरा वेदान्ताः

एवं च ज्ञानविध्यसम्भवादन्यविधिपरत्वानुपपत्तेश्च न विधिनिष्ठं वेदान्तप्रामाण्यं,किन्तु स्वप्रकाशाऽखण्डसच्चिदानन्दब्रह्मनिष्ठम् इति। तदुक्तं सूत्रकृता 'तत्तु समन्वयाद्' इति। अन्वयस्य सम्यक्त्वं च – एकप्रातिपदिकार्थे वेदान्तानां पर्यवसानमेव, तस्यैव उपक्रमादिनाऽबाधि (त) त्वनिश्चयात्।

अखण्डार्थताक्षेपः

ननु – कथमेकप्रातिपदिकार्थत्वं वेदान्तानाम्, तथात्वे सत्यज्ञानादिपदानां पर्यायतापत्तेः, ब्रह्मण एकप्रातिपदिकार्थत्वे पदान्तरवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च? किञ्च सत्यादिवाक्यं मुख्यया वृत्त्या अखण्डार्थं

इस प्रकार ज्ञानकी विधि असंभव सिद्ध हुई तथा ज्ञानेतर विधि में वेदांततात्पर्य सर्वथा असंगत है अतः वेदांतों का प्रामाण्य विधिपरक होने से नहीं वरन् स्वप्रकाश, अखण्ड, सत्, चित्, आनंद, ब्रह्म में तात्पर्य रखने से ही है।

सूत्रकार ने 'वह तो सम्यक् अन्वय के कारण' इस सूत्र से यही बताया कि तत्त्वमस्यादि समानाधिकरण वाक्य प्रमाण होने से ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक है क्योंकि व्यधिकरण वाक्य तो संसर्गादि में प्रमाण होंगे, ब्रह्म में नहीं। ब्रह्मजिज्ञासा की प्रतिज्ञा कर ब्रह्मभिन्न संसर्गादि में प्रमाण बताना गलत होता अतः ब्रह्म में ही शास्त्र को प्रमाण कहा है। अन्वय की सम्यक्ता है वेदांतों का एक प्रातिपदिकार्थ में पर्यवसान। वह अर्थ ही उपक्रमादि से अबाधिततया निर्णीत है। (इससे स्पष्ट किया कि अपर्याय पदों का एक प्रातिपदिकार्थक होना अखण्डार्थता है।)

प्रश्न है कि वेदांतों का अर्थ एक प्रातिपदिकका (क्रियेतरार्थक सार्थक शब्द का) अर्थ कैसे हो सकता है? वैसा हो तो सत्य, ज्ञान आदि पद पर्यायवाची मानने पड़ेंगे तथा एक पद से काम चल जायेगा अतः अन्य पद व्यर्थ हो जायेंगे। यह भी विचारणीय है कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि वाक्य क्या मुख्य अर्थात् शक्ति वृत्ति से अखण्ड अर्थ के प्रतिपादक हैं या लक्षणा वृत्ति से? प्रथम कल्प ठीक नहीं क्योंकि 'नीला कमल' वाक्य मुख्य वृत्ति से जैसे अखण्डार्थक नहीं वैसे सत्यादि वाक्य भी नहीं होना चाहिये। (अर्थात् वाक्य में अपर्यायों का प्रयोग

प्रतिपादयति, लक्षणया वा? नाद्यः वाक्यस्य नीलमुत्पलमित्यस्येव तदयोगात्। न द्वितीयः; लक्षणाबीजान्वयानुपपत्त्यभावात्; न हि तया विना लक्षणा सम्भवति। तस्मात् सत्यादिवाक्यं विशिष्टार्थं, वाक्यत्वात्, ज्योतिष्टोमादिवाक्यवत्। न च प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति वाक्ये व्यभिचारः; तत्रापि प्रतीयमानवैशिष्ट्यस्यैव वाक्यार्थत्वाद् – इति?

समाधानम्

उच्यते–अस्ति तावल्लोके 'अस्मिन् ज्योतिर्मण्डले कश्चन्द्रः?' इति प्रश्नः। स च चन्द्रप्रातिपदिकार्थनिष्ठ एव, तदन्यस्य तत्र प्रतीत्ययोगात्। ननु चन्द्रासाधारणधर्मविषय एवायं प्रश्न इति चेत्? न; यदि प्रकाशविशेष एवासाधारणो धर्मः, स तर्हि प्रत्यक्षत एव ज्ञायत इति तद्विषयप्रश्नो नोपपद्यते। अन्यस्तु न समाधानेऽपि प्रतीयते। न च प्रकृष्ट प्रकाशस्य चन्द्रधर्मत्वं न जानातीति वाच्यम्; तर्हि चन्द्राऽज्ञानादेव तदिति तत्प्रश्न एव।

होता है और वाच्यसंबंध वाक्यार्थ होता है यह नियम है जिसे सत्यमादि वाक्य भी मानें यह उचित है।) लक्षणा से अखण्ड बताये यह भी उचित नहीं क्योंकि लक्षणा का बीज़ है अन्वयानुपपत्ति और वह सत्यादि वाक्य में उपलब्ध नहीं। बिना अन्वयानुपपत्ति के लक्षणा होगी नहीं। अतः यह प्रयोग निर्दोष है: सत्यादि वाक्य विशिष्ट अर्थ में तात्पर्य वाले हैं, वाक्य होने से, 'ज्योतिष्टोमेन यजेत' आदि वाक्यों की तरह। 'प्रकृष्टप्रकाश वाला चंद्र है' इस वाक्य में व्यभिचार हो ऐसा नहीं क्योंकि वहाँ भी प्रतीयमान वैशिष्ट्य ही वाक्य का अर्थ है। अतः वेदांतों की अखण्डार्थता कैसे?

उत्तर यों समझना चाहिये: संसार में ऐसा प्रश्न सुना जाता है 'आसमान में चमकते हुओं में चंद्र कौन है?' इस प्रश्न का विषय चन्द्रप्रातिपदिक का अर्थ ही है क्योंकि उससे अन्य कुछ इसमें विषयतया भासता नहीं। चंद्र का असाधारण धर्म पूछा जा रहा है ऐसा क्यों न मानें? वह धर्म क्या होगा? यदि प्रकाशविशेष ही हो तो वह प्रत्यक्ष से ही जाना जा रहा है इसलिये उसके बारे में प्रश्न व्यर्थ है। और कोई धर्म तो उत्तर में भी सुनाई नहीं दे रहा है। यदि कहो कि प्रष्टा यह नहीं जानता कि प्रकृष्ट प्रकाश चंद्र का धर्म है अतः पूछ रहा है, तब उक्त गैर जानकारी चन्द्र के अज्ञान से ही है अतः चंद्र के

ननु चन्द्रोऽपि प्रत्यक्ष इति चेत्? न; प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रो न वेति संशयदर्शनेन तस्मिन् सत्तानिश्चयरूपानुभवाभावात्। अन्यथा अधिकरणे तद्वृत्तितया धर्मद्वये चानुभूयमाने सामानाधिकरण्यसंशयाऽयोगात्। अत एव अचन्द्रव्यावृत्तिवैशिष्ट्यं बुभुत्सितमिति प्रत्युक्तम्, चन्द्रोऽचन्द्रव्यावृत्त इति निश्चितत्वात्। व्यक्तिविशेषे तदज्ञानं तु तदज्ञानादेव। अत एव चन्द्रपदवाच्यत्वविषयः प्रश्न इत्यपि न; चन्द्रश्चन्द्रपदवाच्य इति चन्द्रत्वे तद्विशिष्टे च तस्य निश्चितत्वात्। तच्चन्द्रत्वं कुत्रास्तीति चेत्? तर्हि चन्द्रप्रातिपदिकार्थमेव न जानातीति स एव प्रश्नविषयः। चन्द्रश्चन्द्रपदवाच्य इति जानामि, तत्स्वरूपमेव न जानामि, तत्किमिति प्रश्नदर्शनाच्च। तस्मात् प्रातिपदिकार्थमात्रविषय एवायं प्रश्नः। उत्तरमपि 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः' इति तत्समानार्थविषयमित्यखण्डार्थम्, वाच्यत्वादेरप्रतीतेः, अदृष्ट-विषयत्वकल्पनाऽयोगाच्च।

बारे में ही प्रश्न हुआ। प्रत्यक्ष तो चाँद भी है अतः उसका प्रश्न कैसे? प्रश्न ठीक है; प्रकृष्ट प्रकाश वाला चाँद है या नहीं इस संशय से निश्चित है कि चंद्र की सत्ता का निश्चयरूप प्रत्यक्षानुभव नहीं है। यदि होता तो अधिकरणरूप बिंब और उसमें चन्द्रत्व तथा प्रकृष्ट प्रकाश ये दोनों धर्म अनुभव में आते हुये इनके सामानाधिकरण्य में संशय न होता। कुछ कहते हैं कि अचन्द्रके भेद का वैशिष्ट्य इस प्रश्न में जिज्ञास्य है लेकिन वह ठीक नहीं क्योंकि यह तो निश्चय है ही कि चंद्र अचन्द्र से भिन्न है, अतः इसके बारे में प्रश्न बनता नहीं। यदि कहो सिर्फ सामान्यतः निश्चय है कि हर चीज स्वेतरव्यावृत्त होती है लेकिन चंद्रव्यक्ति के बारे में विशेषतः प्रश्न है, तो प्रश्नसूचित अज्ञान इसीलिये है कि चंद्र को नहीं जानता अतः चन्द्र ही जिज्ञास्य है। उक्त प्रश्न चन्द्रशब्द की वाच्यता के बारे में भी नहीं कह सकते क्योंकि 'चंद्र चन्द्रपदका वाच्य है' यों चन्द्रत्व और चन्द्रत्वविशिष्ट चन्द्र दोनों मे चन्द्रपदवाच्यता निश्चित है। यदि प्रश्न है कि चन्द्रत्व है कहाँ? तब तो स्पष्ट है कि चन्द्रपदार्थ न जानने से प्रश्न है अतः वही पूछा जा रहा है। बल्कि कई बार प्रष्टा कहता भी है 'यह तो पता है कि कोई चंद्र है जिसे चाँद कहते हैं लेकिन वह है क्या, उसका स्वरूप पता नहीं है।' इसलिये विचार्यमाण प्रश्न प्रातिपदिक के अर्थ को ही विषय करता है। अतः 'प्रकृष्ट प्रकाश वाला चन्द्र

वाक्यार्थतानिरुक्तिपूर्वकमखण्डार्थतोपपादनम्

ननूत्तरस्य प्रश्नसमानार्थत्वमप्रयोजकम्, 'यः कश्चिच्चन्द्र' इत्यादेरप्युत्तरत्वप्रसङ्गात्! किन्तु प्रश्नबीजसंशयविरोधित्वम्। तच्च असाधारणधर्मवैशिष्ट्यज्ञानं विना न सम्भवतीति धर्मवैशिष्ट्यमुत्तरार्थ इति चेद्?

न। किमसाधारणधर्मविषयं ज्ञानं साक्षात् संशयनिवर्तकम्? उत चन्द्रपदार्थज्ञानस्य सत्तानिश्चयत्वं सम्पादयत् सत् परम्परया? नाद्यः भिन्नविषयस्य तदयोगात्। द्वितीये तु – यद्विषयं सद् वाक्यजन्यं ज्ञानं

है' यह उत्तर भी उसी को विषय करता है जिससे उत्तर भी अखण्डार्थक है। उत्तर से वाच्यतादि धर्म कहे जा रहे हों ऐसी प्रतीति नहीं होती तथा अन्य किसी अभासमान धर्म को यह विषय कर रहा है ऐसी कल्पना निर्मूल है।

प्रश्न से समानार्थक होना उत्तर होने के लिये पर्याप्त नहीं है, अन्यथा 'जो कोई भी चाँद है' इत्यादि भी चंद्रव्यक्तिविषयक वाक्य उत्तर होने लगेगा! उत्तर तो वह होता है जो प्रश्न के बीजभूत संशय का विरोधी हो। वह विरोध तब तक संभव नहीं जब तक असाधारणधर्म के वैशिष्ट्य का ज्ञान न हो अत: वैसे धर्म का वैशिष्ट्य ही उत्तर द्वारा प्रतिपाद्य होना चाहिये। केवल प्रातिपदिकमात्रार्थक वाक्य 'आकाश में चाँद कौन है?' प्रश्न का उत्तर कैसे?

अखण्डार्थक वाक्य उत्तर हो इसमें कोई असंगति नहीं। असाधारण धर्म को विषय करने वाला ज्ञान क्या सीधे ही प्रश्नबीजभूत संशयका निवर्तक होता है? या इस परंपरा से कि पहले चंद्रपदार्थज्ञान को चन्द्र की सत्ता के विषय में निश्चय बना देता है(तब वह निश्चय उक्त संशय को हटाता है)? प्रथम विकल्प ठीक नहीं क्योंकि धर्मविषयक ज्ञान (धर्मिभूत) व्यक्तिविषयक संशय हटाये यह असंगत है। (समान विषयक संशय-निश्चय बाध्यघातक होते हैं।) दूसरे विकल्प का अभिप्राय हुआ–जिसे विषय करता हुआ वाक्यजन्य ज्ञान संशय निवृत्त करे वही वाक्य का तात्पर्यार्थ होता है। प्रकृष्ट प्रकाश का वैशिष्ट्य तो लक्षणा द्वारा वाक्यीयज्ञानका अविषय रहते हुए भी तर्करूप से उसकी सत्ताविषयक निश्चयरूपता संपन्न कर देता है। ढंग यह है: प्रकृष्टप्रकाश और चंद्र शब्दों द्वारा लक्षणा से व्यक्तिविशेष को उपस्थापित किया जाता है। दोनों शब्दों से सम्बन्धी रूप से ज्ञात में ही लक्षणा होगी जिससे

संशयनिवर्तकं स वाक्यार्थः। प्रकृष्टप्रकाशवैशिष्ट्यं तु बहिर्भूतमपि तस्य सत्तानिश्चयरूपत्वं तर्कविधया सम्पादयति। तथा हि – प्रकृष्टप्रकाशचन्द्रपदाभ्यां लक्षणया व्यक्तिविशेष उपस्थाप्यते। लक्षणा च तत्सम्बन्धितया ज्ञात एवेति नियतव्यक्त्युपस्थितिः। ततश्च गुणवैशिष्ट्यस्य तात्पर्यागोचरत्वेऽपि प्रातिपदिकार्थमात्रज्ञानस्य संशयनिवृत्तिप्रयोजकसत्तानिश्चयत्वं लभ्यत एवेति तद्वाक्यमखण्डार्थपरम्।

संसर्गाविषयतयाऽखण्डार्थता

नन्वेवमपि चन्द्रत्ववैशिष्ट्यं वाक्यार्थो, न व्यक्तिमात्रमिति चेत्? सत्यम्, एवमपि एकप्रातिपदिकार्थमात्रस्य वाक्यार्थत्वानपायात्। सत्यादिवाक्ये ब्रह्मानन्तपदसमभिव्याहारादप्येकव्यक्तिमात्रं वाक्यार्थः सिद्ध्यतीति न कोऽपि दोषः।

नियत व्यक्ति उपस्थित होता है। (अर्थात् चंद्र-शब्द का वाच्यार्थ और प्रकृष्ट प्रकाश वाला व्यक्ति ही लक्ष्य होता है जिससे प्रश्नबीजसंशय मिटता है। गंगापद से लक्ष्य तट भी गंगासंबंधी ही होता है न कि जो कोई; ऐसे ही चंद्रपदवाच्य और प्रकृष्ट प्रकाश वाला ही लक्ष्य होगा।) इस प्रकार गुणवैशिष्ट्य तात्पर्यविषय हुए बिना प्रातिपदिकार्थमात्रका ज्ञान संशय हटने का प्रयोजक जो सत्तानिश्चयत्व उसे पा जाता है। (संशय मिटा सके इसके लिये ज्ञान को सत्तानिश्चय रूप होना चाहिये। यह कार्य कहीं धर्मवैशिष्ट्य की जानकारी से हो सकता है कहीं व्यक्तिविशेषकी जानकारी से, यह फलबलकल्प्य है।) अत: 'प्रकृष्ट प्रकाश वाला चाँद है' यह वाक्य अखण्ड अर्थ में तात्पर्य वाला है। (अखण्ड अर्थात् प्रातिपदिकका अर्थमात्र।)

उक्त ढंग से व्यक्तिलक्षणादि होने पर भी चन्द्रत्वकावैशिष्ट्य ही वाक्यार्थ हुआ, व्यक्तिमात्र कैसे? ठीक है पर फिर भी एक प्रातिपदिक का अर्थ ही तो वाक्यार्थ रहा (संसर्गरूप वाक्यार्थ तो यहाँ नहीं ही है। दार्ष्टान्त में तो यों भी वैशिष्ट्य नहीं है–) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि वाक्यों में क्योंकि 'ब्रह्म' और 'अनन्त' शब्द साथ ही कहे हैं इसलिये एक व्यक्ति ही वाक्यार्थ सिद्ध होता है अत: वैशिष्ट्य वाक्यार्थ हो यह भी संभव नहीं। (भेद का निषेध करने वाले 'अनंत' 'ब्रह्म' पदों के बल पर प्रातिपदिक के अंतर्गत विद्यमान संसर्ग भी

अज्ञातस्यैव बुभुत्सा

न चैवं सर्वत्र वैशिष्ट्यस्यैव बुभुत्सितत्वेन न व्यक्तिमात्रं वाक्यार्थ इति वाच्यम्; अज्ञातमात्रस्यैव बुभुत्सितत्वात्। अज्ञानं च वैशिष्ट्यादन्यत्रापि, सम्बन्धिद्वयेऽपि अज्ञानाभावे वैशिष्ट्ये तदयोगात्। तथा च वैशिष्ट्याऽज्ञानसंशयवादिना तत्सम्बन्धिन्यपि तदभ्युपेयमिति धर्मवद् धर्मिण्यपि तदुपपद्यते।

प्रकाशमानेऽप्रकाशमानता

प्रकाशमाने चाऽप्रकाशमानत्वं नानुपपन्नम्। चैतन्यं नास्तीति व्यवहारादर्शनेन तद्योग्यतारूपावरणाभावात् प्रकाशमानेऽपि तस्मिन् आनन्दादिनिरूपितस्य 'नास्ति' इति व्यवहारस्य दर्शनेन तद्योग्यतारूपावरणनिरूपकतया आनन्दात्मनस्तस्यैव अज्ञाततोपपत्तेः।

सिद्ध नहीं होता। वैशिष्ट्य में भी विशेषण-विशेष्य का संसर्ग तो होगा ही जो परिच्छेद आवश्यक करेगा अत: उसकी भी व्यावृत्ति जरूरी है। इसीसे भगवान् शंकर ने 'संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र संमत:' आदि स्पष्ट किया है।)

सर्वत्र वैशिष्ट्य ही जिज्ञास्य होने से व्यक्तिमात्र वाक्यार्थ कैसे? वैशिष्ट्य ही जिज्ञास्य हो यह नियम नहीं, अज्ञात होना ही जिज्ञास्य होने केलिये पर्याप्त है। अज्ञान जैसे वैशिष्ट्य का ऐसे ही अन्य का भी होता है। जब तक दोनों सम्बंधी अज्ञात न हो सकें तब तक वैशिष्ट्य अज्ञात होगा नहीं। इसलिये वैशिष्ट्यविषयक अज्ञान और संशय मानने वाले को उसके (वैशिष्ट्य के) सम्बन्धी के बारे में भी अज्ञान व संशय मानने पड़ेंगे अत: धर्मार्थकता की तरह धर्मी-अर्थक भी प्रश्नोत्तर संगत है।

भासमान का भी पता न चलना संगत है। चैतन्य विषयक 'नहीं है' ऐसा व्यवहार न होने से उक्त व्यवहार की योग्यतारूप आवरण भले ही न हो पर चैतन्यरूप से भासते हुए ही उसका 'यह आनंद नहीं है' आदि व्यवहार हो जाता है अत: उस व्यवहार की-'नहीं है' व्यवहार की - योग्यतारूप आवरण के निरूपक रूप से वही आनंदरूप आत्मा अज्ञात है यह अनुभवानुसारी बात है।

लोकेऽपि व्यक्तेरज्ञानम्

लोकेऽपि जातेरिव व्यक्तेरपि स्वरूपविशेषस्तदधिकरणतायोग्योऽस्तीति तदज्ञानात्तद्गोचर एव प्रश्न उत्तरं च । अविद्यात्मकजाते: स्वतो विशेषाभावेन व्यक्तेरेव विशिष्टस्वरूपत्वाच्च।

सत्यादिवाक्याखण्डार्थता

तस्मात् सत्यादिवाक्यम् अखण्डार्थम्, एकप्रातिपदिकार्थमात्रप्रश्नोत्तरत्वात्, लक्षणवाक्यत्वाद्वा, प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यादिवाक्यवत्। वाक्यत्वानुमानं च व्यभिचारि अप्रयोजकं च।

लोक में भी जाति की तरह व्यक्ति का भी स्वरूपविशेष अज्ञातता की अधिकरणता के योग्य होने से उसके अज्ञान के कारण उसके (व्यक्तिस्वरूपविशेष के) बारे में ही प्रश्न हो यह संभव है। उत्तर भी उसी के बारे में होना उचित है। अविद्यारूप जाति में स्वत: विशेष न होने से व्यक्ति ही विशिष्टस्वरूप वाला होता है अत: उसे ही बताने से उसके अज्ञानादि की निवृत्ति होती है। (घटत्व पटत्व के वैलक्षण्य का अनुभव तभी होता है जब घटादि व्यक्ति से तादात्म्येन उनका अनुभव हो अत: जाति के विशेषका भान व्यक्तिविशेष को ही विषय करता है इसलिये व्यक्ति ही सबसे विलक्षण स्वभाव वाली होती है। एवं च लक्षणवाक्यों से व्यक्तिस्वरूप ही प्रतिपाद्य होने से सभी लक्षणवाक्य अखण्डार्थक होते हैं। इस पर जन्मादिसूत्र के कल्पतरु में, अद्वैतसिद्धि के द्वितीय परिच्छेद में एवं न्यायरत्नावली आदि में भी विचार है।)

एवं च यह सुभाष है: 'सत्यं ज्ञानम्' आदि वाक्य अखण्ड अर्थ वाले हैं क्योंकि एक प्रातिपदिक मात्र विषयक प्रश्न के उत्तररूप हैं, या क्योंकि लक्षणबोधक वाक्य हैं, जैसे 'प्रकृष्टप्रकाश वाला चंद्र है' यह वाक्य। आक्षेप में वाक्यत्व को हेतु बनाकर विशिष्टार्थता की प्रतिज्ञा की थी वह इसलिये ठीक नहीं कि प्रकृष्टप्रकाशादि वाक्यों में हेतु विशिष्टार्थताका व्यभिचारी है और अनुकूल तर्क से रहित है।

यदि सत्यादि वाक्य एक अर्थ ही बताते हैं तो जो सत्य शब्दार्थ वही ज्ञानशब्दार्थ इत्यादि रीति से ब्रह्मवाक्यों में आये सब शब्द पर्याय होने लगेंगे जिससे उनका वाक्यभाव में रहना अनुचित हो जायेगा- यह शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि सत्यादि सभी शब्दों के वाच्यार्थ विभिन्न हैं, अखण्डार्थ तो

सत्यादीनामपर्यायता

न चैवं पर्यायतापत्तिः; वाच्यभेदस्य सत्त्वत्। तथा हि–ज्ञानादिपदं वृत्तिविशेषविशिष्टं तदुपहितं वा स्वरूपमभिधत्ते, लौकिकव्युत्पत्तेर्विशिष्याऽज्ञानेऽपि तद्विषयत्वात्। सत्यशब्दोऽपि बाधायोग्यत्वविशिष्टं तदुपहितं वा स्वरूपमाह। एकशब्दोऽपि सजातीयाभाववाचकः। ब्रह्मात्मशब्दावपि सर्वात्मत्वविशिष्टं तदुपहितं वा स्वरूपमाहतुः। त्वमहंशब्दावपि अहङ्कारविशिष्टं, तच्छब्दोऽपि उपस्थितिविशिष्टमिति न पदानां पर्यायता।

संसृष्टार्थताशङ्का

नन्वेवं संसृष्टार्थत्वप्रसङ्गः। न च विशिष्टोपस्थितावपि योग्यतादि महिम्ना ब्रह्माभेदमात्रं शब्दः प्रतिपादयतीति वाच्यम्; विशिष्टयोः स्वसमानसत्ताकभेदवत्त्वेन अभेदाऽयोगात्, शब्दोपस्थितस्य वाक्यार्थान्वयित्वनियमाच्च। न हि पदार्थैकदेशस्य लोकेऽन्वयः प्रसिद्धः। ततश्च

लक्षणा से बोध्य है। वृत्तिविशेष से विशिष्ट या उपहित स्वरूप को ज्ञानादि शब्द कहते हैं। (आदि से सुख, आनंद समझना चाहिये। शुभकर्म से प्राप्य तथा इष्टज्ञान से जन्य वृत्तिविशेष से विशिष्ट या उपहित स्वरूप को सुख कहते हैं।) यद्यपि लोकव्यवहारमात्र में रहने वाले इस बात को साफ–साफ नहीं समझ पाते कि वृत्तिनिमित्त से स्वरूपका नाम ज्ञानादि है, तथापि जिसे वे ज्ञानादि जानते हैं उसका यह असली रूप है अतः शास्त्रीय लोग शक्तिनिर्वचन करते हुए शक्य को स्पष्ट कर देते हैं। सत्य शब्द भी बाध की अयोग्यता से विशिष्ट या उपहित स्वरूप का वाचक है। एकशब्द का भी अर्थ है सजातीयका अभाव। ब्रह्म और आत्मा शब्द सर्व–आत्मता से विशिष्ट या उपहित स्वरूप के वाचक हैं। त्वम्–अहम् शब्द भी अहंकार से विशिष्ट को और तत् शब्द भी बुद्धि में हुई उपस्थिति से (याद से) विशिष्ट को कहते हैं। एवं च ब्रह्मवाक्यघटक पद पर्याय हों ऐसी बात नहीं है।

यदि पदों के विभिन्न अर्थ हैं तो वाक्यार्थ संसृष्ट होगा न कि अखण्ड। यदि कहो विशिष्ट की पदजन्य उपस्थिति होने पर भी क्योंकि विशिष्ट रूप अभेद के अयोग्य है और विशेष्य स्वरूप ही अभेदेन अन्वय के योग्य है तथा

तत्त्वावेदकश्रुतिजन्यज्ञानविषयतया तस्यापि परमार्थत्वाद् नाऽद्वैतं वस्तु, न वा अखण्डार्थतेति चेद्?

समाधिः

न। ज्ञानादिपदेन पूर्णब्रह्मस्वरूपलक्षणया ब्रह्मप्रातिपदिकमात्रस्यैव प्रतिपादनात्।

न चैवं गङ्गादिपदलक्ष्यस्य अगङ्गात्ववत् ज्ञानादिपदलक्ष्यस्यब्रह्मणो ज्ञानाद्यन्यत्वापत्तिः; ज्ञानादिपदवाच्यस्य अज्ञानाद्यात्मकवृत्तिविशेषादेः

तत्त्वबोधक श्रुति मिथ्याभूत विशिष्टरूप में तात्पर्य रख नहीं सकती जबकि जिसका कोई बाधक नहीं उस अखण्ड ब्रह्म में तात्पर्य वाली हो यह उचित है इसलिये शब्द (वाक्य) ब्रह्म के अभेद को ही प्रतिपादित करता है; तो यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि विशिष्टों में अपनी समान सत्ता का पारस्परिक भेद होता है जिससे वे अभेदान्वय के अयोग्य हैं और यह नियम है कि शब्द से जो उपस्थित हो उसे वाक्यार्थ में सम्बद्ध होना चाहिये। विशेष्यमात्र की योग्यता अकिंचित्कर है क्योंकि यह लोकप्रसिद्ध नहीं है कि पदार्थके हिस्से का ही अन्वय हो। एवं च तत्त्वबोधक श्रुति से जन्य ज्ञान का विषय होने से विशिष्ट भी वास्तविक है न कि अद्वैत, अतः वाक्यकी अखण्डार्थता असंभव है। यह शंका है।

उक्त शंका निर्मूल है। ज्ञानादि पद लक्षणा से पूर्ण ब्रह्म स्वरूप बताकर ब्रह्मप्रातिपदिकमात्र के अर्थ का प्रतिपादन करते हैं।(शंका यह मानकर थी कि लक्षणावृत्ति का प्रायोग नहीं करना है जबकि समाधानकर्ता लक्षणापक्षपाती है। गौरवादिग्रस्त होने पर भी तात्पर्यानुरोध से लक्षणास्वीकार ही उचित होता है न कि लाघवानुसारी अर्थ मान कर तात्पर्यविरुद्ध बात समझकर श्रेय से च्युत होना।)

यदि ब्रह्म ज्ञानादि का लक्ष्य है तो उसे ज्ञानादि से भिन्नरूप वाला होना चाहिये जैसे गंगापदलक्ष्य तट गंगा से भिन्न रूप वाला होता है–यह कहना ठीक नहीं क्यों कि ज्ञानादिपदसे वाच्य जो अज्ञानादिरूप वृत्तिविशेष आदि उन का परित्याग होने पर भी पूर्ण ज्ञानादि ही लक्ष्य होते हैं। (वृत्ति में ज्ञानत्व का उपचार होने से उसे अज्ञानादिरूप कहा। यदि "स्य ज्ञानाद्या" पाठ हो तो सुगमतर होगा। जिस पद से जो लक्ष्य होता है वह उस पद के अर्थ के स्वरूप से भिन्न

परित्यागेऽपि पूर्वज्ञानादेरेव लक्ष्यत्वात्। न चैवं स्वरूपमात्रस्यैव ज्ञानादिपदवाच्यता भवत्विति वाच्यम्; सर्वेषां पदानां पर्यायतापत्तेः। एकैकस्मात् सत्यज्ञानानन्दाद्वितीयब्रह्मसत्तानिश्चयरूपज्ञानप्रसङ्गात्, तस्य पदस्य पदान्तरेण विनाऽननुभावकत्वप्रसङ्गाच्च। न च सर्वपदलक्षणा-पक्षेऽपि पदान्तरं व्यर्थम्; पदान्तरं विना तदर्थात्माभेदसत्तानिश्चया-भावात् लक्षणानवताराच्च।

ही हो ऐसा नियम नहीं अन्यथा छत्रिपदलक्ष्य समूह में छत्री भी बिना छाते वाला हो जाये! जरूरी इतना ही है कि वाच्य रूप से अन्य लक्ष्य रूप हो। उपहित से उपधेय का अन्तर मान्य है। तटादि का गंगाभेद इसलिये है कि वे गंगापदवाच्य के रूप से अत्यन्त भिन्न हैं जबकि ब्रह्म ही उपहित रूप से ज्ञानादि का वाच्य है अतः वाच्य से अत्यन्त भिन्न है नहीं। अत एव यहाँ अजहल्लक्षणा मानी जाती है। इस प्रसंग पर अमलानन्द जी के (पृ. ९४ कल्प.) विचार मन्तव्य हैं।)

यदि वाक्यार्थभूत ब्रह्म ज्ञानादि स्वरूप है तो ज्ञानादि पदों का वाच्यार्थ स्वरूपमात्र ही क्यों न हो जाये? इसलिये कि तब सभी पद पर्याय होंगे और श्रौत वाक्य अनुपपन्न हो जायेंगे। (यह भी दोष होगा कि विचार से पूर्व और लौकिक व्यवहार में गृहीत संगति का परित्याग करना पड़ेगा। लक्षणा मानने पर 'य एव लौकिकाः शब्दाः' आदि न्याय भी अनुकूल रहता है।) प्रत्येक ज्ञानादि पद से सत्य-ज्ञान-आनंद-अद्वितीय-ब्रह्म की सत्ताका निश्चयरूप ज्ञान होने पर इनकी पर्यायता निश्चित है। पर्याय पद जब तक अपर्याय पदान्तर से अन्वित न हो तब तक अनुभवोत्पादक-नये ज्ञान के जनक-होते नहीं अतः सत्यमादि वाक्य निरर्थक हो जायेंगे यदि स्वरूप ही वाच्य हो जाये। (अत एव ब्रह्मपद की केवल ब्रह्म में शक्ति है यह कुछ विचारकों की कल्पना असांप्रदायिक ही नहीं गलत भी है।)

जब सभी पदों की लक्षणा मानोगे तब भी तो एक ही पद से काम चल जाने से अन्य पद व्यर्थ होंगे? नहीं होंगे क्योंकि बिना अन्य पदों के, वाक्य का अर्थ जो आत्मा का अभेद उसकी सत्ता का निश्चय हो नहीं पायेगा अर्थात् तत्तद् व्यावर्त्य के भेद से व्यावर्तक पद अपेक्षित हैं। किं च बिना पदान्तर के किसी भी पद से लक्षणा करने का प्रसंग नहीं उठेगा क्योंकि वाच्योपस्थिति के बाद उसके परित्याग का हेतुभूत विरोध ही स्फुरेगा नहीं।

लक्षणासमर्थनम्

ननु तत्तदुपहितं स्वरूपं वाच्यं चेत्, किमिति लक्षणा; स्वरूपमात्रस्य वाच्यत्वात् लक्षणायां च तत्त्यागात् कथं ब्रह्म तदात्मकं सिद्ध्यतीति चेत्?

यद्यपि उपहितं स्वरूपमेव वाच्यं तथापि तत्तदुपहितत्वविशिष्टमेव इत्युपहितद्वयं स्वसमानसत्ताकभेदवत्। ततश्च तयोः नाऽभेदयोग्यता। ज्ञानानन्दशब्दाभ्यामनुभूयमानयोस्तयोः स्वसमानसत्ताकभेदानुभवात्। ततो ज्ञानानन्दादिपदैः पूर्णचैतन्यानन्दात्मकं वस्तु लक्षणीयमिति सर्वलक्षणा, ब्रह्मणो ज्ञानादिस्वरूपत्वं चेति।

उपहित स्वरूप वाच्य ही है तो लक्षणा काहे के लिये? जब स्वरूप ही वाच्य है तब लक्षणा से वह छूट जायेगा जिससे ब्रह्म को स्वरूपात्मक कैसे समझा जायेगा?

यद्यपि उपहित हुआ स्वरूप ही वाच्य है तथापि उस-उस उपहितता से विशिष्ट हुआ ही वाच्य होता है, उपाधि - छूटा स्वरूप वाच्य नहीं। इसलिये उपहित, परस्पर, अपने समान सत्ताक भेद वाले ही होते हैं जिससे उनका अभेद संगत नहीं। ज्ञान आनंद शब्दों से अनुभव में आने वाले पदार्थ परस्पर व्यावृत्त ही समझ आते हैं जिससे इनका वाच्यरूप अभिन्न नहीं हो सकता। इसलिये ज्ञानादि पदों से पूर्ण चेतन आनन्द आत्मरूप सत् (वस्तु) ही लक्षणा से बोध्य है। अतः सब पद लक्षणासे ज्ञापक होना उचित है तथा लक्ष्य ब्रह्म भी ज्ञानादिरूप ही रहता है। (यदि उपहित होने पर भी अभेद की अयोग्यता ही है तो विशिष्ट से क्या विशेष हुआ? यह विशेष है कि विशेषण तो स्वरूप में अनुगत होता है जबकि उपाधि अनुगत नहीं होती अतः उपहित रूप से स्वरूप उपस्थित हो जाता है जबकि विशिष्टरूप से वह उपस्थित नहीं होता वरन् विशेषणघटित स्वरूपान्तर ही उपस्थित होता है। व्यक्तिरूप से भले ही विशिष्ट व उपहित में अंतर स्पष्ट न हो लेकिन विशेषणपरामर्श के बिना अनवगम्यता और उपाधिपरामर्श के बिना अवगम्यता रूप से अंतर समझ आ जाता है। वास्तव में तो यह भेद वस्तुनिष्ठ नहीं है बल्कि निरूप्य-निरूपक का सम्बंध कैसा समझा जा रहा है उसी पर निर्भर है अतः जहाँ सम्बन्ध जितना क्षीण होगा वहाँ उतनी विशेषणता घट जायेगी तथा अत्यंत दुर्बल होने पर उपाधि भी नहीं उपलक्षण रह जायेगा।)

अनवस्थापरिहार:

नन्वेवमपि शक्यसम्बन्धितया ज्ञात एव लक्षणा स्यात्। तज्ज्ञानं च ब्रह्मण: शब्दादेव वक्तव्यम्। सोऽपि लाक्षणिकश्चेद् लांक्षणिकानवस्थेति गुरोरपि मूकतापत्तिरिति चेद्?

न। ब्रह्म सत्याद्यात्मकमपि सत्यादिपदसमुदायवाक्यार्थत्वाद् न कस्यापि पदस्य शक्यम्। अतो न सत्यादिस्वभावयत्किञ्चिद्विशिष्टमेव ब्रह्म तत्तत्पदवाच्यम्। विशिष्टं च परोपाधिना भिन्नमेव। वाक्यस्यैक-प्रातिपदिकार्थे तात्पर्यम् इत्येवमादिज्ञानवत: सत्यादिपदलक्ष्यस्य ज्ञानादिपदानभिधानेऽपि विचारेण तत्तत्पदवाच्यसम्बन्धितयावगतज्ञाना-दिव्यक्तेरेव लक्षणयोपस्थितिरिति नात: परमाशङ्केत्यनवस्थाभावाद्।

शंका होती है कि शक्यार्थ से सम्बन्धी रूप से जो जाना गया हो वही लक्षणा से समझा जा सकता है। ब्रह्मका शक्यार्थसम्बन्धी रूप से ज्ञान भी शब्द से ही होगा। यदि वह भी लक्षणा से होना पड़े तो पुन: शक्यसंबंधबोध की अपेक्षा से शब्दान्तराश्रयण करने पर लक्षणापत्ति होने से अनवस्था हो जायेगी। एवं च गुरु भी उपदेश कैसे दे पायेगा?

यह शंका ठीक नहीं। ब्रह्म सत्यादिरूप है लेकिन सत्यादि पदों के समुदायरूप वाक्य का अर्थ होने से किसी भी पदका शक्यार्थ नहीं है। अत: सत्यादिस्वभाव वाले जिस किसी धर्म से विशिष्ट ब्रह्म सत्यादि का शक्य नहीं। विशिष्ट तो स्वरूपापेक्षया अन्य जो उपाधिशब्दित विशेषण उसके कारण विभिन्न ही होते हैं। 'वाक्य का एक प्रातिपदिकार्थ में तात्पर्य है' ऐसा जानने वाले को सत्यादिपदका लक्ष्य ज्ञानादिपद से न कहने पर भी विचार से तत्तत्पदवाच्यसम्बंधीरूप से ज्ञात ज्ञानादि व्यक्ति ही लक्षणा से समझ आयेगा अत: उससे आगे आकांक्षा न होने से लक्षणाश्रृंखला नहीं चलेगी। (सत्यशब्द का वाच्य लोकव्यवहार से जान लिया जाता है। अबाध्यतादिरूप अर्थ का पता वैसा बताने वाले वाक्य से चलता है और वाक्य से समझा अर्थ वाच्यार्थ से इसलिये संबद्ध पता चलता है कि दोनों सत्यशब्द के अर्थ हैं और दोनों में कुछ समानता है। सत्यरूप वाक्यार्थ ही ज्ञानादिरूप वाक्यार्थ है यह विभिन्न वाक्यों से ज्ञानादिरूप अर्थों को (वाक्यार्थों को) जान लेने पर जब 'सत्यं ज्ञानम्' आदि सामानाधिकरण्य सुनते हैं तब समझ लेते हैं। अब यदि ज्ञानादिपद न भी कहें और सत्यादि अपने लक्ष्यार्थ में तात्पर्य वाले हैं यह जानकारी हो तो जो अर्थ याद आयेगा वह न केवल सत्य होगा वरन् ज्ञानादि भी होगा। यद्यपि सत्यत्वादि प्रवृत्तिनिमित्तपूर्वक अर्थ नहीं याद आयेगा क्योंकि पता है कि तब वह अन्वय के अयोग्य होगा तथापि असदज्ञानादिव्यावृत्त स्वरूपमात्र याद आ जायेगा। जैसे देवदत्त ब्राह्मण यजुर्वेदी मीमांसक संतोषी व्यक्ति है यह तत्तत् प्रसंगों में पता चलने के बाद जब उसकी याद ऐसे व्यक्ति के रूप में आती है जिसमें ये सारे गुण हैं, भले ही सब गुण याद दिलाने वाला कोई शब्द न कहा जाये, वैसे ही यहाँ सत्याभिन्न ज्ञानाभिन्न आनन्दाभिन्न अनन्ताभिन्न प्रत्यक् ही लक्ष्यविधया उपस्थित होता है। सर्वाभेदाधिकरण (३.३.६) में ये पाँच सब जगह समझने योग्य निर्णीत किये हैं 'सत्यानन्तचिदात्मसौख्यवचनं सर्वत्र सम्बद्ध्यते'।) हर हालत में प्रश्न था कि लक्षणा शक्यसंबंधज्ञान से संभव है और वह ज्ञान ब्रह्म के बारे में कैसे होगा? उत्तर हुआ कि वह ज्ञान वाक्य से हो जायेगा।)

अखण्डार्थतोपसंहार:

इति सिद्धं सत्यादिवाक्यानां लक्षणया अखण्डब्रह्मप्रतिपादकत्वम्। एवं तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थोऽपि एकप्रातिपदिकार्थ:; तद्भेदस्य मिथ्या-त्वात्।

अभेदानुमानम्

क) जीवो i) ब्रह्मणि स्वसत्ताविरोध्यत्यन्ताभावप्रतियोगिभेदप्र-

इसलिये 'सत्यं ज्ञानम्' आदि पदार्थप्रतिपादक वाक्य लक्षणासे अखंड ब्रह्म समझाते हैं यह निश्चित है। इसी तरह तत्त्वमसि आदि वाक्यों का अर्थ भी एक प्रातिपदिक का अर्थ ही है क्योंकि जीव-ईश्वर भेद मिथ्या है।

जीव-ईश्वर के अभेद में अनुमान भी हैं:

क) मोक्षरूप फल पाने वाला जीव i) ब्रह्म में जीव के भेद की जो सत्ता समझी जा रही है उसका विरोधी जो अत्यन्ताभाव, उसका प्रतियोगी जो भेद, उसका प्रतियोगी है क्योंकि पदार्थ है जैसे ब्रह्म। (यह साध्य यह मान कर है कि अधिष्ठान ही अत्यंताभाव है। साध्य का अभिप्राय है कि जीव का ब्रह्म में ऐसा भेद है जो भेद ब्रह्म में है नहीं! अर्थात् मिथ्या है।)

तियोगी, ii) ब्रह्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिभेदप्रतियोगी वा पदार्थत्वाद्, ब्रह्मवत्। iii) ब्रह्मनिष्ठानौपाधिकभेदप्रतियोगी न भवतीति वा साध्यम्, जडान्यत्वाद्, ब्रह्मवत्। ख) जीवो ब्रह्मैव, तदविलक्षणत्वात्, तद्वत्। अत्र च तत्पदं प्रकरणोपस्थितं विशिष्टं ब्रह्मैवाभिधत्त इति तत्रापि लक्षणा। यद्यपि तात्पर्यं शुद्ध एव गृह्यते तथापि तत् कृत्स्नप्रकरणावगमाधीनमिति प्रस्तोष्यमाणमेव, न तु प्रस्तुतम्, 'तत्त्वमसि' इति वाक्यस्यापि तदन्तर्गतत्वात्। सोऽयमिति वाक्यं चात्राखण्डार्थत्व उदाहरणम्। तच्च मूलग्रन्थेषूपपादितम् इति।

(अत्यन्ताभाव अधिष्ठान से अतिरिक्त होता है यह मानकर साध्य बताते हैं – ii) ब्रह्म में रहने वाले अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी भेद का प्रतियोगी जीव है, पदार्थ होने से ब्रह्म की तरह। (अभिप्राय वही है कि जीवका भेद मिथ्या है क्योंकि ब्रह्म में उसका अत्यन्ताभाव है जबकि वहीं वह प्रतीत हो रहा है।)

iii)जीव, ब्रह्म में वर्तमान निरुपाधिक भेद का प्रतियोगी नहीं है, पदार्थ होने से, ब्रह्म की तरह। (अर्थात् उसका भेद औपाधिक ही है अत: मिथ्या है।)

ख) जीव ब्रह्म ही है क्योंकि ब्रह्म के लक्षण से अन्य कोई इसका लक्षण है नहीं, जैसे खुद ब्रह्म ही!

ब्रह्मबोधक तत्-पद प्रकरण में उपस्थित विशिष्ट ब्रह्म को ही कहता है (न कि शुद्ध को) इसलिये त्वम्पद की तरह तत्पद में भी लक्षण होना जरूरी है। यद्यपि प्रकरणतात्पर्य भी शुद्ध में ही है यह समझ आता है तथापि सारे प्रकरण को जाँचने के बाद ही वह समझ संभव होने से शुद्ध को उपस्थित तो कह नहीं सकते कि तत्पद उसे याद दिलाये वरन् शुद्ध तो अभी – तत्पदार्थ-स्मृतिकाल में – बताया जाना बाकी ही है क्योंकि सारे प्रकरण को समझना बाकी है। 'तत्त्वमसि' से ही अन्यथानुपपत्त्यादिवशात् शुद्ध का तात्पर्यवृत्ति से पता चलता है और वह वाक्य भी प्रकरण के अन्तर्गत ही है अत: प्रकरण समझने से पूर्व शुद्ध पता नहीं चलता, कारणादि रूप विशिष्ट का ही पता चलता है। महावाक्य की अखण्डार्थता में 'वही यह देवदत्त है' अदि वाक्य दृष्टान्त हैं । इसकी युक्तियुक्तता भाष्य तद्व्याख्यादि में समझायी गयी है।

भेदाभेदनिरास:

केचित्तु–सर्वपदानामर्थवत्त्वार्थं लक्षणापरिहारार्थं च भिन्नाभिन्नं ब्रह्म वाक्यार्थ–इत्याहु:। तन्न; कल्पितभेदस्य तत्त्वावेदकश्रुतिप्रतिपाद्यत्वाऽयोगात्, स्वात्यन्ताभावरूपभेदसमानाधिकरणभेदस्य मुक्तावविद्यमानस्य शुक्तिरजताद्यविशेषात्, ब्रह्मविलक्षणसत्ताविशिष्टत्वात्। ब्रह्म च स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोग्यन्यदेव! शुक्तिरजतादेरर्थक्रिया नास्तीति चेद्? न, ज्ञानावच्छेदकत्वेन प्रयोजकत्वरूपार्थक्रियायास्तत्रापि सत्त्वात्। अर्थक्रियाविशेषसत्त्वेऽपि सत्त्वांशे शुक्तिरजताविशेषात्।

न चार्थक्रियायोग्यत्वमेव सत्त्वम्; देहात्मतादात्म्यवद् बाधयोग्यस्यापि तत्संभवेन तस्य परिभाषामात्रत्वात्। परमते परमाण्वादि-

कुछ विचारक कहते हैं कि सभी शब्द बिना लक्षणा के सप्रयोजन हों इसके लिये ब्रह्म को भिन्नाभिन्न मान लेना चाहिए। वह कथन अनर्गल है। भेदाभेद में भेद कल्पित है तो उसे तात्त्विकार्थक वेद प्रतिपादित नहीं कर सकता। अपने (=भेद के) अत्यंताभावरूप अभेद के समानाधिकरण भेद मोक्ष में रहता नहीं (ऐसा भेदाभेदवादी भी मानता है कि मोक्ष में अभेद होता है) अत: वह शुक्तिरजतादि जैसा मिथ्या है क्योंकि ब्रह्म से विलक्षण (अपारमार्थिक) सत्ता वाला है। ब्रह्म तो अपने समानाधिकरण अत्यंताभाव के प्रतियोगी से अन्य ही है अर्थात् बाधयोग्य से पृथक् ही है। शुक्तिरजतादि अर्थक्रियाकारी नहीं जबकि भेद वैसा है अत: इन्हें समान कैसे कहा? रजतादि भी ज्ञान के अवच्छेदक रूप से प्रयोजकतात्मक क्रिया वाला है ही। यदि अर्थक्रियाकारिताकृत कोई फर्क मानो तो भी सत्त्वांश में समानता है, दोनों अपारमार्थिक हैं।

अर्थक्रिया की योग्यता ही सत्यता नहीं क्योंकि बाधयोग्य चीजें भी अर्थक्रियायोग्य होती हैं जैसे देहात्मतादात्म्य; अत: सत्य को अर्थक्रियाकारी या तद्योग्य रूप से परिभाषित करना मनमानी ही है। किं च ऐसा मानने पर तार्किकस्वीकृत परमाणु आदि के परिमाण आदि ही सत्य नहीं रहेंगे। (क्योंकि वह परिमाण किसी का उत्पादक नहीं। यद्यपि योगी उसे जानते हैं तथापि योगी का योगजज्ञान विषयजन्य नहीं होता अत: स्वज्ञानोत्पादक भी वह परिमाण नहीं।)

परिमाणादेरप्यसत्यत्वप्रसङ्गाच्च।

न चार्थक्रियायां सत्त्वं व्यापकम्; पूर्वक्षणे विद्यमानत्वस्वरूपस्य तद्व्यापकत्वेऽपि तदाऽबांधितत्वस्वरूपस्य तस्याप्रयोजकत्वात् ।

भेदो मिथ्या दृश्यत्वाद्, भेदत्वाद् इत्यादिलिङ्गैश्च तस्य मिथ्यात्वं सिद्धमिति न तस्य तत्त्वावेदकप्रमाणगम्यत्वम्।

भेदाभेदवादे मोक्षेऽभेदासिद्धि:

किं चैवं मुक्तावपि भिन्नाभिन्नं ब्रह्म स्यात्, तद्रूपस्य प्रमाण-सिद्धत्वाद्, रूपान्तरे ब्रह्मणि प्रमाणाभावात्। न च संसारदशायामेव भिन्नाभिन्नम्; कालभेदस्याश्रुतत्वात्। न च 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुं. ३.२.९) इति शास्त्रान्तराद् मुक्तिसमयेऽत्यन्ताभिन्नमेव तदिति वाच्यम्; तस्य वाक्यस्य त्वन्मते प्रतीयमानार्थाऽयोगात्।

अर्थक्रिया में सत्यत्व व्यापक भी नहीं है क्योंकि भले ही पूर्वक्षण में विद्यमानता स्वरूप वाली सत्यता अर्थक्रिया की व्यापक हो लेकिन अबाधितता स्वरूप वाली सत्यता अर्थक्रिया के प्रति प्रयोजक नहीं होती।

यह अनुमान भी है : भेद मिथ्या है, दृश्य होने से, भेद होने से (रजत की तरह, रजतभेद की तरह या शुक्तिभेद की तरह)। अत: तत्त्व का ही बोधन करने वाली श्रुति भेद नहीं बता सकती।

भेदाभेदवाद में मोक्षदशा में भी ब्रह्म भिन्नाभिन्न ही रहना पड़ेगा क्योंकि वही रूप प्रामाणिक माना गया और उससे अन्य रूप वाले ब्रह्म में प्रमाण नहीं। संसारकाल में ही भिन्नाभिन्न है यह कहना इसलिये नहीं बनता कि कालभेद में वेदवाक्य प्रमाणरूप से उद्धृत करना संभव नहीं। 'ब्रह्म का जानकार ब्रह्म ही होता है' इस श्रुत्यन्तर से मुक्तिसमय में ब्रह्म अत्यन्त अभिन्न है यह भी नहीं कह सकते क्योंकि भेदाभेदवाद में 'ब्रह्म वेद' आदि वाक्य का सार्थक्य समर्थनीय नहीं।

'ब्रह्म वेद' से शाब्द ज्ञान या उसका अभ्यास (पुनरावर्तन) नहीं कहा जा रहा क्योंकि उसके रहते ही फल अनुपलब्ध है। ब्रह्मसाक्षात्कार से अभेदसिद्धि संभव नहीं क्योंकि भेदाभेदविषयक साक्षात्कार से खुद के विषयभूत भेद की निवृत्ति असंगत है। अत: ज्ञान से अत्यंत अभेद असंभव है।

तथा हि– न तत्र 'ब्रह्म वेद' इति शाब्दं ज्ञानं तदभ्यासो वा वक्तुं शक्यते, इदानीं तयो: सत्त्वेऽपि फलादर्शनात्। नापि ब्रह्मसाक्षात्कारात् तत्सिद्धि:; भेदाभेदगोचरसाक्षात्कारात् स्वगोचरभेदनिवृत्त्ययोगेन ततोऽप्यत्यन्ताभेदाऽसम्भवात्। न च साक्षात्कारस्य अत्यन्ताभेदो विषय इति वाच्यम्; भेदनिवृत्ते: पूर्वमसत: तस्यापरोक्षत्वाऽयोगात्। सत्त्वे वाऽस्मन्मतप्रवेशापत्ति:। न च भेदकाले योऽभेदस्तावन्मात्रगोचर-साक्षात्काराद् भेदांशनिवृत्ते: अत्यन्ताभेदसिद्धि: इति वाच्यम्; तस्य भेदाविरुद्धत्वेन अनिवर्तकत्वात्। न हि जातिज्ञानाद् व्यक्तयो निवर्तन्ते। विद्यमानभेदस्य यथाश्रुति अभ्यस्तस्याऽप्रतीते: कल्पनाऽयोगात्। न च फलवाक्यावगतात्यन्ताभेदस्यैवाभ्यासात् स एव साक्षात्क्रियत इति वाच्यम्; तत्त्वमस्यादिशास्त्रस्य अत्यन्तानपेक्षाप्रसङ्गात्। कर्मकाण्ड-व्यवहारस्य अत्यन्ताभेदेप्युपपत्ते:। फलवाक्यादेव मोक्षोपयोगिज्ञानस्य सिद्धत्वात्। अभ्यासेऽप्यहेतुभूतस्य मोक्षोपयोगित्वासंभवाच्च। तत्त्वम-सीत्यादिवाक्यविरोधेन फलवाक्यस्य स्वार्थपरत्वायोगाच्च।

साक्षात्कार का विषय अत्यन्ताभेद नहीं कहा जा सकता क्योंकि भेदनिवृत्ति से पूर्व अविद्यमान जो अत्यंताभेद उसका अपरोक्ष नहीं हो सकता। यदि भेदनिवृत्ति से पहले भी अत्यंताभेद विद्यमान मानो तो अद्वैतसिद्धांत के अनुयायी बन जाओगे।

भेदकाल में जो अभेद है उसे ही विषय करने वाले साक्षात्कार से भेदांश निवृत्त हो जाने पर अत्यन्त अभेद सिद्ध हो जाता है– यह कहना ठीक नहीं क्योंकि वह अभेद भेद से अविरुद्ध होने के कारण भेद का निवर्तक नहीं हो सकता। जातिज्ञान से व्यक्ति नहीं निवृत्त होते! श्रुतिप्रमाणके अनुरोध से वास्तविक भेदाभेदविषयक अभ्यास से जायमान साक्षात्कार भी भेदाभेदविषयक ही होगा अत: उसे अभेदमात्रगोचर समझा या कल्पित किया नहीं जा सकता।

फलवाक्य से ज्ञात अत्यन्त अभेद का अभ्यास करने से उसी का साक्षात्कार होता है यह कहना नहीं बनता क्योंकि तत्त्वमस्यादि वाक्यों का प्रयोजन नहीं रहेगा। कर्मकाण्ड-व्यवहार तो अत्यन्त अभेद में भी उपपन्न है

उक्तवादेऽभेदायोगः

किञ्चात्यन्ताभेदो नाम भेदांशविनाशः। न च तत् संभवति; जीवस्वरूपस्य विनाशप्रसङ्गात्। न हि धर्मिणि सति तत्स्वरूपं तत्समानसत्ताको वा भेदो विनश्यति। न च भेदांशविनाशेपि अभेदांशस्य सत्त्वाद् न काचित् क्षतिरिति वाच्यम्; विद्यमानस्यापि अभेदांशस्य असंसारिब्रह्मस्वरूपतया संसारिनाशे मोक्षार्थिप्रवृत्त्यनुपपत्तेः। अभेदांशो जीवः किमभिन्नो, भिन्नो, भिन्नाभिन्नो वा? आद्ये, न ब्रह्मणो भिन्नाभिन्नो जीवः, अभेदांशस्य ब्रह्मत्वात्। द्वितीयेऽत्यन्तं भिन्न एव स्यात्। तृतीये त्वनन्ताप्रामाणिकभेदाभेदप्रसङ्गः।

(अतः भेदाभेद मानना व्यर्थ होगा)। फलवाक्य ही मोक्षोपयोगिज्ञान सिद्ध कर देगा तो उपदेशवाक्य व्यर्थ होगा ही। जो अभ्यासमें भी हेतु नहीं बना वह मोक्षोपयोगी हो यह कैसे संभव है! तत्त्वमादिवाक्यका विरोध रहते फलवाक्य स्वार्थ में तात्पर्य ही खो बैठेगा तो मोक्ष में अत्यंत अभेद सिद्ध होने की आशा ही नहीं।

अत्यंत अभेद आप भेदाभेदवादियों के अनुसार होगा भेदांश का विनाश किंतु वह संभव नहीं क्योंकि तब जीवस्वरूप का विनाश होने लगेगा! (जीव के ही दो अंश हैं भेद व अभेद अतः भेदरूप अशंका नाश उसीका नाश होगा।) धर्मी रहते उसका स्वरूप या उससे तुल्यसत्ताक भेद नष्ट नहीं होता। भेदांश नष्ट होने पर भी अभेदांश है अतः समूचा जीव नष्ट नहीं हुआ इसी से संतोष क्यों नहीं किया जाये? इसलिये कि जो बचा रहने वाला अभेदांश है वह असंसारी ब्रह्म का स्वरूप है, संसारी तो पूरा ही नष्ट हो गया। अतः मुमुक्षु की मोक्षप्रयोजनक प्रवृत्ति असंभव होगी क्योंकि स्वनाश में कोई प्रवृत्त नहीं होता। किंच ब्रह्म का अभेदांश जो जीव है वह क्या ब्रह्म से अभिन्न है, या भिन्न है,या भिन्नाभिन्न है? यदि अभिन्न है तो जीव ब्रह्म से भिन्नाभिन्न नहीं, क्योंकि अभेदांश ब्रह्म ही है। यदि द्वितीय विकल्प है तब भी अत्यंत भिन्न ही मानना पड़ेगा तो भेदाभेदवाद को तिलांजलि होगी। तीसरे विकल्प में अनन्त अप्रामाणिक भेदाभेद मानने पड़ेंगे। (अभेद का जीव से भेदाभेद होगा तो पुनः जो अभेदांश आया उसमें फिर भेदाभेद कहना पड़ेगा इत्यादि ढंग से अनवस्था होगी।)

अभेदांशस्य स्वरूपत्वेऽपि न निस्तारः

नन्वभेदः स्वरूपमेव, भेदस्तु तत्रोपाधितो भवतीति निरंशस्य जीवस्य न कश्चिद्धर्म इति न भेदविनाशे स्वरूपनाशः, न वा भेदानन्त्यादिदोष इति? न। भेदधर्मिणो जीवस्याऽसंसारिब्रह्मभेदोऽस्ति न वा? न चेत्, क्वायं भेदाभेदः स्यात्? 'तत्त्वमसि' इति श्रुतिर्वा कथं प्रमाणं स्यात्? अस्ति चेत् ब्रह्मैव संसारि स्यात्। तदभेदाविरोधिभेदस्य कल्पिततया वास्तवसंसारित्वाव्यवस्थापकत्वात्। तत्र च भेदाभेदे वा कथं नोक्तानन्त्यम्? कथं वा ब्रह्मातिरिक्ते जीवभागस्य विनाशो नाभ्युपगन्तव्यः।

भेदाभेदनिरासोपसंहारः

ननु मुक्तावपि भिन्नाभिन्नमेव वस्त्विति चेत्? तर्हि भेदकोपाधेरपि सत्त्वात् संसारादविशेषः। न च भेदः स्वाभाविकः 'उपाधिना क्रियते

अभेद स्वरूप ही है (धर्म नहीं), भेद तो वहाँ उपाधि से होता है अतः जीव का भेदनामक कोई अंश नहीं कि भेदनाश से जीव का स्वरूपनाश हो जाये और न भेद उसका स्वाभाविक धर्म है कि धर्मिनाश के बिना नष्ट न हो। अत एव भेद की अनंतता आदि दोष भी प्राप्त नहीं होते—यह भेदाभेदवादी की शंका है। समाधान है: ऐसा कहना भी ठीक नहीं। भेदरूप औपाधिक धर्म वाला जीव असंसारी ब्रह्म से भिन्न है या नहीं? यदि नहीं है तो भेदाभेद कहाँ रहा? 'तत्त्वमसि' यह श्रुति भी कैसे प्रमाण होगी (क्योंकि भिन्न है ही नहीं तो कौन सी नयी, अज्ञात, बात वेद के लिये बताने को रहेगी)? यदि भिन्न है तो ब्रह्म ही संसरणशील हो जायेगा क्योंकि उससे अभेदका विरोध न करने वाला भेद कल्पित होने से वास्तविक संसारिता का व्यवस्थापक होगा नहीं। (भेद को कल्पित मानोगे और भेदवाला संसारी, अभेद वाला असंसारी यह सत्य व्यवस्था मानोगे तो कल्पित भेद से यह कैसे संभव होगा?) किं च उस भेद का भी जीव से भेदाभेद ही मानना पड़ेगा अतः पूर्वोक्त अनवस्था रहेगी ही। ब्रह्म से अतिरेक होने पर (औपाधिक) जीवभागका विनाश तो मानना ही पड़ेगा अतः मुमुक्षुप्रवृत्ति बनेगी नहीं।

(यद्यपि मोक्ष में जीवेश्वर का अभेद हम भेदाभेदवादी मानते हैं तथापि)

भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा' (   ) इत्यादिश्रुतिविरोधात्, जीवस्य ब्रह्मांशत्वविरोधाच्च। प्रत्युत इदानीं ब्रह्मैव भिन्नाभिन्नात्मकजीवैकांशः स्यात्!

एवं ज्ञानानन्दादेरपि ब्रह्मणोऽत्यन्ताभेदे अनेकशब्दविरोधः। तत्रापि भेदाभेदश्चेद् भिन्नांशस्य आनन्दाद्यस्वरूपत्वेन ब्रह्म अनानन्दाद्यात्मकमित्युपेक्ष्यं दृश्यमित्यादिदोषः स्यात्। निर्गुणश्रुतिविरुद्धं च। ततो मतिदौर्बल्यकृत एवायं पक्षः।

तस्माद् अद्वैतवाद एव सर्वदोषरहित इति स एव श्रेयोऽर्थिभिराश्रयणीय इति।

मोक्षदशामें भी वस्तुगत्या ब्रह्म भिन्नाभिन्न हो (तो भेदांशनाश न मानने से पूर्वदत्त दोष नहीं होंगे)? तब भेदक उपाधि भी बनी रहने से संसारदशा से कोई अंतर नहीं रहेगा! भेद स्वाभाविक (निरुपाधिक) हो नहीं सकता क्योंकि स्पष्ट वचन है 'यह अज आत्मरूप देव क्षेत्रों में उपाधि से विभिन्न कर दिया जाता है।' यदि जीव में ब्रह्म से स्वाभाविक भेद हो तो क्योंकि निरंश ब्रह्मका स्वाभाविक अंशांशिभाव हो नहीं सकता इसलिये ब्रह्माभिन्न जीव घटादिकी तरह ब्रह्मका अंश नहीं हो पायेगा। बल्कि जब जीव को भिन्नाभिन्न रूप मानोगे तो अभिन्नात्मक ब्रह्म ही जीव का अंश होने लगेगा!

इसी तरह ज्ञान आनन्द आदि भी ब्रह्म से अत्यन्त अभिन्न हों तो ज्ञानादि पद पर्याय ही हो जायेंगे, इनकी अबाधित विभिन्नार्थकताप्रसिद्धि विरुद्ध पड़ेगी। इनमें भी परस्पर भेदाभेद हो तो भिन्नांश अनानन्दादिरूप होगा जिससे ब्रह्म ही अनानन्दादि मानना पड़ेगा फलतः वह उपेक्षणीय होगा, दृश्य होगा, इत्यादि अनेक दोष प्राप्त होंगे। साथ ही ब्रह्म में आनंदादिका भेद मानने पर आनंदादि उसके गुण ही मान सकोगे, स्वरूप नहीं क्योंकि स्वरूप से भेद नहीं होता; गुण मानने पर निर्गुणताबोधक श्रुतिका विरोध हो जायेगा। इसलिये अखण्डवाक्यार्थ समझने के उपायों की गैर जानकारी से ही यह भेदाभेदवाद कुछ लोगों ने कल्पित किया है।

अतः केवलाद्वैतवाद ही सब दोषों से रहित होने के कारण कल्याण

शब्दापरोक्षवादः

इदं च ब्रह्म शब्दादेव साक्षात् क्रियते, ब्रह्मणि प्रमाणान्तराभावात्। शब्दजन्यज्ञानस्यापि अनुभवविषयतयाऽपरोक्षत्वात्। इन्द्रियजन्यज्ञानानामपि तथैवापरोक्षत्वात्। अर्थस्य चापरोक्ष्यम् अनावृतसंवित्तादात्म्यम्। घटादेरपि वृत्तिनिर्गमनदशायां तदस्त्येव। अन्यथा सुखादेरपरोक्षत्वानुपपत्तेः, तत्रेन्द्रियजन्यज्ञानादेरसंभवात् , साक्षिण्यध्यस्तत्वेन अनावृतसंविदभेदस्य सत्त्वात्। न चैवं धर्मादेरपरोक्षत्वापत्तिः; स्वरूपविशेषस्य परमत इव तत्रापि अपेक्षितत्वात्।

वेदान्तप्रतिपाद्यं तु शुद्धं ब्रह्म। तच्च सदा संविद्रूपं भवतीति तद्विषयं ज्ञानं शब्दजन्यमपि अपरोक्षम्। ततश्च वेदान्तजन्यतत्त्वसाक्षात्कारादेव कर्तृत्वाद्यनर्थहेत्वविद्यानिवृत्तिः,भेदभ्रमनिवृत्त्या ब्रह्मात्माभेदसिद्धिश्चेति।

चाहने वालों को उसी का सहारा लेना चाहिये।

निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार शब्दप्रमाण से ही संभव है क्योंकि तद्विषयक अन्य कोई निरपेक्ष प्रमाण है नहीं। क्योंकि अपरोक्षार्थविषयता ही ज्ञान की अपरोक्षता होती है इसलिये अनुभवरूप अपरोक्षार्थक होने से शब्दजन्य ज्ञान भी अपरोक्ष होता है। (दीपन में अनुमान भी अपरोक्ष प्रमिति करा सकता है यह बताया है जिसे अप्पय दीक्षित, गौडब्रह्मानन्द स्वामी आदि ने भी सूचित किया है।) विषय की अपरोक्षता होती है– निरावरण ज्ञान से तादात्म्य। वृत्ति बाहर जाकर घटादि का अपरोक्ष होता है तब घटादि भी साक्षी से अभिन्न हो जाते हैं यह बता चुके हैं। यदि इससे अन्य कुछ विषय की अपरोक्षता मानोगे तो सुख, अज्ञान, अहंकार, शुक्तिरजत, स्वप्न आदि की अपरोक्षता संगत नहीं होगी। वहाँ इंद्रियजन्य ज्ञान आदि संभव नहीं जबकि साक्षी में अध्यस्त होने से अनावृत ज्ञान से अभेद अवश्य है। एतावता धर्मादिके भी आपरोक्ष्य की आपत्ति नहीं क्योंकि जैसे तार्किकादि स्वरूपविशेष (उद्भूतस्वभावता, योग्यता) को आपरोक्ष्य के लिये जरूरी मानते हैं, ऐसे हम भी मान लेंगे। (वस्तुतः धर्म ईश्वरोपाधि में जायमान 'अमुक जीव ने अमुक शुभाशुभ कर्म किया' इत्याकारक संस्कार होने से ईश्वरातिरिक्त को अपरोक्ष नहीं

अविद्यानिवृत्तिर्ब्रह्मातिरिक्ता

सा चाविद्यानिवृत्तिः ब्रह्मणोऽतिरिच्यते। प्रपञ्चात्यन्ताभावस्य अखण्डार्थशास्त्रप्रतिपाद्यस्य ब्रह्मस्वरूपत्वेऽपि तन्निवृत्तेः प्रतियोग्यसमानकालीनत्वेन ब्रह्मस्वरूपत्वायोगाच्च। तस्यास्तत्त्वावेदकशास्त्राऽप्रतिपाद्यतया सत्यत्वाभावेऽपि नानुपपत्तिः। न चासौ पुरुषार्थः, प्रतिबन्धकाभावतया तत्कामनायामपि पूर्णानन्दावाप्तेरेव पुरुषार्थत्वादिति केचित्।

होता और अन्य की उपाधि में होने वाले संस्कारादि अन्य को लोक में भी अपरोक्ष नहीं होते।)

वेदान्तों का तात्पर्यविषय तो शुद्ध ब्रह्म है जो हमेशा ज्ञानात्मक होने से उसके बारे में शब्द से हुआ ज्ञान भी अपरोक्ष होता है।(तत्त्वमादिवाक्यजन्य ज्ञान, परोक्ष नहीं है, अपरोक्षार्थविषयक होने से, चक्षुरादिजन्य ज्ञान की तरह – यह प्रयोग है। विपक्षबाधक तर्क है कि यदि अपरोक्षब्रह्मविषयक शाब्द ज्ञान परोक्ष हो तो वेदांत अप्रमाण हो जायेंगे। ज्ञान में पारोक्ष्य यही है कि उसका विषय परोक्ष हो, और ब्रह्म परोक्ष है नहीं। यदि उसे परोक्ष मानो तो 'साक्षादपरोक्षात्' श्रुतिका विरोध होगा।) इसलिये वेदांतों से होने वाले अप्रतिबद्ध साक्षात्कार से ही कर्तृता आदि अनर्थ की कारणभूत अविद्या निवृत्त होती है और भेद का भ्रम मिटने से ब्रह्म-आत्मा का अभेद अनावृत रह जाता है।

कुछ वेदान्ताचार्य समझाते हैं कि वेदांतजन्य अविद्यानिवृत्ति ब्रह्म से अलग है। अखण्डार्थक शास्त्र का प्रतिपाद्य होने से प्रपंच का अत्यन्ताभाव भले ही ब्रह्मस्वरूप हो पर अज्ञानकी निवृत्ति तो प्रतियोगिभूत अज्ञान से असमानकालिक है अतः ब्रह्मस्वरूप हो भी नहीं सकती। अज्ञाननिवृत्ति तत्त्वावेदक शास्त्र का प्रतिपाद्य अर्थ नहीं अतः सत्य नहीं इससे कोई असंगति नहीं (क्योंकि शास्त्रदर्पणकार ने बताया है कि 'यक्षानुरूपो बलिः' न्याय से असत्य अज्ञान की निवृत्ति असत्य होना उपपन्न ही है)। स्वयं अविद्यानिवृत्ति पुरुषार्थ है नहीं बल्कि प्रतिबंधकाभावरूप से ही कमनीय है, पुरुषार्थ तो पूर्ण आनंद का अनावरण ही है।

अविद्यानिवृत्तिरात्मैवेति मुख्यमतम्

अन्ये तु कल्पिताभावस्य अत्यन्ताभाववद् अन्यत्वायोगाद् निवृत्तिरप्यात्मैव, प्रतियोगिसमानसत्ताकनिवृत्तेरेव प्रतियोग्यसमानकालीनत्वात्। कल्पितस्य स्वात्यन्ताभाववृत्तित्ववत् स्व [नि] वृत्तिनिष्ठत्वस्याप्यविरोधात्। न चैवं ज्ञानवैफल्यापत्तिः; ज्ञानाभावकाले कल्पिताविद्यादेः सत्त्वेन प्राक्सिद्धनिवृत्तेरपि प्रवृत्त्यङ्गसाध्यत्वसम्भवात्। तेन विना तस्याभावमात्रावस्थानाभावात्। अत एव तस्या उद्देश्यत्वम्। नित्यसिद्धाविद्यानिवृत्तिरपि अविद्यारूपाभावप्रमादशायां लोक इव तदुपपत्तेः।

प्रायः सभी संमाननीय वेदान्ताचार्यों का मानना है कि जैसे अत्यन्ताभाव वैसे कल्पिताभाव भी अधिष्ठान से अन्य नहीं होता अतः अविद्यानिवृत्ति भी आत्मा ही है। (अभाव का अधिकरण से भेद होने में प्रयोजक होता है प्रतियोगी का अधिकरणभिन्नसत्ताक होना, उसके बिना जैसे अत्यंताभाव अधिष्ठान से भिन्न नहीं वैसे अभावरूप ध्वंस भी अधिष्ठान से भिन्न नहीं। 'अधिष्ठानातिरिक्तो न नाशः कल्पितवस्तुनः' ऐसा सूतसंहिता का वचन भी है।) जो निवृत्ति प्रतियोगी से समानसत्ताक हो वही प्रतियोगी से असमानकालिक होती हैं। (अतः अविद्या से अधिक सत्ताक आत्मा अविद्याकालिक हो इसमें कोई विरोध नहीं।) कल्पित जैसे अपने अत्यन्ताभाव में रह जाता है वैसे अपने ध्वंस में रहे तो कोई हर्ज नहीं। यदि अज्ञानध्वंस आत्मा है तो आत्मा अनादिसिद्ध होने से ज्ञानका फल क्या? ज्ञान न रहने पर कल्पित अविद्यादि विद्यमान हैं अतः निवृत्ति पूर्वसिद्ध होने पर भी प्रवृत्ति के लिये अंगतया अपेक्षित साध्य हो जाती है। (जिसके होने पर जिसका सत्त्व हो, जिसके बिना उसका असत्त्व हो वह उसका साध्य होता है यह ज्ञान प्रवृत्ति का अंग है जो यहाँ भी सुलभ है। अविद्यानिवृत्तिका असत्त्व अविद्यारूप है जो तत्त्वज्ञान के बिना विद्यमान है तथा ज्ञान होने पर अविद्यानिवृत्ति विद्यमान है ही।) तत्त्वज्ञान के बिना आत्मा अविद्या के अभावरूप से ही नहीं रहता (अविद्यावान् रूप से भी रहता है) अतः ज्ञान सफल है। इसलिये अविद्यानिवृत्ति उद्देश्य भी है:

प्रकरणार्थोपसंहारः

तस्मात् सिद्धम् – जीवस्य अद्वैतब्रह्मसाक्षात्काराद् भेदभ्रमनिवृत्त्या सच्चिदानन्दावाप्तिः – इति

ग्रन्थान्तमङ्गलम्

जिज्ञासितव्यमनवद्यपुमर्थचित्तैः प्रज्ञासुखं स्वमहिमाऽनवशेषयोनिः।
शास्त्रैकहृद्गतमशेषविधेयशेषि श्रेयोऽस्तु नो नरमृगाकृति मङ्गलाब्धिः॥

अविद्यानिवृत्ति चाहे नित्यसिद्ध है फिर भी उसका प्रागभाव अविद्यारूप है जिसकी प्रमा हो रही है अतः जैसे लोक में जिसके प्रागभाव का ज्ञान हो वह उद्देश्य हो जाता है वैसे अविद्यानिवृत्ति भी हो जाती है।

इस तरह यह श्रौत निश्चय सभी तर्कों से अविरुद्ध सिद्ध हुआ कि अद्वैत ब्रह्म के साक्षात्कार से भेद का भ्रम मिटने से जीव को सच्चिदानंद मिलता है।

निर्दुष्ट पुरुषार्थ मोक्ष ही प्राप्यरूप से जिनके चित्त में है उनके द्वारा जिज्ञासा के योग्य श्रीनृसिंह स्वरूपतः ज्ञानानन्दात्मक हैं और अपनी महिमा से स्वरूपतः अप्रच्युत रहते हुये ही निखिल प्रपंच के कारण हैं। वे सिर्फ शास्त्र के ही तात्पर्यरूप से समझे जा सकते हैं न कि स्वतंत्र अनुमानादि से। जितने यज्ञादि विधेय हैं उनके वे शेषी ही हैं, किसी के भी शेष नहीं; सब उनके लिये है, वे किसी के लिये नहीं। नर अर्थात् जीव और मृग अर्थात् अन्वेष्टव्य परमात्मा–इन आकृतियों में वे ही मौजूद हैं। मंगलों की पराकाष्ठा वे श्रीनृसिंह हमारे परमानंद होवें (उनसे अन्य कुछ हमारे लिये आनंद न रहे)।

असमर्थ मन वाले नासमझ के भी माता–पिता अपने उस बालक से संतुष्ट रहते हैं! हे नरसिंह! मेरी यह वाणी आपकी प्रसन्नता के लिये पर्याप्त होवे।

कहाँ तो मैं जो सिर्फ इस लायक हूँ कि महापुरुष मुझे अपने नियन्त्रण में ही रखें और कहाँ श्रीगुरु का मुझ पर यह वात्सल्य कि मैंने विभिन्न उद्भावनाओं से अद्वैत का उपपादन कर लिया! वस्तुतः यह मेरी सामर्थ्य नहीं, गुरु की ही है क्योंकि कलश चाहे चाण्डाल का हो, चन्द्रमा तो उसमें भी

कृतिसमर्पणम्

तुष्यन्त्यव्यक्तमनसो मुग्धस्य पितरौ ननु।
मम त्वत्प्रीतये भूयाद् वागियं नरकेसरिन्!॥

गुरुकृपाप्रदर्शनम्

क्वाहं महीयसाशास्यं वात्सल्यं क्व गुरोरिदम्!
अपि चण्डालकलशे काशते खलु चन्द्रमाः॥

॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीजगन्नाथाश्रमपूज्यपादशिष्य-श्रीनृसिंहाश्रममुनिविरचिते तत्त्वविवेके द्वितीयः परिच्छेदः॥

समाप्तश्च ग्रन्थः

प्रकाशता ही है। (मुझमें भी गुरु का प्रतिबिंब पड़ा जिसकी यह ग्रन्थरूप प्रभा है।)

नारसिंहमहेशस्य कृपा तत्त्वसुधामिषात्।
अन्तराविश्य संसारगरलं हन्तु मेऽचिरात्॥
विश्वनाथस्य भगवत्पादस्य पदगोचरा।
पावनीयं विजयते स्मृतिः संशयनाशिनी॥

द्वितीय परिच्छेद एवं ग्रन्थ पूरा हुआ

